प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय रांगेय राघव मार्ग आगरा-२
विक्री-केन्द्र हॉस्पिटल रोड आगरा-३

अष्टम संस्करण . १९८२
मूल्य १०.००

कम्पोजिंग शाक्यवार क० हाउस आगरा-२
मुद्रण कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

- प्रस्तुत पुस्तक 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' की रचना प्रश्नोत्तर शैली मे हुई है, ताकि काव्यशास्त्र जैसा जटिल विषय छात्रो के लिए उपयोगी हो सके। इसमे जिन प्रश्नों का समावेश हुआ है, वे सभी प्रश्न विभिन्न विश्व-विद्यालयो की हिन्दी स्नातकोत्तर परीक्षाओ मे पूछे गए हैं। विद्यार्थियो के दृष्टिकोण से लिखने के कारण ही इस पुस्तक की रचना मे यह प्रयास किया गया है कि भाषा सरल और शैली सुबोध रहे। इससे यदि छात्र-समुदाय की आवश्यकताओ की सम्पूर्ति हो सकी और उनकी समस्याओ का किंचित् समाधान प्रस्तुत हो सका, तो मैं अपना यह प्रयास सार्थक समझूँगा।
- प्रस्तुत पुस्तक किसी पूर्णता का दावा नही करती। कारण स्पष्ट है। ज्ञान का सागर अगाध है और मेरा ज्ञान उसकी एक बूँद की भी समता नही कर सकता। अत त्रुटियो का रहना सम्भव है। श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार "भूल इस भव में मनुष्य से ही होती है और अत मे सुधारता है वही।" इस सम्बन्ध मे अधिकारी विद्वान् जो भी सुझाव देंगे, मैं उनका सहृय स्वागत करूँगा और अगले सस्करण मे उनका समावेश करने की यथासम्भव चेष्टा करूँगा। पुस्तक-प्रणयन मे अनेक अग्रेजी विद्वानो की कृतियों तथा उनकी हिन्दी मे अनूदित पुस्तको से पूर्ण सहायता ली गयी है, साथ ही, अनेक हिन्दी पुस्तको से भी सहायता ली गयी है। लेखक उन सबके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता है।
- आदरणीय श्री भोलानाथजी और विनोद पुस्तक मन्दिर के प्रबन्धक श्री सतीश कुमार अग्रवाल के प्रयत्नो के फलस्वरूप पुस्तक इस रूप मे हिन्दी-साहित्य ससार के सामने प्रस्तुत है। लेखक इनके प्रति भी अपना आभार अभिव्यक्त करता है।
- आशा ही नही, प्रत्युत विश्वास है कि 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' पुस्तक छात्र छात्राओ को अधिकाधिक रुचिकर और लाभप्रद प्रतीत होगी और छात्र समुदाय मेरी अन्य पुस्तको के समान इसे भी अपनाएगा।

सी–३, ग्रीन पार्क एक्सटेंशन,
नई दिल्ली–१६
स्वतन्त्रता दिवस, १९६६

विनीत
कृष्णदेव शर्मा

काव्य और सत्य—प्लेटो ने मूल सत्य का कर्ता ईश्वर को ही माना है। उसके सत्य की अनुकृति यह संसार है और इस संसार का अनुकरण ही काव्य है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य से दूर भी है और अनुकरण के सिद्धान्तानुसार समीप भी है।

काव्य को सत्य से दूर मानने के प्लेटो के कुछ कारण भी हैं। उनके समय की काव्य-कृतियों में जीवन का अनुदात्त और अवांछनीय तत्त्व ही प्रधान था। काव्य मात्र मनोरंजन की वस्तु होकर रह गए थे। उनमें रोना-पीटना शोक आदि भावनाओं का ही प्राचुर्य था। इसीलिए उन्होंने कहा है कि काव्य का सत्य वास्तविक नहीं होता।

प्लेटो अनुकरण के सिद्धान्त को अज्ञानताजन्य मानते हैं, इसीलिए कविता भी उन्हें अज्ञान से उत्पन्न तथा सत्य से दूर ज्ञात होती है। अपने मन्तव्य को वह पलंग के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—जैसे पलंग का मूलकर्ता—ईश्वर, बढ़ई एवं चित्रकार इस अनुकरण का अनुकर्ता होता है, वह पलंग के वास्तविक रूप से परिचित न होकर भी उसका अनुकरण करता है, उसी प्रकार नामदी लेखक न तो अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही अंकित कर पाता है।

प्लेटो का मत था कि कवि यश और कीर्ति के लिए पाठकों की वासनाओं को उत्तेजित कर आवेगपूर्ण व उन्मादग्रस्त (Passionate fitful) प्रकृति का चयन करके उसका चित्रण करता है और लोकप्रिय बनता है। कवि, प्लेटो के अनुसार, आत्मा के सत्य का उद्भावन करने के लिए नहीं लिखता, अपितु अपने को प्रसिद्ध बनाने के लिए लिखता है और इस प्रकार उत्तेजक साहित्य का सर्जन करता है। त्रासदी के सम्बन्ध में प्लेटो ने लिखा है, "ट्रेजेडी का कवि हमारे विवेक को नष्ट कर हमारी वासनाओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है और उन्हें पुष्ट करता है।" इसलिए काव्य का सत्य वास्तविक सत्य से दूर करता है।

अतः प्लेटो के अनुसार—(१) मूल सत्य एक है, अखण्ड है एवं ईश्वर उसका कर्त्ता।

(२) यह वस्तु-जगत उस परम सत्य का अंश नहीं, अनुकरण है।

(३) रचनाकार इस अनुकरण का भी अनुकर्त्ता है, अतः सत्य से तिगुना दूर है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

[पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-रूपों का समीक्षात्मक अध्ययन]

अष्ठम संशोधित एवं परिवर्द्धित सस्करण

डॉ० कृष्णदेव शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी.
रामलाल आनन्द कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–२१

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

केवल बाह्य रूप का ज्ञाता होता है, विषयो के सत्यरूप अथवा स्थिति का नही। इसलिए वह काव्य को सत्य भासित होने वाले विषयो का अनुकरण तथा कवि-क्रीड़ा मात्र मानता था—

"Imitation is only a kind of play of sport

विवेचन—स्पष्टतया प्लेटो की काव्य-सजना सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल उनकी यह मान्यता है कि यह भौतिक सृष्टि परम सत्य का और काव्य इस भौतिक सृष्टि का अनुकरण है। दोनो ही सत्य से दूर हैं और काव्य अपेक्षाकृत और भी दूर है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि इतिवृत्तात्मक और वस्तुपरक है अन्यथा वह यह नही कहते कि विषय के रूपाकार का बाह्य ही अनुकरण के लिए पर्याप्त है। जहा पर अनुकरण का विषय घटनाएँ आदि हैं, वहाँ तो यह बात जँचती भी है, पर जहाँ मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूति, मानव-संवेदनाओ आदि का चित्रण होता है, वहाँ यह कथन सही दिखाई नही देता। डॉ० निर्मला जैन के अनुसार, "पात्रो के व्यवहार का, कार्य-व्यापार का, अनुभूतियो का, अन्त प्रकृति का—एक शब्द मे समग्र चारित्र्य का अकन करने के लिए कवि केवल कल्पना और अनुभूति के सहारे उनसे तादात्म्य ही नही करता उन्ही क्षणो मे, परिस्थितियो मे स्वय जीता है। यदि वह ऐसा नही करता, तो वह वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने मे भी समर्थ नही हो सकता।"

यह भी कहा जा सकता है कि प्लेटो काव्य-सजन के लिये विषय से तादात्म्य को अनिवार्य न मानते हो, पर ऐसा भी नही है 'इओन' मे उन्होंने लिखा है—"काव्य विषय से तादात्म्य केवल कवि के लिए ही नही, वाचक, चारण वृन्द के लिए भी अनिवार्य है अन्यथा वह श्रोतावृन्द पर अभीष्ट प्रभाव डालने मे सफल नही हो सकता।"

इस प्रकार प्लेटो सत् काव्य को नीतिशास्त्रीय शब्दावली के आधार पर तौलते हैं। उनके मतानुसार सत् काव्य वह है, 'जो मानव-स्वभाव का सच्चा चित्र इस प्रकार प्रस्तुत कर कि उससे मानव स्वभाव मे जो कुछ भी महान है, उनका सवर्द्धन हो।" वह कला मे गहनता और पूर्णता की आशा करते हैं—

"The right function of art is to put before the soul the images of what is intrinsically great and beautiful"

इस धारणा का कारण—अब प्रश्न यह उठ सकता है कि प्लेटो की काव्य-विषयक इस धारणा का कारण क्या था। इसका कारण यह था कि ऐसे बहुत

का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है, उनका वर्णन करना नहीं है, वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है (कवि और इतिहासकार में) वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की है।"

अरस्तू के अनुसार सत्य के दो रूप होते हैं—(१) व्यापक और सार्वभौम सत्य तथा (२) सीमित एवं विशेष सत्य। जो घटित हो चुका है, वह देश-काल की सीमा में आबद्ध होकर सीमित और विशेष सत्य बन गया है और जो सम्भाव्य है वह देश-काल की सीमा से रहित होकर सार्वभौम और सार्वकालिक रहता है। इसके अन्तर्गत मानव-जीवन के सहज धर्म तथा प्रकृतिजन्य क्रिया-कलाप आते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सार्वभौम सत्य सीमित सत्य की अपेक्षा अधिक महान् होता है, इसलिए काव्य-सत्य भी वस्तु-सत्य की अपेक्षा अधिक महान् होता है।

किन्तु काव्य-सत्य अमूर्त विचार या धारणा-रूप नहीं होता। उसका रूप मूर्त और व्यक्त ही रहता है। कवि विशिष्ट नामधारी व्यक्तियों को ही काव्य का आधार बनाता है, पर उन्हें सीमित स्वभाव-धर्मों से युक्त न कर उन व्यवहारों और धर्मों को अभिव्यक्ति देता है जो सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक होते हैं। इस प्रकार काव्य का यह सार्वभौम सत्य मूलतः मानव-सत्य होता है।

जो लोग कवि पर इस दृष्टि से आरोप लगाते हैं कि 'उसके वर्णन यथातथ्य नहीं हैं, सामान्य अनुभव से अलग हैं' उनके लिए अरस्तू का कथन है कि 'वस्तु जैसी होनी चाहिए वैसी तो है'—

"Not real, but a higher reality what ought to be, not what is"

अर्थात् काव्य में यथातथ्य की अपेक्षा कहीं ऊँचा सत्य होता है। वह वस्तुगत यथार्थ की अपेक्षा भावनात्मक सत्य को काव्यसत्य के रूप में देखते हैं और उसी का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार, परम्परागत मानव-विश्वास तथा मानव-धारणाएँ भी काव्यसत्य के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। ये

जो आह्लादित करता है—भले ही वह अद्‌भुत या असत्य हो, अरस्तू की दृष्टि में वह ग्राह्य है।

असम्भव सत्य की स्वीकृति की सीमाएँ—यद्यपि तर्क-विरुद्ध, असत्य और असंगत कल्पनाओं को भी परम्परा, कला और भव्यता के आधार पर वे स्वीकार करने के पक्ष में हैं, पर इसके साथ ही वह कुछ उपबन्धों को भी स्वीकार करते हैं कला में वह भावगत असत्य को किसी प्रकार भी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। भावगत असत्य से उनका तात्पर्य उस आचरण से है जिसके पीछे कोई उद्देश्य निहित नहीं। मानव-प्रवृत्तियों के विरुद्ध सत्य को भी वह अपनाने के विरुद्ध है। असम्भव या असंगत का अकारण प्रयोग अरस्तू को कभी ग्राह्य नहीं था। इस सम्बन्ध में वह स्पष्ट लिखते हैं—

"जो कुछ विवेकसंगत न हो, उसे यथाशक्ति बचाना चाहिए—या कम से कम उसे नाटक के काय से बाहर रखना ही चाहिए। पहले तो ऐसे कथानक का निर्माण ही नहीं करना चाहिए, पर जब एक बार असंगत (असम्भाव्य) का अन्तर्भाव कर लिया गया और उसे ऐसा रूप दे दिया गया कि सम्भाव्य प्रतीत हो, तो बेतुका होने पर भी, वह हमारे लिए स्वीकार्य बन जाना चाहिए। अतः कवि को असम्भाव्य सम्भावनाओं की अपेक्षा सम्भाव्य असम्भावनाओं को प्राथमिकता देनी चाहिए।"

इसका विश्लेषण अरस्तू त्रासदी के संदर्भ में करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो विवेकसंगत नहीं है, वह मानव-मन को भी ग्राह्य नहीं होगा। अरस्तू आकस्मिक घटनाओं के प्रयोग के भी विरुद्ध हैं, क्योंकि, वे आकस्मिक घटनाएँ प्रकृति की कार्यप्रणाली के प्रतिकूल होती हैं।

अरस्तू अतियथार्थवाद के भी विरुद्ध थे। आज जिस यथार्थ चित्रण की बात हो रही है और मानव-जीवन के यथातथ्य निरूपण की बात चल रही है, वह इसके भी विरुद्ध थे। कारण नग्न, सत्य की अपेक्षा वह कवि-कल्पना-प्रसूत परिष्कृत सत्य के समर्थक थे।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से डा० नगेन्द्र अरस्तू के 'काव्यसत्य' के विषय में निम्न निष्कर्ष देते हैं—

१ काव्यसत्य वस्तुसत्य या तथ्य का पर्याय नहीं है।

२ जो हो चुका है, हो रहा है या होता है वही सत्य नहीं है, वरन् जो हो सकता है जो जीव विधान के अनुसार सम्भाव्य है, वह भी सत्य है।

नहीं है क्योंकि यही पहला सिद्धान्त है जिसने काव्य में प्रकृति और कला के तत्वों का पारस्परिक अनुपात निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।"

प्राचीन यूनान में कला की मीमांसा नैतिक दृष्टि से होती थी। इसलिए उनका मत था कि कला सच्चे रूप में अनुकरणात्मक होती है। सबसे पहले सुकरात ने इसका आंशिक विवेचन करते हुए कहा कि मन की आन्तरिक भावनाओं का अनुकरण चेहरे से इंगित द्वारा हो सकता है। इसी वाक्य को काव्य के 'अनुकरण सिद्धान्त' पर लागू किया गया और अरस्तू ने उसमें नवरंग भर दिए।

अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण के सिद्धान्त का विवेचन किया और वह इसी आधार पर काव्य को त्याज्य समझते थे कि ईश्वर ही सत्य है, इसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है इस प्रकार काव्य अनुकरण का अनुकरण है। इस प्रकार इन्होंने अनुकरण का प्रयोग स्थूल अर्थ में किया है और अनुकरण के आधार पर ही काव्य के तीन भेद किए हैं—(१) नाट्यात्मक काव्य, (२) असत्य काव्य और (३) सत्यकाव्य। नाट्यात्मक काव्य में पात्रों की भाषा का अनुकरण होता है, असत्य काव्य में कवि आत्मस्थित होकर असत्य का अनुकरण करता है और सत्य काव्य वह होता है जिसमें कवि 'शिव' का अनुकरण करता है।

अरस्तू ने भी अनुकरण के सिद्धान्त को इसी रूप में लिया है और अपनी कल्पना से उसमें नया रंग भर दिया है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि अरस्तू ने छाया ग्रहण की है, अनुकरण शब्द का प्रयोग प्लेटो आदि की भाँति स्थूल प्रतिकृति के अर्थ में नहीं लिया।

अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द का प्रयोग—अरस्तू के विभिन्न टीकाकार उसके द्वारा प्रयुक्त 'अनुकरण' शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं। प्रो० बुचर के अनुसार अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त अनुकरण शब्द का अर्थ है—सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन सांकेतिक उल्लेखन नहीं। कलाकृति मूलवस्तु का पुनरुत्पादन जैसा वह होता है वैसा नहीं, वरन् जैसा वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है, वैसा करती है। कला का संवेदन तत्वग्राहिणी बुद्धि के प्रति नहीं वरन् भावुकता तथा मन की मूर्तिविधायनी शक्ति के प्रति होता है।

प्रो० गिल्बर्टमरे ने यूनानी शब्द 'पाएतेस' (कर्त्ता=रचयिता) को आधार मान कर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है, "यदि यह देखकर आश्चर्य

कुछ अधिक नहीं दे सकती थी, जो प्रकृति देती है। पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं, क्योंकि वह हमें वह प्रदान करती है, जो प्रकृति नहीं दे सकती।"

वस्तुत कलाकार अपनी संवेदना और अनुभूति से अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करता है और उसे आदर्श रूप देता है। अत अनुकरण को मात्र नकल नहीं कहा जा सकता।

अनुकरण के आधार पर ही अरस्तू त्रासदी में छह अंग मानते हैं—कथानक, चरित्र, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें से दो अनुकरण के माध्यम हैं, एक अनुकरण की विधि तथा शेष तीन अनुकरण के विषय।

यहीं पर इतिहासकार और कवि का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। इतिहासकार तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और कवि उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसलिए काव्य का रूप अपेक्षाकृत अधिक भव्य है।

अनुकार्य के सम्बन्ध में अरस्तू का मत है कि कवि का अनुकार्य इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से एक होगा—जैसी वे थी या है, जैसी वे कही या समझी जाती हैं, अथवा जैसी वे होनी चाहिए। स्पष्ट रूप से, अरस्तू काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य और आदर्श रूप को मानते हैं। इस तरह अरस्तू के अनुसार काव्य में निश्चित तौर पर कवि की भावना और कल्पना का योग रहता है।

अनुकरण की प्रक्रिया—इसके सम्बन्ध में अरस्तू ने अधिक नहीं लिखा है, फिर भी जो कुछ लिखा है, इससे इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। उनका स्पष्ट कथन है कि कवि वस्तुओं का उनके यथास्थित रूप में वर्णन नहीं करता, वरन् उनके युक्तियुक्त रूप में वर्णन करता है। कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह मूल वस्तु में स्थित प्राकृतिक उपयुक्तता तथा सत्य को ही प्रेषित करने का प्रयत्न न करे, अपने कला-माध्यम के अनुरूप आवश्यक तथा सम्भावित का भी प्रेषण करे। इसलिए उन्होंने लिखा है—"A likely impossibility is always perferable to an unconvincing possibility"

उन सबसे अनेक प्रभावों को ग्रहण कर अपनी चेतना का निर्माण करता है, पर इस सिद्धान्त मे इसे कोई महत्त्व नही दिया गया है।

समग्रत कहा जा सकता है कि अरस्तू ने अनुकरण को प्लेटो की अपेक्षा भले ही नवीन अर्थो मे प्रयोग किया हो और उसमे 'शिव' की अपेक्षा सौन्दर्य की ओर बल दिया हो, उसे दार्शनिक या नीतिज्ञो के चगुल से भी पृथक किया हो, पर वह उसके आन्तरिक पक्ष की सतह तक नही पहुँच पाए। भारतीय आचार्यों ने भी 'अवस्थानुकृतिनाट्यम्' लिखकर अनुकरण पर जोर दिया है, पर अरस्तू जहाँ प्रकृति को अनुकरण काव्य मानकर चले हैं, वह भारतीय आचार्य काव्य का आत्मा या उन्मेष मानते हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार, "अपने सम्पूर्ण विवेचन मे अरस्तू का दृष्टिकोण इसी कारण अभावात्मक रहा है और त्रास व करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है।"

और यह उसकी सीमा के कारण है। कवि के व्यक्तित्व का, अरस्तू के अनुकरण के सिद्धान्त के अनुसार, काव्य मे अभाव नही है, पर उसकी परिधि बडी सकुचित है। उसमे कवि की निर्माण-क्षमता पर तो बल दिया गया है, पर जीवन के विभिन्न अनुभवो से निर्मित कवि की अन्तश्चेतना को पूर्ण महत्त्व नही दिया गया। उन्होंने गीत को भी काव्य का अलकार-मात्र माना है। उन्होंने सभी विषयो को अनुकार्य माना है। बाह्य वस्तुओ का तो अनुकरण हो सकता है, पर भारतीय अनुभूतियो के अभिव्यजन मे अनुकरण शब्द कैसे प्रयुक्त हो सकता है? अनुकरण का इतना तो विस्तार नही हो सकता—बस यही उसके सिद्धान्त की सीमा है।

प्रश्न ४—अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का निर्देश कीजिए और उसकी भारतीय रस की आनन्दवादी दृष्टि से तुलना कीजिए।

अथवा

अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त करुण रस की समस्या का समाधान करने मे कहाँ तक सफल हो सका है? सिद्ध कीजिए।

अरस्तू ने विरेचन के सिद्धान्त का त्रासदी के सदर्भ मे विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने न तो विरेचन की कोई परिभाषा ही दी है और न ही कही उसकी व्याख्या की है। विरेचन सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रन्थो मे है—'राजनीति' मे और 'पोइटिक्स' मे। विरेचन सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू ने

से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी सवेदन शक्ति के अनुसार प्राय सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि (विरेचन) का अनुभव करते हैं। उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार के विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।"

अरस्तू विरेचन से आशय शुद्धि से लेते हैं। वह यद्यपि नैतिकता का समर्थन करते हैं, पर साथ ही, आवेगो को अभिव्यक्त करने वाले रागो का आनन्द लेने की बात भी कहते हैं।

विरेचन का अर्थ—विरेचन सिद्धान्त मूलत मानवीय भावनाओ से सम्बद्ध है। इसकी व्याख्या प्रत्येक विद्वान ने अपने-अपने अनुसार की है। अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द कैथार्सिस(katharsis) है। हिन्दी मे इसका अनुवाद रेचन विरेचन अथवा परिष्करण किया गया है। मूलत यह शब्द चिकित्साशास्त्र का है, जिसका अर्थ है, रेचक औषध द्वारा अशुद्ध तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना। अरस्तू स्वय भी वैद्य थे। अत उन्होंने इसका प्रयोग काव्यशास्त्र मे लक्ष्यार्थ मे किया। इसे हम दमित भावनाओ से उत्पन्न (मानसिक) रोगो की औषध के रूप मे कह सकते हैं। प्राय सभी भाव, जो मूल मनोवृत्तियो पर आश्रित होते हैं, मानव के मन मे सुप्तावस्था मे रहते हैं और अवचेतन मन मे स्थित रहते हैं। जीवन में यदि उनको परितोष न मिले तो उनमे अनेक रोग—कुण्ठा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। विरेचन मन को शुद्ध रखने के लिए, उनको परिष्कृत कर शुद्ध करने का माध्यम देता है,

अत लक्षण के आधार पर परवर्ती व्याख्याकारो ने विरेचन के तीन अर्थ किए हैं—(१) धर्मपरक, (२) नीतिपरक, और (३) कलापरक।

(१) धर्मपरक अर्थ—यूनान मे भी नाटको का आरम्भ धार्मिक उत्सवो के रूप मे ही हुआ। ये उत्सव मानव-शुद्धि के लिए होते थे। प्रो० गिलबर्ट मरे का कथन है कि यूनान मे दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप मे एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था। डा० नगेन्द्र के अनुसार, "यूनान की धार्मिक संस्थाओ म बाह्य विकारो के द्वारा आन्तरिक विकारो की शान्ति और उनके शमन का यह उपाय अरस्तू का ज्ञात था और सम्भव है, यहाँ से उन्हें 'विरेचन-सिद्धान्त' की प्रेरणा मिली हो।' अत कहा जा

हैं। इनसे प्रेक्षक हर प्रकार की मानसिक शान्ति का अनुभव करता है और उसकी उत्तेजना समाप्त हो जाती है और फिर उसे आनन्द की प्राप्ति होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि चित्त की विशदता और आनन्द में अभेदता है अथवा दोनों एक ही हैं। इसका दो प्रकार से उत्तर दिया गया है, एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक। भावात्मक के अनुसार मन की शान्ति ही आनन्द है। जब मानसिक शान्ति का अनुभव होने लगता है तो चित्त के समस्त उद्वेग शान्त हो जाते हैं और तब अपार आनन्द की प्राप्ति होती है और अभावात्मक के अनुसार दुखों का अभाव ही मन को शान्ति प्रदान करता है और तब आनन्द की प्राप्ति होती है। वैसे देखा जाए तो दोनों सिद्धान्त एक ही हैं। दूसरा वर्ग प्रथम वर्ग की प्रथमावस्था है। दुखों के शान्त होने से मन को शान्ति मिलती है और मन की शान्ति से आनन्द की प्राप्ति होती है।

प्रो० बुचर ने 'दुःख और सुख' की समस्या का समाधान करने के सम्बन्ध में दो कारण और दिए हैं—पहला कारण यह है कि त्रास व करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुखद अनुभूतियाँ है, परन्तु त्रासदी में ये साधारणीकृत होकर आती हैं। इसलिए 'स्व' की सीमा में वे कटु हैं, पर 'स्व' से मुक्त होने पर उनकी क्षुद्रता नष्ट हो जाती है, इससे उदात्त व सुखद अनुभूति होती है, आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरा कारण है कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधार समंजन होने से वह सुखद होता है। इससे त्रास व करुणा दंश नष्ट हो जाता है। और दुःख सुख में परिणत होकर आनन्द प्रदान करता है।

विरेचन का सिद्धान्त और भारतीय आनन्दवादी दृष्टि—यह तो हुई अरस्तू के विरेचन में आनन्द की उपलब्धि की प्रक्रिया। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में शोक स्थायी भाव अमिश्र रहता है, जबकि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक प्रकार का मिश्र भाव है। यहाँ (भारतीयों ने) भयानक एक पृथक् रस माना गया है, वह यद्यपि करुण का मित्र रस है, पर अनुकूल स्थिति पाकर स्थायी-भाव न रहकर संचारी बन जाता है उसके संयोग से किसी मिश्र रस या भाव की उद्‌बुद्धि नहीं होती। यद्यपि इष्टजन विछोह अथवा वध में त्रास हो सकता है, पर करुण में मृत्यु की अवस्था तक पहुंचना होता, उसमें वध नहीं है। अतः करुण में यही त्रास नहीं है। यदि करुण में मृत्यु होती भी है तो वह

(१) शमन (जिसका निर्देश प्लेटो ने किया है) और (२) अभिव्यक्ति (जिसकी अरस्तू ने, प्लेटो के उत्तर में प्रस्तुत किया है)। त्रासदी इनमें से दूसरे का आलम्बन लेती है।

पर यह सिद्धान्त काव्य के आस्वाद का अभावात्मक रूप में वर्णन करता है, अर्थात् दुःख का अभाव=आनन्द। यद्यपि यह समाधान दुःखवाद पर आधारित है, पर यह आनन्द का सर्वाङ्ग नहीं है। शोपेनहोर ने भी दुःखवाद के माध्यम से समाधान दिया है और बौद्ध दर्शन भी दुःखवाद पर आश्रित है। बौद्ध दर्शन दुःख को आधारभूत मानता है, इसीलिए करुण रस में आनन्द है, क्योंकि, सत्य की उपलब्धि में आनन्द होता है। पर यह करुणा का साकारात्मक रूप है, जबकि अरस्तू दुःख का अभाव ही आनन्द मानते हैं। हमारे यहाँ दुःख में भी सुख का अनुभव किया गया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार—

"आनन्द की परिकल्पना हमारे यहाँ बड़े गम्भीर रूप में की गई है—वह मनोरंजन, लज्जत या प्लेजर (Pleasure) का पर्याय नहीं है। इसीलिए भारतीय दर्शन में उसकी उपमा समुद्र से दी गई है। जीवन के सुख-दुःख जिसकी लहरों के समान हैं। जिस प्रकार असंख्य लहरों को वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ बहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियों से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है। उदात्त काव्य, चाहे वह शृंगारमूलक हो या करुण-मूलक, सहृदय के मन को शृंगार और करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है। इसी अर्थ में रस अखण्ड है और उसमें आस्वाद-भेद नहीं है।"

यही भारतीय और पाश्चात्य मत का भेद है।

विरेचन-सिद्धान्त का महत्व—अरस्तू ऐसा प्रथम विचारक था जिसने काव्य पर अश्लीलता और अनैतिकता के लगाए गए आरोपों का विरेचन के सिद्धान्त द्वारा निराकरण किया। उसने स्पष्ट किया कि काव्य भावनाओं का परिष्कार करता है। उससे काव्य की इस समस्या का भी समाधान हुआ कि दुःखमूलक भावों द्वारा सुख कैसे प्राप्त होता है। यही कारण है कि अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का परवर्ती मनोवैज्ञानिक समालोचकों तक पर प्रभाव पड़ा।

विषयो को लेकर एक नितान्त नई परम्परा की प्रतिष्ठा की। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के काव्य-विषय अभिजात्य के स्थान पर साधारण हो गए और काव्य में पहली बार जीवन की सामान्य से सामान्य वस्तु, घटना अथवा मन-स्थिति की सत्ता स्वीकार की गई।

स्वच्छन्दतावाद की एक अन्य विशेपता कल्पना तत्व का प्राधान्य है। स्वच्छन्दतावादी धारा में भौतिक और स्थूल जगत की यथार्थता के स्थान पर कल्पना की प्रमुखता हो गई और इस धारा के कवि जगत् की वास्तविकता से हटकर कल्पना-लोक में विचरण करते थे। कल्पना के बल पर प्रकृति के भीतर एक अर्थपूर्ण संसार की खोज करना, प्रकृति के कण-कण में ईश्वर की महान् सत्ता के दर्शन करना, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावचित्रो में सौन्दर्य के दर्शन करना— स्वच्छन्दतावादी धारा की प्रमुख विशेषताएँ थी। इस युग का कवि प्रकृति के सतरंगी धनुष में नवस्फूर्ति और नूतन प्रेरणा के दर्शन करता है। कुल मिला कर स्वच्छन्दतावादी धारा में स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रवृत्ति सहज ही दीखती है। स्वच्छन्दतावादी धारा की अन्यतम विशेषताओं में सौन्दर्य दृष्टि और ऐन्द्रियता प्रमुख है। इस युग के कवियो और साहित्यकारो में सौन्दर्य के प्रति अद्भुत प्रेम और जिज्ञासा की प्रवृत्ति दीखती है। स्वच्छन्दतावादी धारा के महान् कवि डब्लू० बी० कीट्स तो यहाँ तक कहते हैं कि—

'Beauty is truth, truth is beauty that is all we know on earth and all we need to know"

अर्थात् सौन्दर्य ही चिरन्तन सत्य है और सत्य ही एकमात्र सौन्दर्य है। इस धरती पर केवल यही सत्य दीखता है और केवल इसी सत्य को जानना आवश्यक है। सौन्दर्य की इतनी प्रतिष्ठा इससे पूर्व कभी भी नहीं हुई।

स्वच्छन्दतावादी धारा की एक अन्य विशेपता व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा है। स्वच्छन्दतावादी धारा में पहले-पहल व्यक्ति की प्रतिष्ठा हुई तथा काव्य और व्यक्ति एक-दूसरे के निकट आ गए। गीतिकाव्य स्वच्छन्दतावादी धारा की एक अत्यन्त लोकप्रिय विधा है। गीतिकाव्य में कवि ने अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखात्मक अनुभूतियो को प्रश्रय दिया और बुद्धि एवं विवेक के स्थान पर भावुकता, व्यक्तिगत निराशा तथा आकांक्षा का प्राधान्य हो गया। स्वच्छन्दतावादी धारा की विशेषताओ का वर्णन करते हुए एक विद्वान् कहते हैं कि "स्वच्छन्दतावादी कवि नियमो और परम्पराओ का उल्लंघन करता है, यथार्थ और

पुरावृत्ति-पुनरावृत्ति

● 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' नाम्नी पुस्तक का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण अभिनव साज-सज्जा के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत है। प्रस्तुत पुस्तक का अल्पावधि मे ही समाप्त हो जाना, इसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता का परिचायक है। छात्र-छात्राएँ प्रस्तुत पुस्तक से अत्यधिक लाभान्वित हुई हैं, यह तथ्य हमारे लिए प्रसन्नता का विषय है और उसी प्रसन्नता को पुनः इस संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण के रूप में उपस्थित कर दिया है।

● 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' के प्रस्तुत परिवर्द्धित संस्करण में दो और नवीन प्रश्न जोड़ दिये गये है। दो प्रश्नों को पुन. नए ढंग से विस्तार सहित लिखा गया है। इससे पुस्तक की उपयोगिता और महत्ता मे निश्चय ही वृद्धि हुई है।

● प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने जो अपने अमूल्य सुझाव भेजे थे, उन्हें यथास्थान पुस्तक में समाविष्ट कर दिया है। लेखक इसके लिए उन सब विद्वानो का हृदय से आभारी है।

● विश्वास है कि छात्र-छात्राएँ पूर्व की भाँति ही इसे भी अपनावेगे।

७३, गौतम नगर,
नई दिल्ली—४६

विनीत
कृष्णदेव शर्मा

होकर भी अपनी शैली में काव्यमय है और काव्य के प्रबल पृष्ठपोषक होकर भी अरस्तू सर्वत्र अकाव्यमय ही रहते हैं। काव्य-दर्शन के आचार्य का यह अभाव निश्चय ही दुर्भाग्य की बात है।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के प्रति अरस्तू की दृष्टि मूलतः एक वैज्ञानिक अथवा गणितज्ञ की भाँति अकाव्यमय रही है। काव्य का प्राण उसका आत्मतत्त्व होता है और यह सिद्ध है कि अरस्तू की वैज्ञानिक दृष्टि काव्य के रचना विधान की भेदक उसके आत्मतत्त्व की सराहना नहीं कर सकी। दूसरे शब्दों में, अरस्तू ने हृदय के उन्मुक्त विलास को एक गणितज्ञ की वस्तुपरक दृष्टि से ही देखा और समझा है। यही कारण है कि उनके काव्यशास्त्रीय विवेचन में कल्पना को पूर्ण स्वीकृति नहीं मिल सकी और साथ ही अपने विरेचन सिद्धान्त के द्वारा उत्पन्न जिस काव्यानन्द की बात अरस्तू ने कही है, वह काव्यानन्द भी रस की तुलना में निम्न स्तर का आनन्द है।

इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी कवियों ने काव्य के आत्मतत्त्व को महिमान्वित किया है। अरस्तू के विपरीत कॉलरिज यह मानकर चलता है कि कविता केवल बौद्धिक सृजन ही नहीं है, अपितु वह तो हृदय और बुद्धि का अभूतपूर्व सम्मिलन है। अरस्तू ने एक वैज्ञानिक और गणितज्ञ की भाँति काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया था, जबकि कॉलरिज ने एक सहृदय कवि के नाते काव्य और काव्य सम्बन्धी विविध विषयों का विवेचन किया है। कॉलरिज सहित सभी स्वच्छन्दतावादी आलोचकों की दृष्टि निश्चित रूप से अधिक स्वतन्त्र और मौलिक रही है। अरस्तू ने काव्यशास्त्रीय नियमों और सिद्धान्तों का निर्धारण किया, जबकि कॉलरिज ने यह सिद्ध किया कि कविता किसी प्रकार के नियमों में बँधकर नहीं रह सकती। कल्पना के गौरवपूर्ण पद के पृष्ठपोषक कॉलरिज का तर्क था कि "नियमों के ऊपर से थोप जाने का सिद्धान्त यदि स्वीकार कर लिया जाएगा तो कल्पनाशक्ति कुण्ठित हो जाएगी, कवि इस शक्ति का प्रयोग नहीं कर पाएगा वह इस शक्ति द्वारा नवनिर्माण का कार्य नहीं कर सकेगा, कुछ नया, मौलिक एवं प्रभावशाली नहीं रच पाएगा। अतः काव्यनियमों के पाश से कवि को मुक्त करना ही होगा।" कॉलरिज के मतानुसार, काव्य का एक मात्र प्रयोजन आनन्द की सृष्टि करना होता है और वह आनन्द विशुद्ध काव्यानन्द होता है। कॉलरिज के काव्य सम्बन्धी विवेचन की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उन्होंने दर्शन

उसका प्रयोजन भी आनन्द न होकर जीवन की पूर्णता का ज्ञान कराना, मानव का आत्म-विकास और समाज का उत्थान करना है। आर्नाल्ड के अनुसार किसी साहित्य की समीक्षा करने के समय समालोचक का दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि वह कला की दृष्टि से कितना उत्कृष्ट है, अपितु यह होना चाहिए कि युग की सामाजिक आवश्यकताओं की वह कितनी पूर्ति करता है और उसमें नैतिक मान्यताओं का कहा तक समावेश हो सकता है।

उत्तम साहित्य की विशेषताएँ—मैथ्यू आर्नाल्ड ने साहित्य की तीन विशेषताएँ मानी हैं—(१) महान् कृत्य को काव्य का विषय बनाना, (२) स्पष्ट प्रणयन करना और (३) अभिव्यंजना को कम से कम महत्त्व देना। उपयुक्त शैली में रची गयी रचना ही उनके अनुसार आनन्द प्रदान करने में सक्षम होती है। अरस्तू की तरह आर्नाल्ड भी साहित्य में कथानक और कार्य का सर्वोपरि महत्त्व देते हैं।

लोगों का विचार था कि विषय की अपेक्षा विषय-प्रतिपादन का अधिक महत्त्व है। पर आर्नाल्ड उससे सहमत नहीं। उन्होंने मनोदशा की अभिव्यक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट काव्य माना और इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट लिखा—

"No assuredly, it is not, it never can be so"

आर्नाल्ड काय, उसके चयन और निर्माण—तीनों को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार 'सब कुछ विषय पर निभर है, उपयुक्त काय का चयन कर लो, उसकी स्थितियों के मूल में निहित भावना में तादात्म्य कर लो—यदि यह हो गया तो फिर सब अपने आप हो जाएगा।'

आर्नाल्ड उत्कृष्ट काय-व्यापार कौन-से है, इसका भी उत्तर देते हुए लिखते है—"निश्चय ही वे (काय-व्यापार) उत्कृष्ट है जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें, उन मूलवर्ती भावनाओं (Permanent passions) को आन्दोलित करें, जिनका मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष होती है।"

आर्नाल्ड काव्य के लिए 'सत्य, शिव और सुन्दर' का समावेश बहुत आवश्यक मानते हैं—सत्य और गाम्भीर्य (Truth and high seriousness) को महत्त्व देते हैं।

"No one can deny that it of advantage to a poet to deal with a beautiful world"

न्यूनताएँ—आर्नाल्ड ने काव्य के लिए जिन प्राचीन विषयों को उच्चतम माना है, यह कुछ आलोचकों को सही नहीं लगता कि समसामयिक जीवन और उसकी समस्याएँ उदात्त नहीं होतीं। जब आर्नाल्ड यह स्वीकार करते हैं कि यह युग भौतिक उन्नति और विज्ञान की समृद्धि का युग है तो फिर वह इस युग की समस्याओं पर विचार करना क्यों नहीं चाहते ? यदि शाश्वतता का प्रश्न है तो वह प्राणियों को अपने युग में ही खोजना होगा। फिर, एक ओर वह यह भी मानते हैं कि आधुनिक अथवा प्राचीनता से काव्य-विषय की उपयुक्तता का कोई सम्बन्ध नहीं—

'Modernness or antiquity of an action has nothing to do with its fitness for poetical representation"

फिर यदि सामयिक जीवन को काव्य से बहिष्कृत कर दिया जाएगा तो मानव अपने युग से कट जाएगा, न तो उसे समझ ही पाएगा और न ही उसका कोई विश्लेषण ही कर पाएगा। अतः पुरातन के साथ आधुनिक विषयों को भी कविता में उचित स्थान देना आवश्यक है। आर्नाल्ड के सम्बन्ध में स्कॉट जेम्स का कथन है कि वह पुरान विषयों के आतंक के समक्ष नवीन विषयों की शक्ति व क्षमता पहचान ही नहीं पाए, यथा—

"His faith in the guidance of pre-eminent models tended to hide form him the Potential excellence of the new and untried'

दूसरा दोष यह है कि आर्नाल्ड शैली में सरलता और स्वच्छता (Serenity) आवश्यक मानते हैं, पर उन्होंने यह नहीं बताया कि वे कौन-से कारण हैं जिनके कारण जटिल शैली का बहिष्कार किया जाना चाहिए। सच तो यह है कि जटिल शैली में भी उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनका बहिष्कार कथमेव सम्भव नहीं है।

आलोचक और आलोचना सम्बन्धी विचार—आर्नाल्ड ने बताया कि आलोचक का समाज के प्रति क्या कर्तव्य है, आलोचक में कौन-कौन से गुण अपेक्षित हैं और वे क्या आधार हैं जिनसे श्रेष्ठ रचनाएँ चुनकर उनका प्रसार किया जा सकता है।

वह जीवन की आलोचना को ही साहित्य मानते हैं। अतः उनके अनुसार आलोचक के लिए सर्वोच्च विचारों व ज्ञान की जानकारी आवश्यक है। वह

प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। इस प्रकार एक ओर तो वह आलोचक को पूर्वाग्रह से मुक्त रहने को कहते हैं, दूसरी ओर नैतिक बंधनो मे आविष्ट करके उन्हें पूर्वाग्रहो की सीमा मे ला पटकते हैं और इससे उसकी विवेक शक्ति और धारणा शक्ति पर धुंध का आवरण चढा देते हैं।

आर्नाल्ड के अनुसार आलोचक का एक गुण यह भी होना चाहिए कि वह कवि के लिए उपयुक्त भाव-भूमि तैयार कर सके। इस सम्बन्ध मे वह लिखते हैं—

"The element with which the creative power works are ideas, the best ideas on every matter which literature touches current at the time"

अर्थात् सजनात्मक साहित्य जिन तत्त्वो पर आधारित होता है—वे है विचार—वे विचार जो अपने समय मे सर्वश्रेष्ठ होते है और इन तत्त्वो को, इन पौष्टिक विचारो को आलोचक ही कवि को प्रदान करता है।

समीक्षा का रूप—आर्नाल्ड वास्तविक समीक्षा मे जिज्ञासा की वृत्ति निहित मानते हैं। वह समीक्षा की व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का समर्थन करते हैं। डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "वह यह मानता था कि उच्च और महती वैचारिक परम्पराओ की जीवतता का निर्वाह भी समीक्षा का ही कार्य है। यदि कोई समीक्षात्मक रूप इतना भी करने मे समर्थ है, तो उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है।" यही समीक्षा उनके अनुसार सर्वोत्कृष्ट है।

देन—आर्नाल्ड की अग्रेजी समालोचना की सबसे बडी देन यह है कि उसने कविता म मिथ्यात्व, आडम्बरप्रियता और छद्म के विरुद्ध आवाज उठायी। डा० शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार, "उसने इनके स्थान पर सत्य, उदात्त, विचार, गरिमा आदि सद्गुणो की प्रतिष्ठा की। उसी ने हमे सिखाया कि हम अतिवादिता, आडम्बर तथा अर्द्ध-सत्य का तिरस्कार करें और केवल सत्य को अपनाएँ।

वस्तुत मैथ्यू आर्नाल्ड का योगदान, अग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र मे अद्वितीय है। उसका प्रभाव काफी समय तक न केवल इग्लैण्ड मे, वरन् अमरीका के इमर्सन और हेनरी जेम्स तक छा गया। एक आलोचक के शब्दो मे, "वह (मैथ्यू आर्नाल्ड) अग्रेजी साहित्य का अरस्तू है, आलोचना के इतिहास मे उसका स्थान अमर है और कीर्ति अक्षय।"

शैली और रूढ़-भाषा का अनुपयोगी मानकर उसका विकास व्यक्तिवाद और भावात्मकता के आधार पर किया। उन्होंने परम्परागत शैली को विकृत, विरूप, मिश्रित तथा भावहीन माना। टी० एस० इलियट की तरह वर्ड् सवर्थ ने भी सामान्य भाषा को अधिक उपादेय माना और उसी का समर्थन किया है।

वर्ड् सवर्थ में पृथ कृत्रिम भाषा के लिए जो नियम-उपनियम बनाए गए थे, वे उनके विरुद्ध थे और विशिष्ट काव्यगत उक्तियों, मानवीकरण, वक्रोक्ति आदि के भी विरोधी थे, यहाँ तक कि वह काव्य-रचना में विपर्यय और वैषम्य के प्रति भी अरुचि ही प्रकट करते थे। अनावश्यक रूप से ठूँसी गयी पौराणिक कथाएँ भावाभास तथा दंत-कथाएँ भी उन्हें रुचिकर नहीं थीं। समग्रत वह कृत्रिमता तथा मापित काव्य-रूपों को मान्यता देने के विरुद्ध थे। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए स्टॉफ जेम्स लिखते हैं—

"Disgusted by the gaudiness and inane phraseology of many modern writers, he castigates poets who separate them selves from the sympathies of men and indulge in arbitrary and capricious habits of expression"

यदि कवि इनका प्रयोग युग-प्रभाव अथवा युगानुकूल रुचि के कारण करता है और उनमें सच्चे भाव निहित हों तो वर्ड् सवर्थ ने उन्हें कुछ सीमा तक क्षम्य माना है। पर वह स्वयं ही उनसे विचार प्रस्तुत करते हैं। काव्य-शैली के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उन्होंने उठाई हैं, उनकी भाषा अत्यन्त शिथिल है। दूसरे, अपने काव्य में वह उन्हीं अनेक काव्योक्तियों का प्रयोग करते हैं जिनका वह पहले ही विरोध कर चुके थे। उनकी वाक्य-रचना भी कहीं-कहीं बड़ी दुरूह तथा उलझी हुई है। भावाभास (Pathetic Fallacy) और वक्रोक्ति (Periphrasis) का भी प्रयोग मिलता है। साथ ही, वह वास्तविक रूपक तथा कृत्रिम रूपक का भेद भी निरूपित नहीं कर सके।

फिर भी वर्ड् सवर्थ ने काव्य में कृत्रिमता की अपेक्षा सरल भाषा के प्रयोग पर ही विशेष बल दिया है। जहाँ दान्ते ग्राम्यभाषा से दूर रहने (Avoid rustic language) की बात लिखते हैं वहाँ वर्ड् सवर्थ सरल और ग्रामीण जीवन से ही विषय-चयन करने का स्पष्ट परामर्श देते हैं। उनकी दृष्टि में कवि का वक्तव्य यह है कि—

के लिए ही, वड्सवर्थ ने विवेकहीन व्यक्ति का भावोच्छ्वास न मानकर कविता को विचारवान व्यक्ति का भावोच्छ्वास माना है। कॉलरिज भी कवि को विवेक युक्त प्राणी मानते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीव्र भावावेग के समय भी भाषा में कवित्व-शक्ति के प्रभाव से अनेक अलकारों, वक्रोक्ति आदि का समावेश हो जाता है, तो वड्सवर्थ उसे कृत्रिमता नहीं मानते। कृत्रिमता वह है जो ऊपर से चिंतन आदि द्वारा लादी गयी हो और जो भाषा को बोझिल बनाए। उनके अनुसार कवि जितना भाषा के निकट पहुँचेगा, उसकी भाषा-शैली उतनी ही सच्ची होगी और कवि-कर्म में सफलता प्राप्त होगी—

'The Language of the poets falls short of that which is uttered by men in real life, under the actual pressure of those passions "

भाषा में छन्द का प्रयोग—वड्सवर्थ कविता को छन्दमयी मानते हैं, छन्द के कारण ही कवि एक विशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के चुनाव (Selection of Language) की ओर ध्यान देता है। उनका मत है, "वह नियमित और एक रूप होना चाहिए—काव्यसरणि (पोएटिक डिक्शन) के अनुसार मनमाना, अपरिमित मानसिक कल्पनाओं का विषय न होना चाहिए जिसका कुछ हिसाब-किताब ही न लगाया जा सके। इस अवस्था में पाठक को पूर्ण रूप से कवि की दया का पात्र रहना पड़ता है, जिस किसी बिम्ब अथवा शैली में वह मनोभावों का सम्बन्ध स्थापित करे, उसके प्रति उसे सम्मान का भाव प्रदर्शित करना होता है। दूसरी अवस्था में, छन्द कतिपय नियमों में बँधकर चलता है जिसे कवि और पाठक—दोनों स्वेच्छा से स्वीकार करते है, क्योंकि वे निश्चित होते हैं तथा उनकी ओर से मनोभावों में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं किया जा सकता।"

यद्यपि कॉलरिज आदि ने वड्सवर्थ की पद्य-गद्य की भाषा में तात्त्विक समानता का खण्डन किया है, फिर भी यह निर्विवाद है कि वड्सवर्थ का उद्देश्य भाषा से कृत्रिमता का बहिष्कार करना था। उन्होंने कृत्रिम वागाडम्बर के विरुद्ध आवाज उठायी और काव्य-भाषा को एक नवीन दृष्टि प्रदान की। पुरानी बातों के परिवेश में काव्य को नया रूप दिया और काव्य में 'सत्य शिव सुंदर' की आवश्यकता पर बल दिया।

"Every great poet is a teacher, I wish either to be considered as a teacher or as nothing"

फिर भी, वर्ड्सवर्थ काव्य को नैतिक तत्यों का प्रचारक मात्र नहीं मानते, उसका एक आवश्यक प्रयोजन आनन्द प्रदान करना भी है—

'We have no sympathy but what is propagated by pleasure"

योगदान—उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ड्सवर्थ ने विज्ञान और काव्य—दोनों को सौन्दर्य-बोध में सहायक मानते हुए भी कवि के ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है, क्योंकि वह प्रकृतज्ञान है, जबकि वैज्ञानिक का ज्ञान उपलब्ध है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को कृत्रिमता तथा वागाडम्बर की सीमित परिधि से निकाल कर भावोच्छ्वासों की विशद भूमि पर ला खड़ा किया और उसमें भाव-तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। उनका सबसे बड़ा योगदान यही है कि उन्होंने काव्य-भाषा में जन-साधारण के भावों को महत्त्व दिया।

प्रश्न ८—टी० एस० इलियट की आलोचना-प्रणाली का विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में उसके योगदान का निरूपण कीजिए।

टी० एस० इलियट के समीक्षात्मक विचार प्रासंगिक रूप में उन्हीं स्थलों पर मिलते हैं, जहाँ उन्होंने यूरोपीय साहित्य के विविध अंगों पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है। इलियट ने काव्यालोचन के सम्बन्ध में कारयित्री और भावयित्री और—दोनों शक्तियों का एक-दूसरे का पूरक माना है। इसी से उनके समीक्षा-सम्बन्धी विचारों के अध्ययन के लिए उनकी कविताओं का अध्ययन आवश्यक है और कविताओं के अध्ययन के लिए उनके काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है।

आजकल ऐसा देखा जाता है कि एक ओर तो वैशिष्ट्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है तो दूसरी ओर विविधता की ओर भी साहित्यकारों का झुकाव है। इसी से इलियट ने परम्परानुगामिता की प्रवृत्ति की दुरूहता की ओर संकेत किया है। इस सन्दर्भ में उसने बताया है कि किसी कवि द्वारा प्रतिपादित समीक्षात्मक सिद्धान्त वैचारिक पूर्णता तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से तो महत्त्व रखते ही हैं, साथ ही, उस विशिष्ट कवि द्वारा रचे गए नियात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भी महत्त्वहीन नहीं होते।

और क्या कविता उत्कृष्ट वस्तु है—इन दोनो पर विचार करते हुए इलियट ने स्वय कहा—"कोई भी सैद्धान्तिक कौशल दूसरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए पर्याप्त नही होगा, क्योंकि किसी भी ऐसे सिद्धान्त का कोई विशेष महत्त्व नहीं जो उत्कृष्ट कविता के प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित न हो। कविता का हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बहुत देर तक विवेचन के सामान्यीकरण पर आश्रित रहता है।"

इलियट ने आलोचना को सीमाबद्ध करते हुए इस तथ्य की ओर सकेत किया है कि आलोचना द्वारा परम्परा का अनुगमन करना स्पष्ट और निश्चित रूप से रूढिवाद नहीं है। क्योंकि, प्राचीन परम्पराएँ मानव के भावी जीवन के विकास की आधारभूमि होती हैं और इस प्रकार ये प्राचीन परम्पराएँ हमारे वर्तमान को भी प्रभावित करती है। वर्तमान के आधार पर ही अतीत का मूल्यांकन होता है। इसलिए अतीत की परम्पराओ की उपेक्षा सर्वथा सम्भव नही है। हाँ, इनका पूर्ण आश्रय लेना भी अयुक्ति-सगत है, क्योंकि, नवीन विचारो और स्थितियों के सदर्भ एव परिप्रेक्ष्य मे ही आलोचना को देखना चाहिए। कारण, आलोचना दो दृष्टिकोणों से होती है—(१) कवि के तात्कालिक समय की पुष्टि से कवि का मूल्यांकन करने के लिए—इसके लिए कवि-युगीन दृष्टि की अनिवार्यता है, और (२) वर्तमान समय में उसकी उपादेयता—वर्तमान पर दृष्टि केन्द्रित रखके इस प्रकार की आलोचना की जाती है।

उत्कृष्ट आलोचना-प्रणाली—'द फक्शस ऑफ क्रिटिसिज्म' नामक निबन्ध मे इलियट ने बताया है कि समीक्षा की कौन-सी प्रणाली उत्कृष्ट है और कौन-सी निकृष्ट। इलियट का विचार है कि उत्कृष्ट आलोचना का प्रमुख उद्देश्य सहृदय मे एक ऐसी दृष्टि निर्मित करना है, जिससे वह साहित्य के अध्ययन तथा रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न कर सके, अर्थात् अध्येता को रसास्वादन करने की क्षमता देना अथवा उसकी दृष्टि को समझ-बूझ का माद्दा देना ही उनके अनुसार आलोचना का उद्देश्य है और वही आलोचना-प्रणाली उत्कृष्ट होगी जो ऐसी दृष्टि प्रदान करे। इलियट ने यह बात समग्रता के आधार पर कही है और खण्डन-मण्डन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। यही बात आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** कहते हैं कि आलोचना का दृष्टिकोण लोक-दृष्टि होना चाहिए।

है, पर यह अनुकरण पुनरावृत्ति न होकर होरेस के अनुसार पुनःसृजन (Re-creation) है।

होरस कविता का सम्बन्ध नवीन उद्भावना और प्रक्रिया से मानते हैं। अत अनुकरण के अतिरिक्त कवि अपनी प्रतिभा के बल पर भी काव्य की रचना कर सकता है। इसीलिए काव्य हेतुओं में उन्होंने अन्तर्दृष्टि और शास्त्रज्ञान दोनों को ही समान महत्त्व दिया है। अन्तर्दृष्टि से उनका तात्पर्य प्रतिभा से है और शास्त्रज्ञान का सम्बन्ध अभ्यास तथा प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन और मनन से है। होरेस इन दोनों के समीकरण पर विशेष बल देते हैं और दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं—

'For my part I fail to see the use of study without wit of without training so true is it that each requires the other and in helpful union"

अर्थात बिना प्रतिभा के अध्ययन का और बिना अभ्यास के प्रतिभा का कोई उपयोग नहीं। अत सत्य तो यह है कि दोनों को एक-दूसरे का सहयोग अपेक्षित है।

होरेस के अनुसार, कवि की काव्य-रचना का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आह्लाद, या फिर दोनों ही। इससे पाठकों को आह्लाद और शिक्षा दोनों की ही प्राप्ति होती है। जो कवि उपयोगिता और आनन्द का सम्श्लेषण करता है वही सफल कवि होता है। अत होरेस पाठकों के भावों का उद्वेलन और उनकी आत्मा पर विजय, कविता का आवश्यक गुण मानते हैं।

कविता या तो उदात्त होती है अथवा दूषित और घृणित ही होती है। अत उत्कृष्ट काव्य के लिए वह सहज विवेकशक्ति तथा सही चिन्तन को परम आवश्यक मानते हैं। यथा "The secret all good writing is sound judgement"

होरेस काव्य की क्षमता का वर्णन करते हुए उसे शिव एवं सुंदर से युक्त ही नहीं, रसोत्पादन की क्षमता से युक्त—मन को लुभाने की शक्ति से युक्त मानते हैं। विषय चाहे कैसा भी क्यों न हो, वह सरल और संगत होना चाहिए तथा इसमें पाठक के मन को रमाने की शक्ति होनी चाहिए

"It is not enough for poems to be fine, they must charm and darw the mind of Listener at will"

ही दूर कर सकता है। इसका फल तात्कालिक होता है। जो काय तक से नहीं हो सकता, वह व्यग्य से सरलता से हो जाता है। इसलिए उन्होंने व्यग्य को विशेष महत्व दिया है, पर साथ ही, व्यग्य की सीमा भी बतायी है कि उसमे तीव्रता तथा कटुता की अपेक्षा मिष्टता और मधुरता होनी चाहिए। मिष्ट व्यग्य जहाँ मनुष्य की सद्वृत्तियो को प्रेरित करता है, वहा कटु व्यग्य उसे क्रुद्ध भी बना सकता है।

व्यग्य-काव्य तथा प्रहसन के भेद का स्पष्टीकरण करते हुए होरेस ने लिखा है कि व्यग्य-काव्य के पात्रो का हास्य सन्तुलित तथा शिष्ट होता है और प्रहसन के पात्रो मे इसका अभाव होता है। व्यग्य-काव्य सोद्देश्य होता है, जबकि प्रहसन मात्र मनोरजनार्थ या निरा निरुद्देश्य भी हो सकता है।

काव्य की शैली—उच्चकोटि के काव्य के लिए होरेस ने शैली सम्बधी तीन गुण माने हैं—उपयुक्त शब्द चयन, सशक्त सक्षिप्त अभिव्यक्ति और स्पष्टता। वह मिश्रित शैली के विरुद्ध है। उनके अनुसार शैली का स्वतन्त्र रूप मे महत्त्व होता है। भाषा की प्रभावात्मकता-वृद्धि के लिए भी उसका प्रयोग आवश्यक है। सामान्य शब्दावली भी उत्कृष्ट शैली से सजीव हो उठती है। सुदर काव्य के लिए केवल शब्दो का उपयुक्त प्रयोग ही आवश्यक नहीं है, वरन् शब्दो की कुशल तथा सुरुचिपूण योजना भी उतनी ही आवश्यक है। यदि भाषा चमत्कारिक न होकर सामान्य है, तब भी स्पष्टता के कारण ग्राह्य होती है। होरेस ने कभी वागाडम्बर को प्रश्रय नहीं दिया। स्पष्टता काव्य का, उसके अनुसार, परम गुण है, जब तक काव्य मे स्पष्टता नही होगी, तब तक, विषय समझ मे नही आयेगा और पाठक या श्रोता को आह्लाद का अनुभव नही होगा। होरेस ने छदो को विशेष रूप से महिमान्वित किया है। जो विषय एक विशेष छद मे व्यजित हो सकता है, वह दूसरे प्रकार के छद मे नही। महाकाव्य के लिए उसने षट्पदी, दुखपूर्ण विषय के लिए करुणगीत (Elegy), व्यग्य लेख के लिए व्यग्य (Satire), कामदी तथा त्रासदी के लिए द्विमात्रिक छद (imbic), विजयगीत के लिए सम्बोधन गीत (ODE) तथा प्रेमगीत अथवा विरह-काव्य के लिए गीति (Lyric) को श्रेष्ठ बतलाया है।

औचित्य सम्बन्धी विचार—होरेस ने औचित्य पर विस्तार से विचार किया है। वह प्रत्येक विधा मे तदनुरूप वस्तु का उचित अनुपात आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक रूप की अपनी स्वतन्त्र इकाई होती

प्रगुणाश्री

भूमिका

- वर्तमान हिन्दी काव्यशास्त्र पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव है। पाश्चात्य साहित्य की प्रत्येक विधा का हिन्दी साहित्य पर अनेक रूपों में प्रभाव पड़ा है। इसलिए हिन्दी साहित्य के सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों ही पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित है। एतदर्थ, हिन्दी-काव्यशास्त्र के ज्ञान के लिए जहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है, वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का ज्ञान भी अपेक्षित है—इसके बिना हिन्दी काव्य-शास्त्र को समझना उसी प्रकार दुस्साहसपूर्ण कार्य है, जैसे बिना वस्तु को देखे उसकी शोभा का वर्णन करना।

- पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रवर्त्तन ग्रीक विचारक प्लेटो से होता है, किन्तु बाद में जर्मनी, फ्रांस, इङ्गलैण्ड, अमरीका, रूस आदि के विद्वानों ने भी इस पर विचार किया और इसकी विचार-सारणी को प्रशस्त किया। फिर भी, इन सबके विचारों में एक मूलभूत एकता है कि उन्होंने साहित्य को भौतिकवादी स्तर पर आधृत किया है—उनकी विचारधारा, अनुभूति अन्तरंग और बहिरंग है।

- प्रस्तुत पुस्तक पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विविध गति-विधियों से हिन्दी पाठकों को—विशेष रूप से विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को परिचित कराने के उद्देश्य से लिखी गयी है। इसके लेखन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का प्रमुख रूप से विवेचन हो जाए तथा उसके प्रमुख विचारकों के मतों की भी समीक्षा हो जाए। कारण, वर्तमान हिन्दी काव्यशास्त्र पाश्चात्य काव्य-शास्त्र से अत्यधिक प्रभावित है। इसीलिए हिन्दी साहित्य की विधाओं का वर्णन भी इसी के अन्तर्गत किया है; पर साथ ही, यह भी ध्यान रखा गया है कि उनकी भारतीय परम्परा की उपेक्षा भी न हो पाए।

अभिनय-औचित्य—होरेस अभिनय की औचित्यता पर भी बल देते हैं। अभिनय ऐसा होना चाहिए कि दर्शक पर उसका अनुकूल प्रभाव पड़े। दर्शक उसमें तल्लीन हो जाए—न तो वह ऊबे और न ही उसकी खिल्ली उड़ाए। अभिनेता अङ्ग-प्रत्यंग संचालन, वचन की स्थिति और मनोदशा—सभी में सामंजस्य होना चाहिए।

"Sad words suit a gloomy countenance, menacing words an angry, sportive words a merry look, stern words a grim one."

अर्थात् शोकग्रस्त व्यक्ति के द्वारा दुःखपूर्ण शब्दों का उच्चारण उपयुक्त है, क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से रोषपूर्ण शब्दों का प्रयोग, सुखी तथा प्रफुल्ल व्यक्ति द्वारा हास-परिहास के शब्दों का प्रयोग तथा गम्भीर व्यक्ति के द्वारा गम्भीर तथा शिष्ट शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होता है।

घटना-औचित्य—घटना ऐसी होनी चाहिए कि उससे पात्र, घटना, प्रसंग आदि सभी सजीव हो जाएँ। यदि घटना के औचित्य पर ध्यान रखा जाएगा तो नाटक या काव्य—सभी में प्रभाव-क्षमता आ जाती है। वह इसलिए हास्य और करुण—दोनों के समन्वय को अनुचित मानते हैं।

भाषा औचित्य—भाषा शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, अतः शब्दों का कृत्रिम या आडम्बरपूर्ण न होकर सरल व स्पष्ट होना अपेक्षित है। जो शब्द रूखे हों, कठोर हों, ग्राम्यत्व लिए हुए हों, उनका भी काव्य में प्रयोग नहीं होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर कवि नवीन शब्दों का भी निर्माण कर सकता है, इससे भाषा के शब्द-भण्डार में भी निरन्तर विकास होता रहता है।

अभिव्यक्ति को और शक्तिशाली तथा प्रभावपूर्ण बनाने के लिए शब्दों की *योजना बड़ी कुशलता से होनी चाहिए। शैली भी इसीलिए* घटना तथा विषय के अनुरूप होनी चाहिए। उसमें प्रसंग तथा विषय के अनुसार प्रसाद, ओज तथा माधुर्य गुण होने चाहिए। इसी प्रकार विषय के अनुरूप छन्द का प्रयोग भी आवश्यक है। ये छन्द ही कवि को उपयुक्तता प्रदान करते हैं। होरेस का कहना है, "यदि मुझे परम्परागत नियमों और काव्य रूपों का ज्ञान नहीं है, और मैं उनका पालन नहीं कर सकता तो मुझे कवि कहलाने का क्या अधिकार है।"

लोंजाइनस ने साहित्य का सम्बन्ध तर्क में न मानकर कल्पना में माना है जो पाठकों को अभिभूत कर लेती है। डा० शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार, "वह अत्यन्त सन्तुलित विचार वाले समन्वयवादी विचारक तथा आलोचक थे अत उन्होंने काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों में औदात्य का समर्थन किया।"

साहित्य-समीक्षा-विषयक सिद्धान्त—लोंजाइनस ने स्पष्ट यह माना है कि साहित्य की उत्कृष्टता की एकमात्र कसौटी आनन्दात्मकता है। इसीलिए समीक्षक के रूप में वह काव्य का रसास्वदन की दृष्टि से परीक्षण आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्य श्रेष्ठ तभी होगा, जब उसमें कवि के विचार उच्च होंगे, क्योंकि, उच्च विचार ही श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम ह।

लोंजाइनस ने काव्य की लयगत अनुरूपता पर भी गम्भीरता से विचार किया है और साहित्यकार के लिए परम्परा का पूर्ण निषेध भी नहीं माना। वह यह मानते ह कि साहित्यकार अथवा कलाकार के लिए परम्परा का उल्लंघन आवश्यक नहीं ह।

समीक्षक की योजनाएँ—समीक्षा करना प्रत्येक का काय नहीं, उसके लिए लोंजाइनस समीक्षक की कुछ महत्त्वपूर्ण योग्यताओं का निर्धारण किया है। लोंजाइनस का विचार है कि समीक्षक के लिए समीक्षा करते समय विषय का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है इसके अतिरिक्त कला, दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र, समालोचना आदि का भी पूर्ण अध्ययन होना चाहिए और इन पर काफी चिन्तन-मनन होना आवश्यक है। इस ज्ञान के कारण ही समीक्षक में आत्म-विश्वास जागेगा और तब वह उन मानदण्डों का अधिक विश्वासपूर्वक निर्धारण कर सकेगा, जिनकी उसके समय में आवश्यकता है।

यद्यपि लोंजाइनस ने साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी आनन्दवाद को माना है, पर इसमें कल्पनातत्त्व की भी मुख्यता उन्होंने स्वीकार की है और यह समीक्षक की योग्यता है कि वह साहित्य में निहित आनन्दवादी तत्त्व का कहाँ तक उद्घाटन करता है। लोंजाइनस ने प्रसंगत यह भी बतलाया है कि काव्य में कल्पना-तत्त्व का योग इसलिए भी आवश्यक है जिससे कवि इच्छित दृश्य का सुन्दरतम चित्रण करके पाठकों को उसका पूर्ण आभास करा सके।

समन्वय किया है, वह प्रत्येक पक्ष का विवेचन उदात्त के आधार पर ही करते हैं यही कारण है कि एक ओर वह कवियों को परम्परा का पालन करने की प्रेरणा देते हैं, तो दूसरी ओर नवीनता तथा युगानुकूलता के समर्थन की भी कहते हैं। डॉ० प्रतापनारायण टण्डन ने इसीलिए लिखा है, "लोंजाइनस ने यह प्रतिपादित किया है कि एक कलाकार अथवा साहित्यकार के लिए परम्परानुगामी होना कई अर्थों में लाभप्रद सिद्ध होता है। इसलिए उसे रूढ़िगत काव्य-नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए पर साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लोंजाइनस के साहित्य-सिद्धान्त विभिन्न ग्रन्थों के उनके निजीपन पर आश्रित हैं और उनमें परम्परागत तथा प्रचलित नियमों की उपेक्षा की गई है।"

इससे भी स्पष्ट है कि लोंजाइनस ने औचित्य के आधार पर दोनों को ही उपादेय माना है और इसी आधार पर उन्होंने रूमानी तत्त्वों के बहुत अधिक समावेश का निषेध किया है। उदात्त तत्त्व की रक्षा के लिए ही कल्पना तत्त्व की उपादेयता स्वीकार की है।

लोंजाइनस ने काव्य का प्रयोजन शिक्षा या नैतिक सुधार न मानकर आनन्द माना है। डा० नगेन्द्र ने भी लोक मंगल की अपेक्षा आनन्द को ही अधिक समुन्नत मा[illegible] है, इसी प्रकार लोंजाइनस ने भी आनन्द को विशेष महत्त्व दिया है। वस्तुतः लोंज[illegible]इनस समन्वयवादी विचारक हैं और उन्होंने काव्य-साहित्य के प्रत्येक पक्ष को [illegible]सीमाबद्ध कर दिया है। इसलिए स्कॉट जेम्स लोंजाइनस को स्वच्छन्दतावादी [illegible]विचारक मानते हुए भी यह लिखते हैं

Though he w[illegible]s the first to expound doctrines upon which romanticism rests, [illegible]he tuned and tempered them with what is sanest in classicism

यद्यपि लोंजाइनस ने ऐसे[illegible] विचारों को जन्म दिया जिनसे स्वच्छन्दतावाद को गति मिली, फिर भी, वह अपने [illegible] युग की समीक्षा-पद्धति से पूर्ण विपरीत नहीं जा सके। उन्होंने उदात्त के माध्यम से दो [illegible] का समन्वय ही किया है। यही कारण है कि उन्होंने विचार तत्त्व और पद-वि[illegible]न्यास को एक-दूसरे से सम्बद्ध माना है। अतः उनके अनुसार भव्य कविता [illegible] वही है जो पाठक को आनन्दातिरेक में इतना निमग्न कर दे कि वह उसी[illegible] ऊँची भावभूमि पर पहुँच जाए, जहां बौद्धिकता का नहीं, हृदय का अनहद [illegible] नाद होता रहता है। इस दृष्टि

अध्ययन या श्रवण मे पाठक अथवा श्रोता को जो आनन्द मिलता है, वह अपनी दमित इच्छाओ की अभिव्यक्ति के कारण ही प्राप्त होता है।

फ्रायड ने काव्य-रचना की समस्या को मूल से पकडा है। वह काव्य की मानव-मन से तादात्म्य होने वाली शक्ति की भी विवेचना करते हैं। उन्होंने काम-भावना को ही वह मूल-शक्ति माना है जो सहृदय तथा साहित्य के मध्य तादात्म्य स्थापित करती है। उन्होंने मानव की काम-क्रिया को खोजा है और उसे कल्पनात्मक साहित्य की सर्जना का आधार माना है। काम-भावना एक ऐसी इच्छा है जो प्रत्येक के मन मे किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान रहती है, पर इसका पूर्णरूपेण प्रकाशन नही हो पाता—और न यह सम्भव ही है, अत कवि या साहित्यकार अपनी कल्पना के द्वारा उस भावना को परिष्कृत करके प्रस्तुत करता है और उसकी अभिव्यक्ति मे उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता है। प्रत्येक काव्य की सर्जना मे, अत यह काम ही मुख्य है।

फ्रायड अपने मत को स्पष्ट करने के लिए एक बालक का उदाहरण देते है कि बाल्यावस्था मे उसके सीमित ज्ञान के कारण उसके मन मे अनेक कल्पनाएँ उठती हैं और मानसिक सृष्टि नित्य बनती-बिगडती है। वह अपनी उन्ही कल्पनाओ मे लीन रहता है, पर वयस्क होने पर जब वह ससार की वास्तविकता से भलीभाँति परिचित होता है तो शैशव की कल्पना छोडकर वह जीवन की वास्तविकताओ को गम्भीर भाव से ग्रहण करता है फिर भी उसके अवचेतन मन मे शैशवकालीन कल्पनाएँ बनी रहती हैं—

'Of these sustained childhood remintsoences seem appear to readily comprehensible, while others seem strange of unintelligible some of the memory pictures are surely flsified and incomplete or displace in point time and place "

यही नही, वयस्क होने पर भी उसकी कल्पना से अनेक ऐसे चित्र बनते हैं जो सहज बोधगम्य नही होते। इन चित्रो मे अनेक ऐसे होते है जिनको वह चाहकर भी अभिव्यक्ति नही कर पाता, वह सोचता है कि शायद तब वह उपहास अथवा घृणा का पात्र बन जाएगा। पर वे चित्र उसके मन मे जमे रहते हैं और कुछ समय पश्चात् मन मे कुण्ठा उत्पन्न कर देते हैं। ये कुण्ठाएँ ही अतृप्त इच्छाएँ कहलाती हैं और वे मनुष्य को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती हैं। यह अभिव्यक्ति की प्रेरणा ही साहित्य-सर्जना की मूल प्रेरणा है

माना अवश्य है, पर वह उन दोनो का सम्मिलित रूप ही सर्वत्र देखते हैं। यहा उनकी कल्पता नितान्त बौद्धिक नही है, उसमे हृदय-पक्ष का भी सुन्दर समन्वय है और मनुष्य के दिवास्वपनो (Daydreams) का भी विशेष स्थान है।

निष्कर्ष—समग्रत कहा जा सकता है कि फ्रायड ने साहित्य-रचना का मनुष्य के दिवा-स्वप्नो (Daydreams) से सम्बन्ध बताया है और काव्य-सर्जना की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का वर्णन भी किया है। उन्होंने कवि का कौशल इस विशिष्टता मे माना है कि वह अपनी वैयक्तिक चेतना और कुण्ठा की काव्य मे अभिव्यक्ति इस प्रकार करे जिससे प्रत्येक सहृदय को आनन्द प्राप्त हो अर्थात् वह कुण्ठा व्यक्ति-विशेष की कुण्ठा न रहकर सार्वजनीय, सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक हो जाए। इस आनन्द की सृष्टि करना ही कलाकार की अपनी कुशलता है। वह कुण्ठा को परिष्कृत कर सबके सामने लाता है और इसलिए सुन्दर कृति सभी को आह्लाद प्रदान करती है।

प्रश्न १२—ज्यां पाल सार्त्र के समीक्षा-सम्बन्धी विचारो का उल्लेख कीजिए और उसके द्वारा प्रतिपादित काव्यकला के उपादानो का उल्लेख कीजिए।

आधुनिक युग के अस्तित्ववादी चिन्तको मे ज्यां पाल सार्त्र का नाम अन्य-तम है। इनके विचारो का आधुनिक विश्व साहित्य पर जितना अधिक प्रभाव पडा है, उससे इनके महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होंने समीक्षा पर विशदतापूर्वक विचार किया है और साथ ही कला पर भी। उनके विचार संक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत है

लेखक और कवि का कार्य-साम्य—सार्त्र ने लेखक और कवि दोनो के कर्म को समान माना है। वह लिखते हैं, "यह यथार्थ है कि गद्यकार और और पद्यकार दोनो ही लेखन-कार्य करते है, किन्तु उनके लेखन-कार्य मे इसके अतिरिक्त और कोई अभिन्नता नही है कि दोनो के हाथ समान रूप से गतिशील रहते हैं और दोनो से ही अक्षर-रचना होती है अन्यथा इन दोनो के ससार इतने भिन्न हैं कि इनमे कोई संयोग सम्भव नही है और एक के लिए जो उत्तम है, वह दूसरे के लिए नही। गद्य स्वाभाविक रूप से उपयोगितावादी होता है। मैं सहर्ष पद्यकार की शब्दो के उपयोग करने वाले के रूप मे, परिभाषा करूँगा।'

और उत्साह के साहित्य की सजना करता है और मृत्यु की ओर उन्मुख रवि निराशावादी साहित्य की।

कलात्मक रचना के विषय में सार्त्र का विचार है कि उनके मुख्य उद्देश्यों में यह भावना आवश्यक है कि हम सासारिक सम्बन्धों में अनिवार्य हैं। उनका स्पष्ट कथन है, "मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपनी रचना के लिए अनिवार्य हू। मैं एक साथ रचना और भेदन नही कर सकता।" वह रचनात्मक कार्यों के लिए सृजन को आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्य का अस्तित्व केवल उसकी गतिशीलता में ही निहित है।

सार्त्र और अस्तित्ववाद—प्रत्येक आत्मवादी तथा अस्तित्ववादी विचारक की तरह सार्त्र भी आत्मचेतना को प्रमुखता देते ह जिसे वह आन्तरिकता कहते हैं। अस्तित्ववाद पर विचार करते समय सार्त्र का विचार है कि इस महा-शून्य में क्षुद्र मानव अपनी असीम प्रतीति के साथ अपना पूर्ण अस्तित्व रखता है। इस क्षुद्रता की ओर ध्यान देने से वह डर जाता है और यह भय की भावना ही अस्तित्ववाद की मूल-भावना है। इस मूल-भावना—भय के प्रति उसकी दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं—

(१) भय मिश्रित, रक्षात्मक तथा विरोध की प्रतिक्रिया।

(२) धार्मिक तथा ईशपरक स्वीकृति।

सार्त्र ने प्रथम को ही माना है। उनका विचार है कि मानव अपनी हीनता प्रमाणित हो जाने पर रक्षात्मक रूप में प्रतिक्रियाशील होकर विरोध करता है। यह बात दूसरी है कि इस निस्सीम विशालता में उसकी विद्रोहात्मकता कितनी छोटी है। क्षुद्र होते हुए भी यह विद्रोह उसकी चेतना तथा मानस की स्वतन्त्रता का उद्‌घोष तो करता ही है। यही रक्षात्मक विद्रोह भय के निराकरण के लिए मानव करता है, इसमें फल यह होता है कि जीवन का कोई भी अर्थ न होने पर भी जब तक व्यक्ति रहता है, अपने उत्तरदायित्व को समझता है और उसका पूर्ण निर्वाह करता है। उत्तरदायित्व की भावना आने से उसके कार्यों में एक प्रकार का सगठन-सा आ जाता है और उसके कार्य उच्छृखलता की सीमा तक नही पहुँच पाते।

सीमाएँ—सार्त्र के इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें यह माना गया है कि अस्तित्ववादी चेतन व्यक्ति की बात सभी मानेंगे। व्यावहारिक रूप से यह सही नही है। उन्होंने इसका कोई निदान नही दिया कि

क्षमता पर निर्भर करता है। (२) यह जिस कविता मे जितनी अधिक सम्प्रेषणीयता होगी, वह कविता उतनी ही अधिक प्रभावशाली होगी।

काव्य के सदर्भ मे मूल्यो की चर्चा करते हुए रिचर्ड्स ने सर्वप्रथम सौदर्य की बात कही। रिचड्स के अनुसार सौदर्य काव्य का एक सर्वथा निरपेक्ष मूल्य है। जीवन मे बहुविध आवेगो की अवस्थिति सर्वविदित है और इन आवेगो के मध्य समतोलन और असमतोलन बराबर बना रहता है। मनुष्य के मन मे तरह-तरह के मनोवेग उत्पन्न होते रहते हैं और उन मनोवेगों के मध्य व्यवस्था तथा समतोलन अत्यन्त आवश्यक है। विरोधी मनोवेगों को व्यवस्थित करने तथा उनमे समतोलन उत्पन्न करने का श्रेय सौन्दर्य को होता है और कदाचित् इसीलिए रिचड्स ने सौन्दर्य को अत्यधिक मूल्यवान स्वीकारा है। मानवीय मनोवेगो की चर्चा करते हुए रिचड्स मुख्यत दो प्रकार के मनोवेगो की सत्ता स्वीकारता है—प्रवृत्तिमूलक मनोवेग और निवृत्तिमूलक मनोवेग। मानव-मन इन्ही परस्पर-विरोधी प्रवृत्ति के मनोवेगो मे आक्रान्त रहता है। कला इन विरोधी मनोवेगो मे सन्तुलन और व्यवस्था स्थापित करती है। रिचड्स के शब्दों मे, "कला का मूल्य भी उसी बात मे है कि हमारे आवेगो मे सगति और सतुलन स्थापित करे, हमारी अनुभूतियो के क्षेत्र को व्यापक बनाए। साहित्य मनुष्य को परस्पर सहयोग के लिए प्रेरित करता है। साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मन स्थिति उत्पन्न कर देना है जिसमे आवेगो का सन्तुलन होने के साथ-साथ बाह्य क्रिया के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाए।"

सम्प्रेषण के प्रश्न पर विचार करते हुए रिचड्स स्पष्टत कहते हैं कि काव्य की सफलता की एकमात्र शर्त यही है कि कवि अपनी कविता के माध्यम से जो कुछ कहना चाहता है 'वह कुछ' कह पाया है अथवा नही। आलोचको का एक वर्ग सम्प्रेषण को आवश्यक नही समझता और उस वर्ग के अनुसार सम्प्रेषण की आवश्यकता केवल इसलिए होती है कि कवि अपने अनुभवो को कविता के भीतर सुरक्षित रख पाता है और साथ ही उनका प्रचार भी स्वत ही हो जाता है। इसके विपरीत रिचर्ड्स की मान्यता यह है कि सम्प्रेषणीयता कला का अन्तरग तत्त्व है। कला की सफलता का रहस्य सम्प्रेषण की सफलता मे छिपा है। वह तो यहाँ तक मानता है कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसने सामाजिक मन का विकास किया है, जो कुछ वह करता है (चेतन रूप से या अचेतन रूप से) सब दूसरो को निवेदित करता है।" इस प्रकार रिचड्स के

असफल रहता है। कवि अथवा कलाकार को सम्प्रेषण के सारे साधन जुटा लेने पर भी पाठक की ग्रहायिका शक्ति की अपेक्षा रहती है और यदि पाठक किन्हीं विशिष्ट मन स्थितियों के कारण कवि की बात सुन नहीं पाता तो निस्सदेह सम्प्रेषण सफल नहीं हो पाता। इस प्रकार एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि कवि के व्यक्तित्व में वे कौन-से गुण अथवा तत्त्व होते हैं जिनके कारण वह अपनी कविता को सम्प्रेषणीय बना सकता है। रिचर्ड्स ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि कवि की अनुभूति अत्यन्त विस्तृत और मूल्यमान होनी चाहिए। कवि की अनुभूति जितनी विस्तृत और मूल्यवान होगी, उसकी अभिव्यक्ति भी तदनुसार सजीव और सशक्त होगी। इसके साथ ही, यह भी आवश्यक है कि कवि तथा उसके पाठकों के मनोवेगों में एक प्रकार का साम्य हो। यदि इस प्रकार के साम्य का अभाव है तो कवि को कल्पना के सहारे उस साम्य को उत्पन्न करना चाहिए ताकि कवि और पाठक के मध्य किसी भी प्रकार का मानसिक अन्तर न उत्पन्न हो सके। इसी प्रसग में यह भी उल्लेख्य है कि अनुभूति अपने आप में जीवन्त क्षणों का समुच्चय होता है और सफल सम्प्रेषण के लिए यह भी आवश्यक है कि ये जीवन्त क्षण अधिकाधिक व्यवस्थित और सघटित हो। अव्यवस्थित अथवा असम्बद्ध रूप में व्यक्त किए गए मानवीय आवेगों में प्रभाव क्षमता नहीं रह जाती। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि कवि अथवा कलाकार के पास दूर तक फैली दृष्टि हो जिससे कि वह आवेगों को एक रस अथवा व्यवस्थित रूप में देख सके और व्यक्त कर सके।

सम्प्रेषणीयता पर विचार करते समय उन स्थितियों अथवा तत्त्वों पर भी विचार किया जाना आवश्यक है जो कि कवि तथा पाठक के मध्य दीवार बन कर खड़े हो जाते हैं और कवि के सम्प्रेषण को सफल नहीं होने देते। इस सम्बन्ध में रिचर्ड्स ने सर्वप्रथम असगत स्मृतियों की बात कही है। रिचर्ड्स के मतानुसार, "जब कभी किसी कृति को पढ़ते समय या उसकी व्याख्या करते समय व्याख्याता अपने अन्तवर्गीय उत्थान-पतन से प्रभावित हो जाए, किसी विचार-शृखला का उस पर दृढ आग्रह छा जाए, किसी मिलती-जुलती हुई पहले पढ़ी हुई कृति की स्मृति सहसा जागृत हो जाय तो अर्थ भग हो जाना स्वाभाविक है।" सम्प्रेषणीयता का दूसरा विरोधी तत्त्व अतिभावुकता होती

अथवा

मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्त क्या है ? क्या इस सिद्धान्त के साहित्य की समस्त विशेषताओं का आकलन हो जाता है ? स्पष्ट करें ।

वर्तमान साहित्य और आलोचना पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रगतिशीलता की दृष्टि से अत्यधिक प्रभाव पड़ा है । कार्ल मार्क्स के बाद के प्राय सभी साहित्यकारों और समीक्षकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी छाप डाली है । उन्होंने भौतिकवादी दृष्टि से साहित्य की जो व्याख्या की, उसने साहित्य का यथार्थरूप सामने रखा और उसके सन्दर्भ में जीवन-मूल्यों को पहचाना । मार्क्स के विचार नितान्त मौलिक पर व्यावहारिक हैं तथा उनमें जीवन की वास्तविकता के दर्शन होते हैं । यही कारण है कि कार्ल मार्क्स की प्रमुख गणना विचारकों तथा दार्शनिकों में होती है । यद्यपि कार्ल मार्क्स ने जीवन की अर्थवादी दृष्टि से विवेचना की है और उसका साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी, उन्होंने जिस अर्थ-प्रधान दर्शन की इस अर्थवादी युग में स्थापना की है, उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है और इसीलिए जीवन से घनिष्ठ साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है ।

मार्क्सवाद का दर्शन समाजवाद (Socialism) है और इसका मूल आधार वर्ग-संघर्ष है । मार्क्स ने सभी आदर्शवादी वृत्तियों का विरोध किया है और उन्हें व्यर्थ का भटकाव कहा है । उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) की वैज्ञानिक पद्धति का प्रतिपादन किया है । उन्होंने कला के सामाजिक तत्त्वों को अपेक्षा अधिक प्रधानता दी है ।

साहित्य का स्वरूप—कार्ल मार्क्स के अनुसार साहित्य और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध है और समस्त सामाजिक व्यवस्था का मूल-आधार अर्थ होने के कारण साहित्य का मूल-आधार भी आर्थिक व्यवस्था है । साहित्य में भी कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही मुख्यता दी है ।

वास्तव में मार्क्स ने लाभगत तथा उपयोगितावाद के सामाजिक दृष्टिकोण को अपने चिन्तन का विषय बनाया है । उनका पूर्ण सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है । उन्होंने आनन्दवाद के विरुद्ध भौतिकवाद की स्थापना की है । मार्क्स का स्पष्ट विचार है कि संसार में सभी कार्य अर्थवाद से प्रभावित होते हैं और जिस कार्य में जितना धन मिलता है, उसी अनुपात में उससे आनन्द भी प्राप्त होता है । इस प्रकार उन्होंने

रला जन-सामान्य की वस्तु न रहकर शासक वर्ग के हाथों की कठपुतली बन गयी। इसी तरह साहित्य भी उस समय शासक वर्ग की इच्छा का दास हो गया। बाद में पूँजीपतियों ने भी उसे अपने संकेतों पर नचाना आरम्भ किया। कालान्तर में समाज के दो भेद हो गए—शोषक और शोषित। जो वर्ग निर्धनों और असहायों का अपने धन के बल पर शोषण करता था वह शोषक कहलाया और जिसका शोषण होता रहा, वह वर्ग शोषित कहलाया।

कार्ल मार्क्स के अनुसार जो साहित्य लोकमंगल तथा मानव की स्वतन्त्रता के लिए था, वह शोषक वर्ग का अस्त्र बन गया और उसका दुरुपयोग होने लगा। क्योंकि समाज की आर्थिक अवस्था और व्यवस्था के अनुरूप साहित्य की रूपरेखा निर्धारित होती है। इसका कारण है कि शोषक वर्ग अपने धन से निर्धन साहित्यकारों को खरीद कर अपनी इच्छानुसार प्रोपेगेंडा करता है, फलत उसमें धनिकों की प्रशंसा और उनके मत का ही पूर्ण समर्थन होता है। जनता में पाप-पुण्य की भावना का प्रचलन भी इसी कारण हुआ क्योंकि साहित्य शोषक वर्ग का मुखापेक्षी था और पूँजीपतियों ने शोषितों को अपने अधिकार में रखने के लिए ही सन्तोष का उपदेश दिया। इसी कारण आगे चलकर संघर्ष का आरम्भ हुआ।

विवेचन—अब प्रश्न यह है कि मार्क्स के इस साहित्य-सिद्धान्त में क्या वास्तव में साहित्य का समग्रता से समाकलन हो सकता है अथवा इसे क्या सर्वांगीण सिद्धान्त माना जा सकता है। इस प्रश्न से विचार करते समय यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स की दृष्टि व्यावहारिक अधिक है और उन्होंने प्रत्येक कार्य को आर्थिक दृष्टि से ही देखा है, यद्यपि उनका यह दृष्टिकोण सही है, क्योंकि, सर्वत्र अर्थ की प्रधानता होने से प्रत्येक साहित्यकार अपने परिश्रम का फल अर्थरूप में ही चाहता है, पर इसका आशय यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि साहित्यकार पूर्णरूपेण शोषक वर्ग का दास हो गया है। साहित्य की यह दृष्टि एकांगी ही है, क्योंकि, सर्वांगीण रूप से विवेचन करने पर तो साहित्य का प्रधान लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और उसके लिए अर्थ या प्रभुत्व व्यर्थ है। साहित्य का अपना क्षेत्र है यद्यपि जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसका अर्थ से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर मार्क्स की यह दृष्टि एकांगी ही कही जाएगी और यही कहा जाएगा कि मार्क्स मात्र वस्तुपरक होकर ही रह गये हैं।

अनुक्रमणिका

विवेचन करना। पोप इस आधार पर समालोचक के कार्य को अधिक दायित्वपूर्ण मानता है। कारण, यदि कोई रचना सदोष है तो आलोचक को उसका दोषपूर्ण परीक्षण करना चाहिए, अन्यथा दोनो ही दोष के भागीदार होते हैं और दोष का प्रभाव कवि पर इतना अधिक नही पड़ता, जितना समालोचक पर पड़ता है। आलोचक को तो अविकृत रचना का सही-सही मूल्यांकन करना होता है। साधारण पाठक तो उस आलोचना के आधार पर ही अपनी धारणाएँ बनाता है, इसलिए यदि समालोचना दोषपूर्ण हो गई तो समाज मे गलत धारणाएँ प्रचलित हो जाती हैं।

पोप के अनुसार, इसलिए आलोचक का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह काव्य-रचना के सम्बन्ध मे अपेक्षित ज्ञान का अर्जन करे, फिर उसकी समालोचना तटस्थ भाव से करे। कवि तो सिद्धान्तवादी होता है, वह अपनी रचना मे अपने मत की व्याख्या व पुष्टि करता है, पर समालोचक को मतवादो मे सर्वथा तटस्थ एव निरपेक्ष होना चाहिए, जिससे वह किसी भी आग्रह से मुक्त रह कर काव्य का सही-सही आकलन कर सके। उसे अपनी शक्ति व सीमा के आधार पर ही किसी कृति की समालोचना के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

समालोचक के गुण—पोप समालोचक मे आत्मविश्वास की आवश्यकता पर विशेष बल देते हैं। उनका विचार है कि समालोचक को अपनी प्रतिभा या विवेचना को 'इदमित्थं' नही समझ लेना चाहिए, बल्कि साथ ही दूसरा की समालोचनाओ का भी अध्ययन और मनन करना चाहिए, फिर उसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए। ज्ञान की परिपक्वता आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। पोप ने माना है कि समालोचक को काव्य के भावपक्ष पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए तथा इसी आधार पर किसी भी काव्य का मूल्यांकन करना चाहिए।

पोप ने आलोचक के लिए निम्नलिखित नियमो का अनुसरण फलप्रद बताया है—

(१) प्रकृति तथा जीवन के नियमो का पालन।
(२) गर्वहीनता।
(३) कलाकार के उद्देश्य तथा भावो का ज्ञान।
(४) सम्पूर्ण काव्य को हृदयगम करना।

काव्यकला—पोप का विचार है कि काव्य मे चाहे कितनी ही गुण क्यो न हो, यदि वह समावेश से पूर्ण नही है तो वह काव्य हेय और निम्नकोटि का है। इसी मे काव्य और कला मे पृथकता ज्ञात होती है, अन्यथा दोनो मे एकसा ही सौन्दर्य है और दोनो मे ही आह्लाद और विषाद के तत्त्व निहित रहते है। "परन्तु ऐसी रचनाओ मे जिनमे न ज्वार आता है न भाटा, जो शुद्ध होते हुए भी भावविहीन होती हैं, जो एक ही गति मे मन्द-मन्द प्रवाहित होती रहती हैं और दोषो से बचती हुई एक ही रूप मे आबद्ध रहती है, उनमे दोष भले ही न मिलें, पर उनमे ऊब काफी रहती है।"

पोप काव्य को बँधी-बँधाई लीक पर चलने की प्रेरणा नही देते, अपितु वह, उसमे नवीनता का द्योतक भी चाहते हैं। वह अन्धरूढिवादिता को सत्साध्य के मार्ग मे बाधक मानते हैं। अत कवि को अनिर्वचनीय सौन्दर्य का पालन करना अति आवश्यक है। जब काव्य मे सौन्दर्य की मात्रा होती है तो वह काव्य समालोचकों द्वारा दोषी नही ठहराया जा सकता।

ऐसे साहित्यकारो को, जिन्हें प्राचीन परम्पराओ में दोष ही दोष दिखाई देते हैं, पोप ने भ्रमित माना है। पोप का विचार है कि काव्य-स्रोत मे गहरे पैठकर ही रसास्वादन किया जा सकता है। अत परम्परा का पालन भी अत्यावश्यक है।

कविता का प्रभाव—पोप का विचार है कि प्रकृति की भाँति कविता भी मानव-मन को निश्चय ही प्रभावित करती है, वरन् कभी-कभी तो कविता प्रकृति से भी अधिक मानव-मन पर प्रभाव डालती है। प्रत्येक कृति या कृतिकार अपनी भावनाओ के आधार पर सर्वोत्तम रूप प्रदान करता है, इसलिए यदि उसकी अनुभूति मे प्रभावात्मकता है तथा उसका ध्यान ठीक व पूर्ण है और आचरण सत्य है तो वह कृति कुछ दोषो के होते हुए भी कवि को यश का भागी बना देती है। इसीलिए पोप समालोचक को कलापारखी होना आवश्यक बतलाते है। इससे कविता का प्रभाव और भी अधिक बढ जाता है।

बहुत-से समालोचक कवि की रचना को छन्दो के आधार पर देखते हैं। यदि छन्दो मे प्रगति है तो कविता सुन्दर है और छन्द-विधान के शिथिल होने पर वे कविता को भी असुन्दर और हेय बना देते है। पर, छन्द ही कविता की एकमात्र कसौटी नही है। अनावश्यक छन्द-विधान भी कविता की प्रभावमयता को नष्ट कर देता है। छन्द-विधान ऐसा होना चाहिए जो भावो को और भी

रापें तथा ना वोम्यू ने जो स्थापनाएँ की, वे ही नव्यशास्त्रवाद के नाम से विख्यात हुईं। इन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आवश्यक और उत्तम बताया तथा उनके अनुकरण पर विशेष बल दिया। साथ ही, अरस्तू तथा होरेस आदि के नियम पर भी चलने को आवश्यक बताया। इसी आधार पर इन लेखकों ने साहित्य में विशुद्धता, भव्यता, अनुपात आदि तत्वों पर जोर दिया। आधुनिकता को इन विचारकों ने मात्र अव्यवस्थित मस्तिष्क की उड़ान बताया।

नव्यशास्त्रवाद के प्रसिद्ध विचारक और उनके विचार—नव्यशास्त्रवाद का प्रमुख विचारक बुअलो को माना जाता है। उन्होंने साहित्य के लिए कुछ नियम बनाए और उनके पालन पर उसी प्रकार जोर दिया जैसे एक सैनिक अपने नियम और अनुशासन का पालन करता है। उसका उल्लंघन उन्होंने अपराध माना है। कोई भी रचना तब तक उच्चकोटि की नहीं हो सकती, जब तक उसमें बनाए गए नियमों का पालन पूर्ण रूप से न हो। बुअलो का कहना था कि प्रत्येक साहित्य विधा के पृथक्-पृथक् नियम हैं और उनके पालन करने से ही रचना सफल होती है। ये नियम प्राचीन ग्रीक विद्वानों—होमर, वर्जिल, होरेस, थियोक्रिटस, ओविड आदि की कृतियों के आधार पर बनाए गए थे। बुअलो ने ग्राम्य काव्य-संवादों (eclogue) के लिए थिओक्रिटस और वर्जिल को, शोक-गीति के लिए ओविड को व्यंग्य-काव्य (Satire) के लिए होरेस तथा ल्यूसिलियस को त्रासदी, महाकाव्य एवं कामदी के लिए अरस्तू तथा होरेस के सिद्धान्त को आदर्श तथा अनुकरणीय माना है। रैने वैलेक ने भी इसकी पुष्टि की है और लिखा है—

"Neo-classicism is a fusion of Aristotle and Horace, a restatement of their principles and views which underwent only comparatively minor changes during almost three countries"

नव्यशास्त्रवादी विचारकों का यह स्पष्ट मत है कि उनके द्वारा बनाये गए नियम सार्वदेशीय और सार्वकालिक हैं, अतः उनका पालन सभी के द्वारा होना चाहिए। राइमर के सिद्धान्त भी इसी तर्क पर आधारित हैं और ड्राइडन व डेनिस की तरह उसने भी अरस्तू, होरेस आदि से प्रेरणा ग्रहण की है। डेनिस ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'The rules of Aristotle are nothing but nature and good sense reduced to a method"

Epic is moral instruction diguised under the allegory of Action"

ला वोस्यू ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि कवि पहले उन उपदेशो पर विचार करे, जो वह देना चाहता है और फिर उसी के अनुरूप विषय का चयन करे।

नव्यशास्त्रवाद और विरेचन—भावुक किस प्रकार काव्य का आनन्द प्राप्त करे और विरोधी रसो मे भी आनन्द प्राप्त करे, इस पर भी उन्होंने विचार किया है और विरेचन का अर्थ भय और करुणा के भावो का कठोर हो जाना तथा उनसे अप्रभावित रहने से लिया है। इसको उन्होंने एक उदाहरण से पुष्ट किया है कि जैसे कोई डाक्टर भयानक घावो को देखते-देखते और रोगी की चीख-पुकारो को सुनते-सुनते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार त्रासदी मे पाठक भी करुणा और भय के भावो का अभ्यस्त हो जाता है।

रचना-विधान सम्बन्धी विचार—नव्यशास्त्रवादियो ने कोई भी बात कवि की रुचि पर नही छोडी। उन्होंने रचना-विधान के सम्बन्ध मे भी विविध नियमो का निधारण किया। उन्होंने लेखक को सयम से काम लेने को कहा और अति मे बचने का परामर्श दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा—

"Restraint is the first lesson of writing Avoid sterile abundance Nothing too much, Let everything be in its place and the beginning and end respond to the middle"

समीक्षा—यद्यपि इन नव्यशास्त्रवादियो ने रचना के सम्बन्ध मे सभी प्रकार के नियम एव बन्धन बनाए तथा उसकी सीमाएँ भी निर्धारित की, पर उनकी विषय-वस्तु और रचना विधान के परस्पर सम्बन्ध-विषयक कल्पना बडी अस्वाभाविक और भोंडी रही। उन्होंने केवल बाह्याकार से सम्बन्धित स्थूल नियमो की ही व्याख्या की। रचना को वे खण्ड-खण्ड कर देखते रहे, उन्होने समग्रता से कृति की समालोचना के नियम नहीं बनाए और अलकारो आदि से प्रभावित होने के कारण ये लोग काव्य के अनुभूतिपक्ष का विवेचन भी नही कर सके। वे काव्य की बाह्यालकार साज-सज्जा पर ही विशेष बल देते रहे।

दूसरे, इनके नियमो आदि ने काव्य के क्षेत्र मे इतनी सीमाएँ सकुचित कर दी कि काव्य मे मौलिकता का ह्रास होने लगा और काव्य एक पद्धति-

सबसे बडा उदाहरण कहा है। इसी सन्दर्भ मे उन्होंने वस्तु मूलक प्रतिरूपता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि कविता एक वाचक सरचना (Verbal Structure) है जिनमे उन्ही भागो को सन्निहित किया जाता है जिनका सम्प्रेषण कवि को अभिप्रेत है।

इस प्रकार इस सिद्धान्त ने प्राचीन मान्यताओ का खण्डन किया और यह अस्वीकार किया कि कवि और कविता के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध होता है। इलियट के मत मे कविता स्वय मे पूर्ण एव समग्र इकाई है। उसका अपना पृथक अनुभव एव अर्थ है। वह किसी अन्य अर्थ अथवा अनुभव का सम्प्रेषण करती है और न ही उसे इस बात की अपेक्षा रहती है कि कोई उसके अर्थ की व्याख्या करे। कविता मे विचार (Idea), ज्ञान, अतीत का विवेक भावना (thought) परस्पर गुम्फित रहते है। साहित्य-रचना धर्म, दर्शन या नीति का स्थानापन्न न होकर अपने मे स्वय एक इकाई है। इस सबके होते हुए इलियट को 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का अनुयायी स्वीकार नही किया जा सकता।

इलियट का कथन है कि कला मे भाव-प्रदर्शन का एक ही मार्ग है और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण (Objective co-relative) का प्रस्तुत किया जाय।

"The only way of expressing emotion in the form of art is finding an objective corelative in, other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be formule of that particular emotion, so that when the enternal facts are given the emotion is immediately evoked"

इलियट ने अपने मत को दूसरे शब्दो मे इस प्रकार प्रस्तुत किया—ऐसी वस्तु सघटना, स्थिति, घटनाशृखला प्रस्तुत की जाए जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो, ताकि ज्यो ही ये वाह्य वस्तुएँ जिनका पर्यवसान मूतमानस-अनुभव मे हो तो प्रस्तुत करते ही भावोद्रेक हो जाए।

इस प्रकार इलियट के अनुसार नाटककार या कवि जो कुछ कहना चाहता है, उसे वह वस्तुओ की किसी सघटना, किसी स्थिति किसी घटना-शृखला के द्वारा ही कहता है। वह अपनी सवेदनाओ और अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुमूलक चिह्नो से काम नही लेता। फलत उसकी सवेदनाएँ एव

वरन् एक सामूहिक प्रक्रिया है। इस प्रकार उसके मत में साधारणीकरण का सार है—स्थायीभाव का साधारणीकरण।

आचार्य विश्वनाथ ने इस सिद्धान्त की समुचित व्याख्या करते हुए कहा कि विभावादि (विभाव, अनुभाव और सचारी भाव) के सम्मिश्रित व्यापार का नाम साधारणीकरण है। दूसरे शब्दों में, समस्त घटना-चक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाता है। इस कारण सहृदय समुद्र को लांघ जाने वाले हनुमान के साथ तादात्म्य स्थापित करने में सफल हो जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, काव्य या नाटक को पढ़ने अथवा देखते समय सामाजिक में सहृदयता के कारण एक विशेष भावना की उत्पत्ति होती है, जो वस्तुत एक दोष है। इस दोष के प्रभावस्वरूप सामाजिक की आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है। यह दोष ऐसा है जैसे सीपी के टुकड़े को देखकर चाँदी का भ्रम होना।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस समस्या पर विस्तार से विचार किया है। उनके मत का सक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

(क) सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है।

(ख) आलम्बन अथवा आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है।

इन दोनों व्यापारों का एक ही नाम है साधारणीकरण।

'आलम्बन' शब्द से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य आलम्बनत्व धर्म से है अर्थात् राम (आश्रय) और सीता (आलम्बन) के प्रणय-सम्बन्ध से सीता रूप आलम्बन का साधारणीकरण नही होता, अपितु सीतात्व का नायिका-भाव अथवा प्रेमिका-भाव का होता है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल के मत का सार है। सहृदय का आश्रयत्व धर्म के साथ तादात्म्य होता है, परिणामत आलम्बन धर्म का सामान्यीकरण होता है और इन दोनो का नाम साधारणीकरण है। दोनों व्यापार अपने समन्वित रूप मे ही मान्य है।

डॉ० नगेन्द्र के मत में साधारणीकरण न तो आश्रय (राम) का होता है और न आलम्बन (सीता) सीता का होता है, अपितु यह कवि की अनुभूति का होता है। इसी कारण माइकेल मधुसूदन दत्त रचित 'मेघनाद वध' जैसे ग्रन्थो मे आश्रय रूप रावण द्वारा राम की भर्त्सना के समय सहृदय की रसानुभूति मे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। डॉ० नगेन्द्र ने आलम्बन को कवि की अपनी अनुभूति का सम्बन्ध रूप मानते हुए उसका साधारणीकरण माना है।

प्रश्न १८—"स्वच्छन्दतावाद का उदय तत्कालीन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था और उसने युगान्तर उपस्थित कर दिया।" स्वच्छन्दतावाद के मूल सिद्धान्तों का परिचय देते हुए, उसकी समीक्षा कीजिए।

अथवा

"स्वच्छन्दतावाद नव्यशास्त्रवाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ और इसकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति ने काव्य को कृत्रिमता के बन्धन से मुक्त किया।" 'स्वच्छन्दतावाद' का परिचय देते हुए उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

१८वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तथा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में नव्यशास्त्रवाद के द्वारा जकड़े गए काव्य नियमों के विद्रोहस्वरूप यूरोप में एक नवीन साहित्यधारा का अभ्युदय हुआ जिसे विद्वानों ने स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की संज्ञा दी। इस विचारधारा का प्रतिनिधि रूसो था, उसने परम्परागत संस्कारों को बदलने में क्रान्तिकारी भावनाओं का उन्मेष किया। सन् १७८९ की फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से उत्पन्न विचारों ने स्वच्छन्दतावाद के जन्म की पृष्ठभूमि तैयार की और राजनीतिक क्षेत्र की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता की चाह, बन्धनों को काट फेंकने का उत्साह तथा प्रकृति के प्रति अदम्य अनुराग दिखायी दिया।

स्वच्छन्दतावाद का अभ्युदय तत्कालीन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप में जो राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न की, उसने साहित्य को भी प्रभावित किया और जैसे, जनता प्राचीन परम्परागत बन्धन काट फेंकने को सन्नद्ध थी, उसी प्रकार साहित्यकार भी नव्यशास्त्रवादियों द्वारा काव्य को नियमों के बन्धनों में जकड़े जाने के विरुद्ध विद्रोह कर उठे। यह वाद नव्यशास्त्रवाद के प्रति विद्रोह का परिणाम था। नव्यशास्त्रवादियों ने ग्रीक साहित्य को अपना आदर्श मानकर काव्य को शास्त्रीय नियमों में जकड़ दिया था, इससे साहित्य की आत्मा उपेक्षित-सी हो गई थी। नव्यशास्त्रवादी छन्दगत नियम, शिल्प, बाह्य अलंकार तथा भाषा-वैदग्ध्य के मोह में फँसकर उसके उद्देश्य को सुधारवादी मानने लगे थे। ये लोग विलक्षण, व्यक्तिगत तथा स्थानीय के विरुद्ध सामान्य पर बल देते थे। वे प्रकृति को सर्वत्र एक समान मानकर काव्य का उद्देश्य भी समान रूप से पाठकों को प्रभावित कर नीति की शिक्षा देना मानते थे। उनका स्पष्ट विचार था—

निय' और 'असत्य' से था। १६वीं शताब्दी से इसके अर्थ मे उत्कर्ष हुआ। जर्मनी मे इस शब्द का प्रयोग 'उपन्यास' के अर्थ में हुआ, फिर, प्राकृतिक दृश्यो के अर्थ मे आगे चलकर इस शब्द मे प्रेम और विषाद का मेल हो गया और इसकी अनेक व्याख्याएँ चल निकली। साहित्यिक रूप मे इसका प्रयोग सर्वप्रथम 'फ्रांस' मे हुआ। इसका अर्थ था—'साहसशील, भावनाशील और कल्पनाशील।' बाद मे रोमाण्टिसिज्म के साथ जुडकर इसके अर्थ मे उन्मुक्तता का समावेश हुआ जो राज्यक्रान्ति के बाद विद्रोहात्मक प्रवृत्तियो का व्याख्याता हो गया। इसका समय इसका अर्थ हो गया—"काव्य की मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली।" इसमें स्वतन्त्रता की लालसा तथा बन्धनो का त्याग मुख्य हो गया। साहित्य मे इसके द्वारा प्रकृति को प्रमुखता दी गयी और व्यक्ति की महत्ता भी बढ गयी। यथा—

"This was a time to emphasis upon the individual, with sublime confidence in the supreme will of an earnest and dedicate man."

स्वच्छन्दतावादी इस जगत् से दूर रहकर आत्मानन्द देना चाहता है। वह दुःखवाद से प्रभावित होकर अपने को दुखी देखने मे ही सुख का अनुभव करता है। यही कारण है कि उसमे व्यक्ति की प्रधानता हो जाती है। स्वच्छन्दतावादी कवि नियमो और परम्परा का उल्लंघन करता है, और यथार्थ व समाज के प्रति विद्रोह करता है। वह अनियन्त्रित भावनाओ मे ही विहार करता है और सभी वस्तुओ को अपनी ही दृष्टि से देखता है।

स्वच्छन्दतावादी कवि इसलिए व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से काव्य को देखता है और स्वच्छन्दतावाद मे कल्पना का प्राचुर्य मिलता है।

स्वच्छन्दतावाद की विशेषताएँ—यहाँ हम सक्षेप मे स्वच्छन्दतावाद की विशेषताओ पर प्रकाश डालेंगे, जिनसे उनका स्वरूप—विशेषकर अंग्रेजी काव्य की स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का स्वरूप स्पष्ट हो सके।

(१) विद्रोह की प्रवृत्ति (Spirit of Revolt)—फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से सम्बद्ध होने के कारण राजनीतिक प्रभाव मे स्वच्छन्दतावाद मे भी विद्रोहात्मकता है। स्वच्छन्दतावादी कवि न केवल भौतिक शक्तियो के अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध है, अपितु वह नीति, धर्म, साहित्यिक परम्पराओ तथा शास्त्रीय नियमों के भी प्रति विद्रोही है। स्वच्छन्दतावाद भाषा-शैली और विषय

यह कल्पना का ही प्रभाव था कि उसने काव्य को अद्भुत और मनोरम बना दिया। इन्होंने स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमानो का प्रयोग किया है और इसीलिए इनका काव्य अमूर्त, सूक्ष्म, विरल और मादक हो उठा है। इसीलिए मैथ्यू आर्नाल्ड स्वच्छन्दतावादी कवि शैली के लिए लिखता है कि वह ऐसा देवदूत है जो अपने चमकीले पखो को शून्य मे फडफडाता है। (He is inefficctual angel veating in puminous wings in void in vain)

(४) जगत से पलायन (Escape From world)—स्वच्छन्दतावाद की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति वास्तविक जगत् से पलायन करने की प्रवृत्ति है। स्वच्छन्दतावादी कवि ससार की सकीर्णताओ और कठोरताओ से ऊबकर एक ऐसे स्वप्नलोक मे विचरण करता है, जहाँ इस ससार की कोई बाधा-व्याधा नही होती है। वह इस जगत को छोडकर ऐन्द्रिय जगत् मे घूमने लगता है और इसी ऐन्द्रियजन्य जगत् का सौन्दर्य उसे लुभाता रहता है—उसी से वह प्रेरणा ग्रहण करता है और प्रकृति की मनोरमता मे खो जाता है—इन्द्रधनुष के विविध रगो मे स्फूर्ति ग्रहण करता है।

(५) अदभुत तथा आश्चर्य के प्रति मोह—स्वच्छन्दता मे कल्पना के प्राचुर्य तथा वास्तविक जगत् से पलायन होने के कारण अद्भुत तथा आश्चर्य का भी पर्याप्त समावेश हो गया है। स्वच्छन्दतावादी कवि यान्त्रिकता तथा भदेसपन को छोडकर अद्भुत के प्रति आग्रहशील हो उठा। इसी प्रवृत्ति ने रहस्यवाद को जन्म दिया और काव्य मे अतिमानवीय (Super natural) तत्वो का समावेश हो गया। इसके द्वारा काव्य मे ऐसी सानेतिकता आ गयी जो उसे अधिक प्रभावशाली बना देती है और पाठक की कल्पना को स्पर्श करती है। वाट्स डण्टन ने इस प्रवृत्ति को 'अद्भुत' का पुनर्जागरण कहा है।

(६) वैयक्तिकता की भावना (Spirit of Subjectivity)—स्वच्छन्दतावाद मे व्यक्तिवाद को भी प्रमुखता दी गई है। इसमे कवि अपनी रुचि, अपनी भावना और अपनी दृष्टि को ही प्रधानता देता है। अत इसके प्रबन्ध काव्य मे नायक आत्मकेन्द्रित व्यक्ति होता है। सर्वत्र कवि की दृष्टि से ही काव्य की सर्जना होती है, इसी कारण काव्य का सम्बन्ध वैयक्तिक भावनाओ से हो गया—जीवन मे स्वच्छन्दतावादी कवि कोई सम्बन्ध नही मानता। इसी आत्मानुभूति के कारण कवि विवेक के स्थान पर काव्य मे अपनी आकाक्षा, आदर्शमयता, भावुकता, अतृप्ति और वेदना का चित्रण करता है। वह अरू.

की है । रोमाण्टिक कवियों ने प्रकृति को अपने सुख-दुख से अनुप्राणित माना है । वह आह्लादमयी ही अधिक है ।

(१०) संगीतात्मकता—स्वच्छन्दतावादी कवि ने काव्य में गीतिमयता पर भी विशेष जोर दिया । संगीतात्मकता और गीतिमयता के समावेश का कारण यह है कि ये कवि अपने हृदयोद्गारों की निष्कपट अभिव्यक्ति करते थे और जिससे परिणामस्वरूप कविता भावों का सहज उच्छलन हो गयी । इसीलिए स्वच्छन्दतावादी कविता में अन्त प्रेरणा (intution) है, भावमयता है, निर्बाध प्रवाह (spontaniety) है और है अन्त स्फूर्ति ।

निष्कर्ष—समग्रत कहा जा सकता है कि रोमाण्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) ने काव्य को प्राचीन जर्जरा कारा से निकालकर मुक्त आकाश के नीचे विस्तीर्ण जगत् में विचरने की प्रेरणा दी । यद्यपि इसने परम्परा, रूढ़ि और नियमों का तोड़ा तथा स्वतन्त्र भावाभिव्यक्ति का अवसर दिया तथा प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप को अपनाया, लेकिन वह स्वयं में इतना सकुचित हो गया और दुख, व्यक्तिपरक कष्ट आदि के कारण इतना एकांगी हो गया कि इसमें से उदात्तता पूर्णरूपेण चली गयी । काव्य वैयक्तिक भावनाओं का प्रस्फुटनमात्र होकर रह गया—यही इसकी न्यूनता है ।

प्रश्न १६—अस्तित्ववाद किसे कहते हैं ? पश्चिम में इसका उदय किन कारणों से हुआ ? इसकी समीक्षा करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

अस्तित्ववाद ससार की आधुनिकतम विचारधारा के रूप में एक विशिष्टता रखता है । यह मूलत दार्शनिक प्रणाली है पर साहित्य अथवा काव्य में भी इसका विशेष प्रभाव लक्षित होता है । इसका समग्र विवेचन फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक ज्यांपाल सार्त्र ने किया है और उसे जर्मनी के हुसरेल, हेडेगर तथा डेनमार्क के कीर्कगार्ड ने और भी आगे बढ़ाया है । आज अस्तित्ववादी विचार-धारा किसी स्थान अथवा देश तक सीमित न रहकर समग्र विश्व के विचारकों द्वारा मान्य हो चुकी है ।

अस्तित्ववाद का स्वरूप—अस्तित्ववाद आध्यात्मिक सकट, गतिरोध अथवा सभ्रान्ति का दर्शन है । वह सकटापन्न स्थिति ही इस विचारधारा के प्रति अन्याय विचारकों के आकर्षण का कारण है । इसके अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में सकट विद्यमान है । प्रत्येक सत्य जो अनेक अनुभवों

अस्तित्ववाद का विकास—अस्तित्ववाद का विकास पराभववाद से हुआ है। सारतत्व की विवेचना करते समय दार्शनिकों ने जीवन को उसी के अन्तर्गत माना है। आध्यात्मिक संकट के परिष्करण के लिए १६वीं शताब्दी मे दो वर्गों का आश्रय लिया—आदर्शवाद और निश्चितवाद का। आदर्शवाद एक ऐसे दर्शन का निर्माण करता है जो अपने मे विचारों के अतिरिक्त किसी अन्य बाह्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता। पर निश्चितवाद ज्ञान तथा दैवी कृपा के स्थान पर संसार के सामाजिक व प्राकृतिक वास्तविक तथ्यों की सत्ता मानता है। इन दोनों विचारों से दो नए रूपों का जन्म हुआ—पहले से उत्कट मानववाद की सृष्टि हुई तथा दूसरे से आवश्यक वस्तुवाद का जन्म हुआ। कला के क्षेत्र मे यही धारणाएँ स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद के रूप मे प्रस्फुटित हुईं।

बाद मे स्वच्छन्दतावादी विचारधारा इतनी प्रबल हो गई कि पुन दर्शन के क्षेत्र मे संक्रान्तिकाल आया जो बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक रहा। इस समय अनास्था का जन्म हुआ और अराजकता की स्थिति बनी रही। इस समय अस्तित्ववादी विचारधारा एक फैशन के रूप म आयी, जिसे लोगों ने पराभववाद के रूप मे स्वीकार किया।

आरम्भ मे यह पराभववाद साहित्य के क्षेत्र मे साहसिकता के रूप मे उदित हुआ और इसी से जर्मनी अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद आशा के स्थान पर, इसलिए, निराशा को महत्त्व दिया करता है और यह मानता है कि कोई भी स्थिति तभी तक रह सकती है जब उसके साथ अस्तित्व का भी आनन्द हो। डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।'

अस्तित्ववादी विचारधारा युग-संस्कृति मे आए हुए पराभव के तत्त्वों की सैद्धान्तिक व्याख्या करती है। यह मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती।

इसकी शैली व भाषा काव्य मे प्रयुक्त होने के कारण संदयवादी है। इसके साहित्यिक प्रभाव का भी अनेक ग्रन्थों मे वर्णन हो चुका है। विशेष रूप से, अस्तित्ववादी मृत्यु के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। लियोपॅड ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परम्परा मे अस्तित्ववाद

सारतत्त्व के द्वारा वह एक विशिष्ट मानव अवश्य बन जाता है। सार्त्र का तो यहाँ तक कहना है कि व्यक्ति की जाति, चेतना, काय का स्वरूप, उसके विचार और भाव भी उसके निर्माण के हेतु हैं, मनुष्य आज जो कुछ भी है, उसका भविष्य इसी पर निर्भर करता है। अस्तित्ववादी दृष्टि आशावादिता और प्रगतिशीलता पर निर्भर करती है। मनुष्य के भावावेग भी स्वतन्त्र हैं, उसके कार्य बिना किसी उद्देश्य के किए जाते हैं।

अस्तित्ववादियों के अनुसार मृत्यु, संघर्ष, दुख आदि मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाएँ हैं। इनमें से मृत्यु संयोगात्मक है, जिसे मनुष्य भूला रहता है तथा इससे बचने की चेष्टा करता है, यद्यपि यह जीवन का अनिवार्य अंग है। पर मृत्यु के वैयक्तिक अस्तित्व की सम्भावनाएँ समाप्त नहीं होतीं, केवल घुट जाती हैं क्योंकि, किसी जीवन की मृत्यु उसके शरीर को प्रियजनों से भले ही छीन ले, चेतनागत भावनाओं को नहीं मिटा सकती। अतः मृत्यु भी जन्म की तरह एक तथ्यमात्र है। इसीलिए वह मानव-शरीर को अस्तित्व का अनिवार्य हेतु स्वीकार करते हैं और मानव-चेतना के लिए शरीर को आवश्यक मानते हैं। मानव में एक चेतना ही ऐसा तत्त्व है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करता है।

सार्त्र ने ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार नहीं की है। वह इसका कारण बताते हुए लिखते हैं—

"All existing being are born without reason, continue through weakness and die by accident"

महत्त्व—अन्त में, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद में व्यक्ति का चित्रण साधारण की अपेक्षा विशेष है और यह आत्मगत विवेक पर विशेष बल देता है। लेकिन, साथ ही, इसमें जो उत्तरदायित्वहीनता पाई जाती है, उसके कारण यह उच्छृंखलता को ही जन्म देता है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि इस दार्शनिक सिद्धान्त ने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और अपने शुद्ध रूप में यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि, यह व्यक्ति को अपने निर्माण और आदर्श-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है।

प्रश्न २०—'काव्य में उदात्त-तत्त्व' विषय पर एक निबन्ध लिखिए।

काव्य में उदात्त-तत्त्व पर पाश्चात्य विचारकों ने विस्तार में विचार किया है। उदात्तता पर मुख्य रूप से विचार लोंजाइनस ने किया है, पर

और भावावेश की तीव्रता को अन्तरग तत्व के अतगत लिया गया है, क्योकि, इनका सम्बन्ध काव्य की भावनाओ से है।

(क) **उदात्त विचार या धारणओ की गरिमा**—कवि की कोई भी कृति तब तक महान् नही हो सकती, जब तक उसमे महान् धारणाओं की क्षमता नही होती। उदात्त विचारो का पोषण आत्मा के द्वारा होता है। अत यह गुण अर्जित न होकर स्वाभाविक ही होता है। इसे प्रतिभा द्वारा सिद्ध भी कह सकते हैं। कवि को क्षुद्र और हीन विचारो से मुक्त होकर महान् व उदात्त भाव का निस्सरण ही करना चाहिए। श्रेष्ट रचना के लिए विषय का विस्तृत होना आवश्यक है। डा० नगेन्द्र ने भी इसके विषय मे लिखा है—"विषय ऐसा होना चाहिए जो पाठक-श्रोता पर स्थायी प्रभाव डाले, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नही लगभग असम्भव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे।"

विचारो की भव्यता और उदात्तता के सम्बन्ध मे लाजाइनस के मत को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(क) विचारो की भव्यता के बिना महान् एव अमर रचना सम्भव नही।

(ख) विचारो की भव्यता से तात्पय मन की ऊर्जा से है।

(ग) विचारो की भव्यता प्राय प्रकृति की देन होती है।

(घ) विचारो की भव्यता स्वाभाविक रूप से उदात्त शैली मे अभिव्यक्ति पा जाती है।

(ङ) विचारो की भव्यता महान्-कृतियो के अनुशीलन द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है।

(च) विचारो की भव्यता का अन्य साधन है—रचना मे महत्त्वपूर्ण ब्योरो का चुनाव और उनके सगठन द्वारा एकता तथा विशद बिम्बो की योजना जिससे पाठक अथवा श्रोता पर उत्कष्ट तथा स्थायी प्रभाव पड़े।

(ख) **उदात्त भावावेग अथवा भावो की तीव्रता**—उदात्त का दूसरा तत्व, जो उसके अन्तगत तत्व से सम्बद्ध है, उद्दाम और प्रेरणाप्रसूत भव्य आवेग है। कोई रचना तभी महान् होगी, जब उसमे आवेगो की भव्यता होगी। लोजाइनस का इस सम्बन्ध मे स्पष्ट विचार है, "जो आवेग उन्माद उत्साह के साथ उद्दाम वेग से फूट पडता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दो मे विक्षेप

आलोचकों ने दिया है, उनमें लोंजाइनस का विशेष महत्व है। उसका ही अनुसरण, परवर्ती आलोचकों ने भी किया है। डा० शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार, "भावोत्कटता, अलौकिक कल्पना-ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव-क्षमता आदि जिन गुणों का उल्लेख लोंजाइनस ने किया है, ब्रेडले ने भी, असीम शक्ति, के अन्तर्गत उन्हें स्वीकार किया है।"

बेनजानसन भी विचार और भाषा के सम्बन्ध में इसी तरह के विचार अभिव्यक्त करते हैं, यथा—

"In all speech words and sense are as the body and soul"

डा० नगेन्द्र भी 'काव्य में उदात्त तत्त्व' में उदात्त के स्वरूप और उसके औचित्य पर विचार करते समय लिखते हैं कि भाषा का प्रयोग संयत होना आवश्यक है, अन्यथा "असंगत भाषा का प्रयोग छोटी-छोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुँह पर पूरे आकार वाला भामद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है।"

इस उदात्त के लिए सुंदर का समावेश आवश्यक होता है, क्योंकि, तभी पाठक की भावना का किसी कृतिकार की रचना से तादात्म्य हो पाता है।

प्रश्न २१—क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का संक्षेप में उल्लेख करते हुए उसकी सीमाओं का निर्धारण कीजिए और इसके सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण की समीक्षा का इसकी उपयोगिता पर विचार कीजिए।

अभिव्यंजनावाद (Expressionism) का मूल स्रोत उस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से है जो परम्परा, रूढ़ि, नियम आदि का विरोध करती है। इसी वाद के परिणामस्वरूप 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त का अभ्युदय हुआ और उसकी व्यक्तिवादी प्रतिष्ठा को मान्यता दी गई। अभिव्यनावादियों का विचार है कि आत्मा के आलोक से ही वास्तविक सत्य का दर्शन हो सकता है। अतः कलाकार को अपनी व्यक्तिगत दृष्टि अभिव्यक्त करनी चाहिए। सत्य की यथार्थपरक व्याख्या करके उसकी व्याख्या आत्मा के सत्य के आलोक में करनी चाहिए।

अभिव्यंजनावाद का अभ्युदय क्रोचे के दार्शनिक विचारों से माना जाता है। उन्होंने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से साहित्य और कला की समस्याओं पर विचार किया। इस दृष्टि से उसकी कृति 'एस्थेटिक्स' का साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

है। क्रोचे ने विचार से मूल वस्तु की यह कल्पना है जो अभिव्यक्तिगत कलात्मकता को प्राप्त होती है। उन्होंने 'ऐस्थिटिक' ग्रन्थ में अभिव्यजना को बाह्य-तत्व के रूप में और कल्पना को आन्तरिक-तत्व के रूप में स्वीकार किया है। जो कुछ बाह्य है, वह काव्य नहीं है—

"The work of art (the aesthetic work) is always internal, and that which is called external in no longer a work of art

ये बाह्य अभिव्यक्तियाँ—चित्र, मूर्ति, कला, कविता आदि कला नहीं है, स्मृति सहायक है। इनकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुन प्रस्तुत कर लेता है। अत क्रोचे के अनुसार, अभिव्यजना बाह्य होकर भी आन्तरिक होती है, जिसे कवि अपने शब्दो मे व्यक्त करता है।

कला का आनन्द—क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति मे प्राप्त आत्म-मुक्ति जैसा आनन्द है। जैसे आत्मा की मुक्तावस्था मे साधक को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के बाद कलाकार को भी अपार आनन्द की उपलब्धि होती है। अभिव्यक्ति मे कोई भेद-विभेद भी नहीं है—या तो अभिव्यक्ति है नहीं और यदि है तो वह सफल अभिव्यक्ति है उसमे किसी तरह विभेद नहीं है—

"Beauty is successful expression, or better expression and nothing more, because epxression when it is not successful, is not expression"

अभिव्यजना स्वरूप—अभिव्यजनावाद या एक्सप्रेशनिज्म (Expressionsim) कलात्मक अभिव्यक्ति के स्वरूप को कहते हैं। अभिव्यजना किसी परिस्थिति के मूल आवेग की बाह्याकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। डा० प्रेमनारायण टण्डन के अनुसार, 'एक्सप्रेशन' का अर्थ या तो "किसी आन्तरिक तथ्य का बाह्याकार प्रकट या स्पष्ट करना प्रतिनिधित्व करना या सामान्य रूप से एक वस्तु द्वारा दूसरी की ओर सकेत करना होता है।"

अभिव्यजनावाद का आरम्भ—यद्यपि इसके मूल १९ वीं सदी के अन्तिम चरण मे ही मिलने लगते हैं—पर प्रथम महायुद्ध के बाद इसका विकसित रूप जर्मन साहित्य मे विशेष रूप से नाटको मे मिलता है। फ्रैंक वैडकाइण्ड के 'अवेकनिंग ऑव स्प्रिंग' तथा आगस्ट स्ट्रिडबर्ग के 'द स्पूक सोनॉटा' आदि नाटको मे यह बीज रूप मे मिलता है। पर इसका विशदता से वर्णन क्रोचे के

है, तो फिर आलोचक उसकी कलाकृति को देखकर वैसी सहजानुभूति कैसे प्राप्त कर सकेगा।

क्रोचे ने इस पर ध्यान नही दिया कि कलाकार का काम दूसरो तक अपने भावो को पहुँचाना है कलाकृति दूसरो को प्रभावित करने—उनको आनन्द प्रदान करने, शिक्षा देने या उनका भावोत्कर्ष करने के लिए निर्मित होती है। अत क्रोचे ने जिस प्रकार के आदर्श कलाकार की कल्पना की है, वह यथार्थ जगत् मे मिलना असम्भव ही है।

क्रोचे ने अपने सिद्धात मे जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की है। पर, सच तो यह है कि जीवन और कला का अटूट सम्बन्ध है। कलाकार को जीवन की वास्तविकता पर ही कला का निर्माण करना पडता है। अत कलाकार जीवन की उपेक्षा नही कर सकता। इस तरह क्रोचे ने व्यवहारिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी है।

निष्कर्ष—समग्रत कहा जा सकता है कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद आत्मा की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। पर यह मूलत सैद्धान्तिक ही है, जो दर्शन से सम्बद्ध है, काव्य-शास्त्र या कला-विवेचन मे इसमे अनेक दोष दिखाई देते हैं। फिर भी इसका महत्त्व निर्विवाद है। यह विचारधारा सौन्दर्य-चिन्तन का आधार लेकर अधिक व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। क्रोचे ने अभिव्यंजना को अन्तरग बताया है जो स्वय मे कला और साहित्य की चरम परिणति है। आगे चलकर यद्यपि अन्य वादो की भांति इस वाद के क्षेत्र मे भी अनेक प्रकार के खण्डन या प्रचलन हुआ, पर विशुद्ध सौन्दर्यवाद दृष्टिकोण से साहित्य अथवा कला का परीक्षण करने वाले एकमात्र मानदण्ड के रूप मे इस विचारधारा का विशिष्ट महत्व निर्विवाद है।

प्रश्न २२—आदर्शवाद के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके जीवन-मूल्यो, क्षेत्र-विस्तार तथा महत्त्व का समीक्षात्मक मूल्याकन कीजिए।

अंग्रेजी शब्द आइडियलिज्म (Idealism) का हिन्दी पर्याय आदर्शवाद है, इसे विचारवाद भी कहा जाता है, क्योकि, आइडियलिज्म आइडिया (Idea) शब्द से बना है और आइडिया (Idea) का अर्थ विचार होने से आदर्शवाद को विचारवाद भी कहते हैं।

साहित्य मे आदर्शवाद का प्रयोग अधुनातन विचारधारा नही है, अपितु यह अत्यन्त प्राचीनकालीन विचारधारा है। साहित्य के उदय के साथ-साथ

को एकदम सन्तोष प्राप्त नहीं होता इसकी प्रक्रिया बड़ी लम्बी है, इसीलिए कल्पना और विचार शक्ति उसे सदैव खोजने के प्रयत्न मे लीन रहती है। यही कारण है कि आदर्शवादी साहित्यकार अपनी रचना मे सदैव सत्य तथा न्याय की प्रतिष्ठा करता है और अन्त में सद्वृत्तियो की विजय दिखाता है।

आदर्शवाद के भेद—आदर्शवाद मूलत एक ही है, पर सिद्धान्त और व्यवहार के आधार पर उसके दो भेद किए जा सकते हैं। डा० नगेन्द्र ने इन दो भेदो का वर्णन करते हुए लिखा है कि आदर्शवाद के दो भेद होते हैं—

(१) कल्पना-विलासी आदर्शवाद।

(२) व्यावहारिक आदर्शवाद।

कल्पनात्मक आदर्शवाद मे साहित्यकार काल्पनिक आनन्द मे अपनी क्षुधा की तृप्ति करता है और कल्पनाजन्य रमणीय क्रीडाओ मे रमा रहता है वह अपनी कल्पना मे ही आदर्शवाद के चित्र खीचता रहता है। इस प्रकार के लेखक केवल कल्पना प्रिय ही होते हैं इन लेखको पर व्यग्य करते हुए कहा गया है—

They are riding on horse-back in Vacuum "

दूसरे प्रकार का आदर्शवादी व्यावहारिक होने के कारण वस्तुजगत् का आदर्शवादी पर्यवेक्षण करता है और कल्पना की रगीनी व मादकता मे खोने की अपेक्षा सयम, विवेक और महत्त्वाकाक्षा पर अधिक बल देता है। उसके आदर्श व्यावहारिक समाधान देते हैं और नैतिकता के स्तर पर ही आधृत होते हैं। ऐसे आदर्श मानव को ससार मे उन्नति करने की प्रेरणा देते हैं।

आदर्शवाद का जीवन-मूल्यों से सम्बन्ध—आदर्शवाद मानव को आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करता है और असीम सत्ता के प्रति समर्पण की भावना को भी जाग्रत करता है। वह ससार को क्षणभगुर मानता है और जीवन भी वास्तव मे नाशवान है, पर इसमें भी ऐसे अनेक सत्य हैं जो शाश्वत और चिरन्तन हैं। आदर्शवाद ऐसे ही शाश्वत जीवन-मूल्यो की विवेचना करता है। ये जीवन मूल्य नैतिकता पर आधारित होते हैं और मनुष्य को प्रगति की ओर ले जाते हैं, उसे ईश्वरीय सत्ता का बोध कराते हैं तथा न्याय, सच्चाई, मर्यादा और सयम की महत्ता बताकर उस पर चलने की प्रेरणा देते हैं। ये जीवन मूल्य की उदात्तता के सूचक होते हैं तथा उस सामर्थ्य से युक्त होते हैं जो जीवन के लिए एक प्रकार की प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। इस शक्ति

समझा जाता है, पर यही इसकी माधकता का सबसे प्रबल आधार है, वह इसी से ससार के स्वरूप-परिवर्तन में विश्वास करता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे दो प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—सद्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति। जो जीवन के सर्जनात्मक पक्ष पर केन्द्रित रहकर सृजन के प्रेरणात्मक तत्वो का निर्माण करती है, उसे सद्प्रवृत्ति कहते हैं और जो जीवन के यथार्थ चित्रण की सारहीनता के कारण उसके विनाशात्मक तत्वों का अनुप्राणन करती है, उसे दुष्प्रवृत्ति कहते हैं। मानव मे ये दोनों प्रवृत्तियाँ समान रूप मे विद्यमान रहती हैं। आदर्शवाद इनमें से सद्प्रवृत्तियो के उत्थान पर बल देता है—यद्यपि वह जीवन की वास्तविकताओं से भी भली-भाँति परिचित होता है।

आदर्शवाद की विशेषता—आदर्शवाद जीवन को अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर कल्पित कर सभावित जीवन का स्वरूप-निर्देशन करता है। यह स्वरूप यद्यपि यथार्थ पर ही निर्भर होता है, पर वह इस यथार्थ का समर्थन न करके उसका भव्यरूप ही प्रस्तुत करता है। आदर्शवाद की सबसे बडी विशेषता यही है कि वह जीवन की यथार्थता से विमुख न होकर भी, उसकी यथार्थता को दृष्टिगत रखते हुए उसके उदात्तीकरण की सम्भावनाओ पर विचार करता है। वह जीवन की कल्याणता और सृजनशीलता का निर्देशन और समर्थन करता है। इसी से आदर्शवाद को शाश्वत सिद्धान्त भी कहा जाता है।

आलोचना—इस पर भी आदर्शवाद सर्वथा आक्षेप-विहीन सिद्धान्त नही है। इस पर सबसे बडा आक्षेप यही है कि यह जीवन की वास्तविकताओं को नकार कर पूर्ण काल्पनिक लोक मे लीन रहता है। यथार्थ का चित्रण न होने से यह जीवन के निकट न लगकर कल्पना लोक की सर्जना लगता है। अत व्यवहार की दृष्टि से इसका कोई मूल्य नही रहता, इसका मात्र सैद्धान्तिक रूप ही रह जाता है।

आदर्शवाद के विरोध मे एक तर्क यह है कि यह ऐसी विचारधारा है जो भावात्मक तथा कल्पनात्मक तत्त्वो पर आधारित है। पर इस आक्षेप पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यह आधार लिया यथार्थ से ही जाता है। यथार्थ की इसमे पूर्ण उपेक्षा नही है। यथार्थ मे जो विरोध है, जो त्रुटियाँ हैं, साहित्यकार उनका अपनी कल्पना से सम्भावित निदान प्रस्तुत करके एक ऐसे आदर्श की कल्पना करता है जो इन निदानो से युक्त होता है।

प्रसार इग्लैण्ड, जर्मन तथा अन्य महाद्वीपो—अमरीका आदि मे भी हुआ और तब लार्फोज, रिम्बो, मालार्मे आदि प्रतीकवादियो ने इसका विशद् विश्लेषण करके आन्तरिक और बाह्य का अन्तर समाप्त कर दिया और इसमें आध्यात्मिक सकल्पनाओ की स्थापना की। कवि ने इसमे आदर्श तथा सौन्दर्य तत्त्वो का समावेश किया। साथ ही, रहस्यवादी तत्त्व का भी इसमे समावेश हो गया। पारनेशनिज्म और यथार्थवाद के विरोध मे लिखी गई, वेग्नर की कविता से प्रभावित नवीन कविता को प्रतीकवाद के अन्तर्गत रखा गया।

बाद मे प्रतीकवाद का दर्शन मे भी समावेश हो गया और बर्गसां के अधचेतन के दर्शन से प्रारम्भ होकर १६वी सदी के उत्तरार्द्ध में होने वाले आदर्शवादी आन्दोलन से भी इसका सम्बन्ध जुड गया। प्रतीक की सहायता से कल्पना अधिक सूक्ष्म, सक्षिप्त एव सुन्दर बन जाती है, अत उसका अभिव्यजनावाद स भी पर्याप्त साम्य दिखाई देता है और, चूँकि यह व्यक्तिगत रूप से प्रतीको के रूप मे दृश्यो का चित्रण करता है, अत इसका स्वच्छन्दतावाद से भी सम्बन्ध हो जाता है। प्रतीकवाद का प्रभाव जर्मन कवि रिल्के, रूसी लेखक ब्लोक, आइरिश कवि यीट्स, अमरीकन कवि हैरयान तथा वाल्ट ह्विटमैन पर पर्याप्त मात्रा मे पडा है। पर इसके प्रमुख कवि मालार्मे ही माने जाते हैं।

प्रतीकवाद न जर्मन की आदर्शोन्मुख दार्शनिक विचारधारा को भी प्रभावित किया। हीगेल तथा शापेनहॉवर के प्रभाव से इसमे रहस्यात्मकता भी आ गयी है। अत प्रतीकवादी विचारधारा को डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "किसी प्रकार की असाधारण अथवा असामान्य प्रवृत्ति पर आधारित न मानकर अभिव्यक्ति की एक सहज शैली ही मानना चाहिए।" इसमे विशेषता इतनी अवश्य है कि किसी अव्यक्त की प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्ति किसी दूसरी व्यक्त वस्तु के द्वारा की जाती है।

प्रतीकवाद के आधार और प्रक्रिया—प्रतीकवाद एक साहित्यिक प्रक्रिया के रूप मे भाषा की शिथिलता तथा लचीलेपन पर आधारित है। इस शिथिलता के भी अनेक रूप है। इन्हे आत्मवाद, अध्यात्मवाद, सादृश्यवाद अथवा प्रत्यक्ष बिम्बवाद भी कहा जा सकता है। इसलिए प्रतीकवाद का आधार अव्यक्त सत्ता है जो अमूर्त, अदृश्य और अनुपमेय है।

यह एक सनातन सत्य है कि किसी भी पदार्थ की—चाहे वह जड हो या

विचार, जो किसी प्रकार व्यक्त न हो पा रहे हो, प्रतीको के माध्यम से सफलतापूर्वक व्यक्त हो जाते हैं।

(३) अलकरण का माध्यम—काव्य मे अनुभूति-पक्ष के साथ-साथ कलापक्ष की भी उतनी ही उपादेयता है। प्रतीको के माध्यम से काव्य को अलकृत किया जाता है, क्योकि, कोई बात सीधे-सादे शब्दो की अपेक्षा घुमा-फिरा-कर—प्रच्छन्न रूप से कही जाएगी तो उसमे सौन्दर्य की वृद्धि हो जाएगी। प्रतीक काव्य के इस पक्ष को समृद्ध बनाने मे भी सहायक होते हैं।

केनेथ बर्क ने प्रतीको का कार्य किसी अनुभव के एक प्रतिरूप अथवा प्रतिकृति का शाब्दिक साम्य माना है। प्रतीको के प्रयोग से कृति मे सरलता की उद्भावना होती है, क्योकि, इससे भावधारा तथा अमूर्त विचार बोधगम्य हो जाते हैं। वह प्रतीका का प्रयोग पलायन के रूप मे भी स्वीकार करते हैं तथा वस्तु की व्याख्या कर उसे स्वीकार्य बनाना भी प्रतीक का कार्य मानते है। इसके अतिरिक्त प्रतीक का प्रयोग निम्न कार्यों के लिए भी किया जाता है—

१ अपनी अनुभूति की विशद अभिव्यक्ति के लिए।
२ मनोभावो की अनेक व्यजनाओ के लिए।
२ अव्यक्त एव सूक्ष्म को व्यक्त और मूत्त करने के लिए।
४ अपने ज्ञान को रहस्यमय रखकर दूसरो पर धाक बैठाने के लिए।
५ अभिव्यजना के नवीन प्रयोग के लिए।
६ गागर मे सागर भरकर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए।
७ अपनी रचना को मार्मिक एव प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

प्रतीकवाद की आवश्यकता—मनुष्य के जीवन की विविधता तथा अनुभवो की विशदता के कारण अभिव्यक्ति मे शब्द अथवा भाषागत एक प्रकार की अपूर्णता रहती है, क्योकि, मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु, गुण, अनुभूति तथा भावना के लिए एक शब्द अथवा नाम का निर्माण कर लिया है। सामान्यत इससे काम चल जाता है, परन्तु जहाँ सूक्ष्म प्रयोग की अपेक्षा होती है, वहाँ ये शब्द अपर्याप्त रहते हैं, इसलिए उस स्थान पर प्रतीक की आवश्यकता पडती है। प्रतीक के माध्यम से उस गुण, अनुभूति अथवा भावना के लिए नए शब्दो को खोजा जाता है।

इसके अतिरिक्त इस माध्यम के स्वीकरण के लिए जो मूलधारणा रहती

की नग्नता को ढकने के लिए किया गया एक प्रयोग था। इसने अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान कर काव्य को अलकृत किया।

प्रश्न २८—"अरस्तू ने त्रासदी मे कथानक को चरित्र से अधिक महत्त्व दिया है।" उनका मन्तव्य स्पष्ट करते हुए आप तर्कपूर्वक अपनी सम्मति दीजिए।

अथवा

अरस्तू के 'त्रासदी विवेचन' पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखिए।

त्रासदी का सिद्धान्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके यूनानी विचारको मे अग्रगण्य आलोचक अरस्तू हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम त्रासदी की व्याख्या और विवेचना की तथा उसके स्वरूप का निर्धारण किया।

त्रासदी की परिभाषा और स्वरूप—अरस्तू ने त्रासदी के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है

"Tragedy then is an imitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play, in from of action not of narrative through pity and fear effecting the proper katharsis"

अर्थात् 'त्रासदी किसी गम्भीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणो से अलकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप मे न होकर कार्य-व्यापार रूप मे होती है और जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।"

इस आधार पर अरस्तू ने त्रासदी को कार्य की अनुकृति माना है और त्रासदी मे निम्नलिखित तत्वो को खोजा है—

(१) गाम्भीर्य, (२) स्वतःपूर्णता, (३) निश्चित आयाम, (४) कार्य का वर्णन नही, प्रदर्शन, (५) अलकृत भाषा, (६) त्रासद-करुणा को जगाने वाली घटनाएँ और (७) उद्देश्य रूप मे भावो का परिष्कार।

अरस्तू द्वारा की गयी त्रासदी की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और मानव के मूलभावों—करुणा तथा त्रास का विरेचन के आधार पर परिष्करण होने की क्रिया का समाख्यान करती है।

अरस्तू घटनाओं की सम्भाव्यता पर विशेष बल देते हैं।

कथावस्तु के मूल गुण—अरस्तू त्रासदी के कथानक के लिए उसके कुछ मूलगुणों को भी आवश्यक मानते हैं। इन्हीं से कथानक में प्राण-प्रतिष्ठा होती है

(१) एकान्विति (Unity)—कथानक में एकान्विति का अर्थ एक व्यक्ति की कथा से न होकर कार्य की एकता से है। अरस्तू के अनुसार, "कथानक की धुरी ऐसा कार्य व्यापार होनी चाहिए जिसके विभिन्न अङ्ग परस्पर सम्बद्ध होने के साथ-साथ मूलकार्य से भी सम्बद्ध हों जिसमें कोई अनावश्यक और निरर्थक अङ्ग न हो।" अर्थात् यदि कथानक के किसी भी अंग को इधर-उधर किया जाए तो वह विशृंखलित हो जाए। इसमें प्रत्येक घटना उस कार्य का अभिन्न अंग हो तथा घटना परस्पर सम्बद्ध हो। कोई भी घटना अनावश्यक अथवा विषय से असम्बद्ध न हो।

(२) पूर्णता—त्रासदी के कथानक में पूर्णता होना भी आवश्यक है, क्योंकि "त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एवं सम्पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तार हो।" पूर्णता (complete in itself) से अभिप्राय यह हुआ कि कथानक की समाप्ति पर दर्शक या दर्शक के मन में कोई जिज्ञासा शेष न रह जाए। जिज्ञासा का परितोष ही पूर्णता का मूल तत्त्व है और इस जिज्ञासा की पूर्ति का क्रम भी व्यवस्थित हो।

(३) सम्भाव्यता (Possibility)—कथानक में कल्पना की उड़ान ज्ञात न होकर वास्तविक जगत् का ज्ञान होना चाहिए, अर्थात् जिसमें घटित होने की सम्भावना रहे। असम्भव घटनाएँ मानव-मन ग्रहण नहीं कर पाती, अतः उनकी उपयुक्तता आवश्यक है। उनका कथन है, "कवि-कर्म इतना ही नहीं है कि जो घटित हो चुका है उसी का वर्णन करे, बल्कि कवि उसका भी वर्णन कर सकता है जो घटित हो सकता है।"

(४) सहज विकास—कथानक का विकास सहज रूप में होना चाहिए, अर्थात् संवृति, विवृति, स्थिति विपर्यय और अभिज्ञात आदि की उद्भूति कथानक में से ही होनी चाहिए। घटनाएँ जब एक-दूसरे का सहज परिणाम होती हैं तभी श्रोता या प्रेक्षक उन्हें ग्रहण कर पाता है। अतः सन्तुलन बनाए रखकर उनका स्वाभाविक विकास कथानक का अन्य गुण है।

(५) कुतूहल—प्रत्येक कथानक में मानव की कुतूहलवृत्ति को उद्बुद्ध कर

है, अर्थात् त्रासदी के पात्र जीवन्त होने चाहिए, वर्णन की वाणी नहीं। पात्र प्रेक्षक पर तभी प्रभाव डाल पाते हैं, जब वे वास्तविक जीवन के अनुरूप हों।

(४) चरित्र मे एकरूपता—अरस्तू के अनुसार चरित्र मे भले ही अनेकरूपता हो, पर उसके चित्रण मे एकरूपता होनी चाहिए। चरित्र में अस्थिरता होना तो स्वाभाविक है, क्योंकि, परिस्थितियों से मानव के विचार परिवर्तित होते रहते हैं, पर कवि की दृष्टि एक-सी ही रहनी चाहिए।

(५) सम्भाव्यता—अरस्तू प्रत्येक पात्र की अपनी विशिष्टता के आधार पर बोलने और काम करने की अनिवार्यता पर बल देते हैं। यह निश्चित रूप से व्यक्ति वैशिष्ट्य की स्वीकृति है।

(६) यथार्थ और आदर्श का समन्वय—अरस्तू का विचार है—"चूँकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति होती है जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते हैं, अत उसमे श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते हैं जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है।" तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप मे चरित्र का अकन यथार्थ हो, पर साथ ही ,कलाकार ने कल्पना और भावना के रग देकर उसमें सौन्दर्य की उद्भावना भी की हो, ताकि वे अधिक आकर्षक लगें।

पद-रचना (Diction)—पद-रचना का सम्बन्ध शब्द और उनके अर्थ स है। "त्रासदी का माध्यम अलकृत भाषा होती है—ऐसी भाषा जिसमें लय, सामजस्य और गीत का समावेश हो।" भाषा गद्य और पद्य दोनों मे समान रूप से रहती है। अत त्रासदी की पद-रचना अलकृत, गरिमामय, समृद्ध परन्तु वागाडम्बर मे मुक्त होनी चाहिए।

विचार तत्त्व (Thought)—अरस्तू के अनुसार विचार का अर्थ है—प्रस्तुत परिस्थिति मे जो सम्भव और सगत हो सके, उसके प्रतिपादन की क्षमता।

इस प्रकार अरस्तू का विचार-तत्व मे तात्पर्य बुद्धि-तत्व से है। साथ ही उन्होंने भाव-तत्व का समावेश भी इसी तत्व के अन्तर्गत कर लिया है, क्योंकि "करुण, त्रास और क्रोध की उद्‌बुद्धि," डा० नगेन्द्र के अनुसार, "बुद्धि तत्व के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती।"

डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के विचार-तत्व के दो रूप बताए हैं—(१) वस्तुगत

माना है और वह चरित्र के अभाव मे भी त्रासदी की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

डा० नगेन्द्र ने अरस्तू द्वारा कथानक को प्रमुखता देने के आठ कारण बताए हैं वह लिखते हैं—

(१) त्रासदी अनुकृति है, व्यक्ति की नही, कार्य की तथा जीवन की।

(२) जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है, अत जीवन की अनुकृति मे कार्य व्यापार का ही प्रामुख्य रहना चाहिए।

(३) काव्यगत प्रभाव का स्वरूप है, सुख अथवा दु ख और यह कार्यों पर निर्भर रहता है, अत कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य है।

(४) चरित्र कार्य-व्यापार (कथानक) के साथ गौणरूप से स्वत ही आ जाता है।

(५) बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नही हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है।

(६) चरित्र व्यजक भाषण, विचार अथवा पदावली—चाहे वह कितनी ही परिष्कृत क्यो न हो—वैसा सारभूत, कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नही कर सकती, जैसा कथानक तथा घटनाओ के कलात्मक गुम्फन से होता है।

(७) त्रासदी मे सबसे प्रबल रागात्मक तत्त्व, स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञात कथानक के ही अग हैं।

(८) इसीलिए, नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण मे तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते है, पर कथानक का सफल निर्माण करने मे उन्हें समय लगता है।

प्रश्न यहाँ यह है कि अरस्तू की इस मान्यता के आधार क्या हैं? इसके कारणो पर विचार करते समय हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि अरस्तू के समय मे वस्तु को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कथानक उस समय मूल माना जाता था। यद्यपि ऐस्ख्रुलस तथा एउरिपिदेश आदि के नाटको मे वस्तु के साथ-साथ चरित्र को भी प्रधानता है, फिर भी, अरस्तू के इस युग की स्थिति से प्रभावित होकर कथानक को ही विशेष महत्ता दी है।

दूसरे, अरस्तू का वस्तुपरक दृष्टिकोण भी कथानक को महत्त्व देने के लिए विवश है। वस्तुपरक दृष्टिकोण अमूर्त की अपेक्षा मूर्त पर ही विशेष बल देता

तत्त्व जितना घटनाओ मे पुष्ट होता है, उतना ही चरित्र-चित्रण मे भी, क्योकि रागतत्त्व के साथ ही मानव-तत्त्व (चरित्र-चित्रण), का भी रस मे समावेश होता है। अत कथानक के साथ-साथ चरित्र का भी विशेष महत्त्व है।

निष्कर्ष—भारतीय विद्वानो ने इन दोनो को ही गौण मानकर मुख्य रस को ही माना है—यह उनकी अन्तरग वृत्ति का सूचक है। भारतीय विचारको का दृष्टिकोण वस्तुपरक न होकर अनुभूतिपरक है। पर अरस्तू आदि विचारको का दृष्टिकोण वस्तुपरक है। फिर भी, यह मानना पडेगा कि त्रासदी का प्रत्येक अग कथानक पर ही आधारित है। जब तक कथा न होगी, अन्य अगो की अभिव्यक्ति कैसे होगी ? अत कथानक का महत्त्व निर्विवाद है, पर साथ ही दूसरे अगो की भी उपेक्षा पूर्णरूपेण नही की जा सकती।

प्रश्न २५—त्रासदी (ट्रेजडी) की अनुभूति को आप सुखात्मक मानते हैं या दु खात्मक ? यदि सुखात्मक मानते हैं तो अन्य आलोचकों के मत उद्धृत करते हुए इस वैषम्य का समाधान कीजिए और यदि दु खात्मक मानते हैं तो अपने मत की पुष्टि मे तर्क दीजिए।

त्रासदी का व्यावहारिक धर्म त्रास और करुणा के मिश्रण से प्रभाव की उद्बुद्धि है, इसलिए त्रासदी के लिए वे ही परिस्थितियाँ उपयुक्त हो सकती हैं जो इस प्रभाव को उत्पन्न कर सकें। त्रासदी की अनुभूति भी इसी प्रभाव से अनुस्यूत होती है। अत त्रासदी की अनुभूति कैसी होती है—सुखात्मक या दु खात्मक, इसका विवेचन करने से पूर्व हमे त्रासदी की परिस्थितियो का देखना होगा। त्रासदी की परिस्थितियाँ प्रतिकूल और अनुकूल दोनो ही प्रकार की होती है। प्रतिकूल परिस्थितियो का वर्णन करते हुए बताया है, सत्पात्र एव आदर्श पात्र होता है, उसके प्रति आदर-भाव तभी उत्पन्न होगा, जब उसकी प्रत्येक परिस्थिति मे विजय दिखाई जाएगी। उस मनुष्य के प्रति साधारणत यह भावना रहती है कि यह व्यक्ति जैसे मानवीय दुर्बलताओ से ऊपर उठा हुआ है, उसी तरह मानवीय दोषो से भी ऊपर है। अत उसे यदि अर्थाभाव के कारण विपत्ति मे दिखाया जाएगा तो इससे न तो करुणा ही उत्पन्न होगी और न त्रास ही।

इसी प्रकार किसी दुष्ट पात्र का सम्पत्ति म उत्कर्ष भी त्रासदी की भावना से पूर्णत विपरीत है। किसी अत्यन्त खलपात्र का पतन दिखाना भी सगत

पूरी कथावस्तु मे रमा होने के कारण रस प्रेक्षक की चेतना मे रम जाता है। अत एक घटना की विपरीत परिणति मन को यथमेव परिवर्तित नही कर पाती। उदाहरण के रूप मे यूनानी भाषा के अनेक नाटक प्रस्तुत किए जा सकते है। संस्कृत भाषा का नाटक—भवभूति का 'उत्तररामचरित' भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसका अन्त यद्यपि सुखात्मक है, पर सवत्र करुण रस की ही परिव्याप्ति रही है, अपितु इससे तो विरेचन की क्रिया ही सफल होती है। इससे सिद्ध होता है कि अन्त का प्रभाव त्रासदी के लिए घातक नही होता।

त्रासदी की अनुभूति—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो के इस विवेचन से त्रासदी के रागात्मक प्रभाव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि त्रासदी की यह अनुभूति दु खात्मक है या सुखात्मक। अरस्तू के शब्दो मे यह, "रागात्मक प्रभाव एक प्रकार का आनन्द है जो अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है।"

त्रास और करुणा की यह भावना क्षोभ, वितृष्णा, जुगुप्सा आदि से मुक्त रहती है। इसलिए त्रासदी की करुणा व त्रास मानव पर दु खात्मक प्रभाव नही डालते। इस विषय मे प्लेटो ने त्रासदी पर विचार करते हुए लिखा है—

"यह तत्त्व, जो हमारी व्यक्तिगत आपदाओ से दबा हुआ रहता है और जिसके क्रन्दन व विलाप की प्रवृत्ति को निर्बाध अभिव्यक्ति नही दी जा सकती, कवियो द्वारा इन्ही सहज प्रवृत्तियो का परितोष और प्रसादन किया जाता है और उधर विलाप की प्रवृत्ति, हमारे ऐसे गुणो का प्रभाव, जो कि प्रकृत्य सर्वश्रेष्ठ होते हैं, विवेक अथवा स्वभाव द्वारा सम्यक् रूप से अनुशासित न रहने के कारण शिथिल हो जाता है। वह जो दु ख देखता है वे उसके अपने नही होते और यदि सद्वृत्ति का दावा करने वाला कोई व्यक्ति उसकी अपेक्षा अधिक शोकाकुल हो तो उसकी प्रशसा करना और उसके प्रति करुणा का अनुभव करना कोई लज्जा की बात नही, वरन् वह सोचता है कि यह समूची कविता की अवज्ञा करने से आनन्द का वास्तविक लाभ हो सकता है। बात यह है कि मेरे विचार म तो कम ही लोग सोच पाते हैं कि दूसरों के दुख हमारे लिए भी दु ख का कारण हो जाते हैं, क्योकि, दूसरे के दुर्भाग्य पर यदि हम करुण भाव का पोषण करते रहे है तो अपनी बारी आने पर भी उसका नियन्त्रण कर जाना सहज नही होता।"

(५) प्रत्यक्ष तथा ऐन्द्रिय अनुभूति न होकर 'भावित' अनुभूति रूप होता है।

(६) कवि-कौशल के प्रति प्रशंसा-भाव से युक्त रहता है।

विरेचन द्वारा अनुभूति सुखात्मक—अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त के द्वारा अनुभूति के आस्वाद का समाधान किया है। यद्यपि त्रास व करुणा—दोनों ही कटुभाव है और दोनों ही दुःखद अनुभूति में भेद है पर मानसिक विरेचन ने इस कटुता के दोष का विनाश हो जाता है और प्रेक्षक के मन में शान्ति होती है। मन स्थिति के कटु-विकारों से मुक्त हो जाने के कारण इसकी अनुभूति निश्चय ही सुखद होती है। डा० नगेन्द्र के अनुसार "पीड़ा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।"

प्रो० बुचर ने 'दुःख में सुख' की इस समस्या के समाधान अरस्तू के विरेचन के आधार पर दो और प्रमुख कारण दिए हैं। त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियां हैं, परन्तु त्रासदी में वैयक्तिक ढंग से मुक्त और साधारणीकृत रूप में उपस्थित होती हैं। 'स्व' की भौतिक सीमा में बद्ध वे कटु अनुभूतियां है, परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। 'स्व' का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है। दूसरा कारण है—कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त है—समंजन—अव्यवस्था की व्यवस्था स्थापना ही अरूप को रूप देना है। यही कलात्मक सृजना है, जो सुखद है। इस प्रक्रिया में पड़ कर त्रास और करुणा का दंश नष्ट हो जाता है तथा सुख, दुःख में परिणत हो जाता है।

प्रश्न २६—त्रासदी के रूप में अरस्तू के विचारों का उल्लेख कीजिए।

काव्य के विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुए अपनी कृति 'पोइटिक्स' में यूनानी विचारक अरस्तू ने त्रासदी पर भी विचार किया है। उनके अनुसार त्रासदी काव्य का तीसरा प्रमुख रूप है। डा० नगेन्द्र के अनुसार, 'काव्यशास्त्र के आरम्भ में और उधर 'भाषणशास्त्र' में कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे यह प्रायः निश्चित हो जाता है कि अरस्तू ने त्रासदी पर भी सम्यक् प्रकाश डाला था।" डा० नगेन्द्र अरस्तू के कामदी-विषयक विचारों को प्रामाणिक रूप से प्रतिपादन करना सम्भव नहीं मानते। क्योंकि, 'भाषणशास्त्र' का वह भाग आज उपलब्ध नहीं है जिसमें कामदी पर विचार किया गया था। अतः 'काव्यशास्त्र'

पूर्ण योग है। यूनान मे उस समय दास-प्रथा का प्रचलन था और दासो को घृणा, हेय तथा उपहास की दृष्टि से देखा जाता था, इसलिए उनका उपहास उडाकर श्रेष्ठ लोग आनन्द प्राप्त करते थे। इसके विपरीत साहित्यकार श्रेष्ठ जनो के दोषो का उपहास उडाने से हिचकिचाते थे, क्योकि, उनके दोषो का उपहास उडाने मे उनके प्रति जनसाधारण की श्रद्धा कम होती और वे असम्मानित होते। इसी से दासो को ही कामदी का विषय बनाया गया।

कामदी के विषय के सम्बन्ध मे यह और ध्यान मे रखना चाहिए कि यह सामान्य होता है और प्रसिद्ध न होकर प्राय काल्पनिक ही होता है।

कामदी का उद्देश्य—अरस्तू के अनुसार कामदी का लक्ष्य हीनतर जीवन का चित्रण कर श्रेष्ठजनो को आनन्द प्रदान करना है—उनका मनोरजन करना है और साथ ही (अप्रत्यक्षत) उन दोषो से बचने की शिक्षा देना है, जिसके कारण कोई व्यक्ति उपहास का पात्र बनता है।

कामदी की उत्पत्ति और विकास—अरस्तू के अनुसार कामदी का कोई इतिहास नही है, क्योकि, आरम्भ मे किसी ने इस पर विशेष ध्यान ही नही दिया, बाद मे किसी कवि ने हास्यमय सहगान की अनुज्ञा दे दी—

"Where as comedy has no history, because it was not at first treated seriously"

अरस्तू का कथन है कि सीमात गाँवो को ये 'कोमे' और एथेंसवासी देमोम कहते हैं अत यह मान लेते है कि कामदी के रचयिताओ या अभिनेताओ का यह नामकरण 'कोमेद्‌जाइन' अर्थात् 'रागरग मनाना' शब्द के आधार पर नही हुआ, वरन् इसलिए हुआ कि वे अपमानपूर्वक नगर से बहिष्कृत होकर एक गाँव से दूसरे गाव म भटकते फिरते थे।

कामदी के पात्र—अरस्तू के अनुसार, कामदी मे निम्नवर्ग के व्यक्तियो की भाव-चेष्टाओ तथा वार्त्तालापो का अनुकरण होता है, अत कामदी के पात्र निम्नवर्ग के दास होते हैं। पर यहाँ निम्नवर्ग से तात्पर्य खल अथवा दुष्ट से नहीं है। निम्नकोटि के ये पात्र हास्य के लिए लिए जाते हैं जो अपनी कुरूपता असम्बद्धता अथवा विकृत चेष्टाओ द्वारा जनता का मनोरजन करते हैं।

कामदी का कथानक—अरस्तू ने कामदी के कथानक पर भी विचार किया है। त्रासदी की भाति वह कामदी को भी काव्य का एक रूप मानते हैं और वस्तु-सघटन की तरह कथानक मे भी कुछ गुणो का समावेश आवश्यक मानते

कामदी का अथ है सुखान्त। उसका उद्भव यूनानी शब्द 'कामस' से हुआ जिसका शाब्दिक अर्थ है हष—उल्लास मानना। पाश्चात्य विद्वानो ने कामदी (Comedy) की उत्पत्ति का मूल मानव-समाज मे मनाए जाने वाले उल्लासपूर्ण उत्सवो से माना है। अनेक विद्वान् त्रासदी की तरह कामदी का उद्भव भी धार्मिक ही मानते हैं। इस प्रकार कामदी का जन्म मानवता के साथ-साथ ही माना जा सकता है। अरस्तू ने कामदी का उद्भव मौलिक गीतो के प्रमुख गायको से माना है—

"Comedy originated with the leaders of Phallic Song, which survive to this day as many of our states"

कामदी की परिभाषा—मानव-मन की दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं—सुख और दुख। चूँकि साहित्य मानवीय भावनाओ का प्रतिबिम्ब है, इसलिए इन्ही दो भावनाओ मे साहित्य मे भी त्रासदी तथा कामदी का उद्भव हुआ। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने कामदी के सम्बन्ध मे लिखा है—"ईर्ष्या अथवा द्वेष की भावना ही कामदी का आधार है। सौन्दर्य, ज्ञान, धन तथा अहम् भाव जब अपनी सीमा का उल्लघन करता है तो उसके प्रति हमे घृणा होने लगती है और हम उसकी हँसी उडाते हैं। अपने मित्रो के दुर्भाग्य पर हमे कभी-कभी हँसी आती है और इस भावना मे हष तथा दुख का मिश्रण रहता है।

प्लेटो की तरह अरस्तू ने भी हँसी-मजाक से ही कामदी का सम्बन्ध माना है और उसे सुखकारक माना है—"किसी व्यक्ति की हँसी उडाना उसकी निंदा करना है, सुखान्त (Comedy) का मूल उद्देश्य व्यक्ति विशेष की हँसी उडाना न होकर निम्नवग के समाज का अनुकरण करना है।"

सुखान्त के सम्बन्ध मे विद्वानो की धारणाएँ बदलती रही है। जहाँ प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, क्विंटीलियन आदि कामदी का सम्बन्ध निम्नवग के व्यक्तियो का अनुकरण मानकर इसे हेय सिद्ध करते हैं, वहाँ अनेक आचाय इसे सुधारवादी दृष्टिकोण से भी देखते हैं। म्युजिओ कामदी के सम्बन्ध मे लिखते है, "कामदी के कलाकारो के लिए हास्य तथा सुधार दोनो ही दृष्टिकोण आवश्यक है।" सर फिलिप सिडनी ने कामदी की काफी स्पष्ट परिभाषा दी है। कामदी के स्वरूप का विवेचन करते हुए वह लिखते हैं, "कामदी का ध्येय हास्य प्रकट करना नही है, क्योकि, वह तो केवल हमारे जीवन के साधारण अवगुणो का उपहासपूर्ण प्रदशन मात्र है। हमारे घरेलू तथा निजी जीवन के

नियमों उपनियमों से आबद्ध होकर परम्परा का अनुगमन करते हुए आदर्श की सीमा में बंधकर चलती है, वह शास्त्रीय कामदी कहलाती है।

(२) रूमानी कामदी (Romantic Comedy)—यह प्रकार शास्त्रीय कामदी के पूर्ण विपरीत है। इसमें रूढि और परम्परा का पूर्ण बहिष्कार करके स्वच्छन्दता और कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

(३) भावप्रधान कामदी (Emotional Comedy)—इस प्रकार की कामदी में बाह्य घटना की अपेक्षा पात्रों की किसी अन्तर्वृत्ति के असन्तुलन का हास्यात्मक तथा व्यंग्यात्मक चित्र होता है। इसमें भावनाओं के आधार पर हास्यात्मक तथा व्यंग्यात्मक चित्र होता है। इसमें भावनाओं के आधार पर हास्य उत्पन्न किया जाता है।

(४) सामाजिक कामदी (Social Comedy)—यह कामदी समाज की अव्यवस्था और आडम्बरप्रियता के विरुद्ध होकर उसका उपहास उड़ाती है और समाजगत असन्तुलन की व्यंग्यात्मक विवेचना करती है।

(५) समस्यामूलक कामदी (Problem Comedy)—जब कामदी में किसी समस्या को उठाकर उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया जाता है और परम्परागत कुरीतियों का उपहास उड़ाया जाता है, वह समस्यामूलक कामदी कही जाती है। इसमें सामाजिक रीति-रिवाजों, आदर्शों अथवा किसी समस्या के प्रति असन्तोष व्यक्त किया जाता है।

कामदी के ये रूप केवल विषय के आधार पर हैं, यद्यपि शिल्प के आधार पर सभी एक-से होते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ग के आधार पर भी इसके तीन रूप हो सकते हैं—

(१) निम्नवर्ग के व्यक्तियों का अनुकरण करने वाली कामदी।
(२) मध्यवर्ग के व्यक्तियों के कार्य-कलापों का वर्णन करने वाली कामदी।
(३) उच्चवर्ग की समस्याओं को व्यंग्यात्मक रीति से वर्णन करने वाली कामदी।

कामदी का विश्लेषण—कामदी के सम्बन्ध में विचार करते समय विचारकों ने इसके तीन तत्त्व मुख्य माने हैं—विषय, उद्देश्य तथा शैली। कामदी के विवेचन में इन्हीं तीन तत्त्वों पर बल दिया गया है, क्योंकि किसी भी काव्य-विधा में इन्हीं का आधारभूत महत्त्व होता है और इन्हीं से उस विधा के स्वरूप का निर्माण भी होता है। इस विषय में यूनानी तथा अंग्रेज समीक्षक

पुट होने से व्यंग्यात्मकता बढ जाती है, अनर्गल शब्दों के प्रयोग से भाषा की विकृति भी हो जाती है, वैचारिक गरिमा की अपेक्षा विस्तार की इसमें आवश्यकता होती है, पर वर्णन में संघटनात्मकता परम आवश्यक है।

कामदी में सहानुभूति का भी विशेष स्थान है। उसकी शैली ऐसी होनी चाहिए जो निर्मम हास्य के स्थान पर मृदुल हास्य का प्रवर्तन करे, उन्मुक्त हास्य असभ्यता की सीमा में आ जाता है, प्रेक्षक मन्द-मन्द मुस्कराता रहे और आनन्द प्राप्त करता रहे, न कि दाँत फाडकर अट्टहास कर उठे। मृदुल हास्य का प्रभाव स्थायी तथा तीव्र होता है।

उद्देश्य—यद्यपि कामदी की आत्मा हास्य है, पर इसका उद्देश्य क्या है, इस पर विद्वान् एक मत नहीं हैं। प्राचीन यूनानी विचारक कामदी का उद्देश्य निम्नवर्ग के कार्यों और संवादों का अनुकरण करके उनको श्रेष्ठवर्ग के समक्ष उपहासास्पद बनाकर आनन्द की सर्जना मानते हैं। कुछ विचारक (शेक्सपीयर आदि) कामदी का उद्देश्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के द्वारा प्रवर्तित कुरीतियों का उपहास उडाकर सुधारवादी भावना को मानते हैं। कुछ आलोचकों ने इन दोनों का ही समन्वय कर लिया है। उनके अनुसार कामदी का आनन्द प्रत्यक्षत आनन्द प्रदान करना होता है और परोक्षत सुधारवादी।

इन सब मत-वैभिन्य के चक्कर में न पडा जाए तो मूलत कामदी का उद्देश्य आनन्द की सृष्टि ही है। यह आनन्द चाहे किसी भी रूप में प्राप्त हो, वह होगा आनन्द ही। सुधार का जो माध्यम हास्य माना गया है, इसके मूल में भी आनन्दवादी भावना ही विद्यमान है।

कामदी का यह उद्देश्य भी विरेचन-क्रिया से भावनाओं का साधारणीकरण होकर उनका पाठकों अथवा दर्शकों का आस्वाद्य होता है। एटकिन्स के अनुसार यह विरेचन ईर्ष्या, क्रोध आदि कटु विकारों की तरह हास्य का भी साधारणीकरण करता है और इसे आनन्दमय बनाता है।

निष्कर्ष—कामदी के इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कामदी वह हास्यप्रधान रचना होती है जो मानव-जीवन की कुरीतियों अथवा असंगतियों का उपहास उडाकर उनके सुधार की प्रेरणा देती है और मूल रूप में इसका उद्देश्य मनोरंजन करना ही होता है। यह आनन्द प्रत्येक वर्ग के लिए होता है। इसमें ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं होता और इसीलिए यह एक साहित्यिक विधा मानी गयी है। क्योंकि, इसका विषय

(३) बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य की सभी प्रतिक्रियाओं में सहायक होता है—चाहे वह व्यक्तिगत रूप में की गयी हो या सामूहिक रूप से।

मानव के ये मूल-विश्वास ही यथार्थवाद के आधार-स्तम्भ हैं। इन्हीं आधारों पर साहित्यकार मानव-जीवन, समाज, प्रकृति आदि का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। वह अपने विषय काल्पनिक जगत् से न लेकर वास्तविक संसार में ही लेता है। इसी दृष्टि से इमर्सन ने कहा था—"मुझे महान् दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिए, मैं साधारण का आलिंगन करता हूँ, मैं सुपरिचित और निम्न के चरणों में बैठता हूँ।"

यथार्थवाद समाज में विद्यमान कलुष और कालिमा पर पर्दा नहीं डालता, उसका चित्रण भी करता है। वह धरती की साँसों में पनपता है और धरती से ही प्रेरणा ग्रहण करता है।

मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद—यथार्थवाद का विकास मार्क्सवाद के साथ-साथ होता है। दो महायुद्धों के कारण समाज जर्जर तथा कुण्ठित होने लगा था, यथार्थवाद ने समाज के इसी रूप को ग्रहण किया। वह मानसिक सत्य को यथार्थ नहीं मानता, जगत् में जैसा जो कुछ हो रहा है, उसी का चित्रण करना चाहता है। इसी से यथार्थवादियों ने अवचेतन मन में वर्णी कुण्ठाओं, निराशाओं, भाँति-भाँति की वर्जनाओं तथा अनास्थाओं का वास्तविक चित्रण किया है। इससे इसमें इतनी कुण्ठाएँ, निराशाएँ आदि बढ़ गयीं कि यथार्थवाद का स्वरूप ही विकृत तथा अस्वस्थ हो उठा। इसीलिए एक अंग्रेजी विचारक ने लिखा है—

"They Promised to give us new world, instead they gave us a hospital."

समाजवादी यथार्थवाद—समाजवादी यथार्थवाद युग की आलोचना ही नहीं करता, वरन् साथ में नये और क्रान्तिकारी सृजन की भूमिका भी प्रस्तुत करता है। इस यथार्थवाद का सर्वप्रथम गोर्की (रूसी लेखक) ने चित्रण किया। उसने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा—

"Socialist realism proclaims that life is action, creativity, whose aim is the unfettered development of man's most valuable individual abilities for his Victory over the forces of Nature

सदैव हानिकारक है और आदर्श की मनोगम्यमयी कल्पना मे विचरण करना भी सुखद-समीर के झोकों का आभास-मात्र है। दोनो वाद अर्थात् आदर्श और यथार्थ—एक-दूसरे के पूरक हैं। अत विना यथार्थ के आदर्श और विना आदर्श के यथार्थ की कोई उपादेयता नही है। कोरे स्वप्न देखने वाला आदर्शवाद मनुष्य को निष्क्रिय बना देता है और अतियथार्थवाद मन मे घृणा की भावना उत्पन्न कर देता है। इसीलिए यथार्थ मे उच्चतर उद्देश्य का सम्मिश्रण होना आवश्यक है। यथार्थवाद केवल अनुकरण नही करता, वरन् उच्चतर उद्देश्यो की ओर भी प्रेरित करता है। अत यथार्थवादी दृष्टिकोण ही कला का, काव्य का, वास्तविक दृष्टिकोण है।

प्रश्न २९—'कला, कला के लिए' है, और 'कला जीवन के लिए' है। इन दोनो सिद्धान्तों की तुलनात्मक परीक्षा करते हुए कला (काव्य) के प्रयोजन पर प्रकाश डालिए।

अथवा

"अन्त मे यह (कला) आनन्द नहीं है, वरन् मानव एकता का साधन है, जो मानव-मानव को सह-अनुभूति द्वारा परस्पर सम्बद्ध करती है।" कला के स्वरूप और प्रयोजनों पर प्रकाश डालते हुए टालस्टाय के उक्त अभिमत की परीक्षा कीजिए।

अथवा

'कला, कला के लिए है'—सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए उसमे निहित सिद्धान्त का खण्डन-मण्डन कीजिए।

काव्य के रचना सम्बन्धी उद्देश्य का स्थूलत तीन वर्गों मे रखा जा सकता है—एक आनन्दवादी, दूसरा नैतिकतावादी और तीसरी यथार्थवादी। अर्थात् कला के तीन उद्देश्य होते हैं—कला आनन्दवादी दृष्टिकोण से सुख के लिए हो सकती है, नैतिकतावादी दृष्टि से वह सत्य तथा नैतिकता की शिक्षा देने के लिए हो सकती है और यथार्थवादी दृष्टि से कला सौन्दर्य की अनुभूति के लिए हो सकती है।

दूसरे दृष्टिकोण से 'कला जीवन के लिए' और तीसरे दृष्टिकोण से 'कला, कला के लिए' सिद्धान्तों का जन्म हुआ। आरम्भ मे कला मे नैतिकतावादी स्वर की ही प्रमुखता थी। यूनानी विचारको के कला का उद्देश्य सुधारवादी तथा शिक्षा देना बताया है। दाते ने काव्य को नीति और उपदेश

वैसे भी, कना के अनिवाय गुण के रूप मे नीति, उपदेश, मदाचार आदि को नही माना जा सकता, क्योकि, कलाकार का कम और उपदेशक का कम—दो पूर्ण विभिन्न कर्म हैं। उपदेशक का काय है अपनी बात मनवाना, जबकि कलाकार का कार्य है अभिव्यजना करना। अत कलाकार का काय तो केवल इतना ही है कि वह यह बताकर रख दे कि वस्तु कैसी है ? अर्थात् वह जो कुछ देखना है, सुनता है और अनुभव करता है, उसे तटस्थ रूप से अभिव्यक्त कर दे।

इस कार्य को 'कला, कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी पूरा नही करता। इस कला को कवि अन्तरग से इतना अन्तर्भूत कर देता है कि इसमे बाह्य जीवन की कोई झलक ही नही रहती। यह सिद्धान्त साहित्य, आलोचक और स्वय कला के लिए भी घातक रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार, कला का प्रमुख कम सौन्दर्य की अनुभूति कराना था, पर कालान्तर मे इसने कुत्सित भावनाओ मे सृजन की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया।

जब साहित्य और समाज म नैतिक मूल्य विशृखलित होने लगे तो कलाकार आत्मस्थ और स्वय केन्द्रित हो गया और उसकी विचारधारा का कलावाद से सीधा सम्पर्क हो गया। यह आत्मस्थ दृष्टि ही साहित्य मे 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त की जन्मदात्री सिद्ध हुई। इसके विषय में ह्विसलर का मत है—

"Art is selfishly occupied with her own perfection only-having no desire to teach-seeking and finding the beautiful in all conditions and all times"

ऑस्कर वाइल्ड ने इस सिद्धान्त का पूण प्रवतन किया है। स्वय ह्विसलर ने भी रस्किन के विरोध मे कहा कि कला का लक्ष्य—उद्देश्य तो होना ही नही चाहिए। यह तो जीवन से सर्वथा निरपेक्ष है। नीति तो धर्म का विषय है, कला का नही। कलावादी विचारको के अनुसार कला का सम्बन्ध भावना से है और इसकी एक मात्र उपयोगिता मनोभावो की मुग्धकारी सौन्दर्यानुभूति है।

जे० ई० स्पिन्गार्न ने 'कला' कला के लिए' के सिद्धान्त की विशिष्ट शब्दवली मे स्थापना की, "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार खोजना ऐसा

हो सकेगा। अत स्पष्ट है कि ये दोनों सिद्धान्त अतिवादी हैं। कलाकार जीवन को, उससे सम्बन्धित समस्याओं को और मानव-चरित्र को अपनी कला का विषय बनाता है। अत कला में नैतिक मूल्य आए बिना रह भी नहीं सकते। सामाजिक प्राणी होने के नाते कलाकार समाज म रहता है। अत समाज के सत्य को वह नकार भी नहीं सकता, पर उस पर उसकी छाप सम्पूर्णता से नहीं पड़ती। कला इसके साथ ही साथ जीवन और प्रकृति के दृश्यों, घटनाओं और उनके सम्भाव्यों को कलात्मक रूप देकर पुन उपस्थित करती है। अत यदि नैतिकता और सत्य सीमातिक्रमण कर देते हैं तो दृश्यों की स्वाभाविकता मारी जाती है। घटनाओं की स्वाभाविकता के लिए ही नैतिकता और सत्य को स्वीकार किया जाता है। सत्य सुन्दर से आवेष्टित होकर ही सहज ग्राह्य होता है।

इस प्रकार यदि मान भी लिया जाए कि कला स्वय मे पूर्ण तथा निरपेक्ष है, पूर्णरूपेण सही नहीं है, क्योंकि, इस तरह से तो उसका जगत् वास्तविक जगत् से भिन्न कल्पना की उड़ान मात्र रह जाएगा—उसका जीवन के कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। अत कलावादी कलाकार स्वान्त सुखाय की आड में समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। सत्य तो तो यह है कि कलाकार प्रकृति से प्रेरणा भले ही ले, काव्य मे चित्रण अपनी अनुभूति का ही करता है—वह प्रकृति की कुरूपता, एकरसता तथा नीरसता को भी सुरूपता, रसविविधता तथा सरसता मे परिवर्तित करके प्रस्तुत करता है और यह प्राणवत्ता वह जीवन मे ग्रहण करता है। अत कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं—कला मे दोनों का ही प्रयोग होता है पर दोनों का अतिवाद सर्वत्र ही घातक रहता है, अत कला मे भी इनके अति की वर्जना है।

प्रश्न ३०—पाश्चात्य आलोचकों के मतों को उद्धृत करते हुए साहित्य और सदाचार के सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य मानव-जीवन की विशद व्याख्या है और मानव-जीवन समाज से अनुबन्धित है। समाज की गति तथा समृद्धि के लिए समाजशास्त्रियों ने भी कुछ नियम बनाये हैं, अत साहित्य का इन नियमों से सम्बद्ध होना भी आवश्यक है, किन्तु कुछ विचारक साहित्य को आत्मा की एकान्त अभिव्यक्ति मानते है। यह अभिव्यक्ति सौन्दर्यवादी भी हो सकती है और यथार्थवादी भी, साहित्यकार जैसा देखता है, सुनता

वेन जॉनसन साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली का सूचक मानते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड का भी यह आग्रह है कि जिस साहित्य मे नीति के विरुद्ध विद्रोह है, उसमें जीवन के प्रति भी विद्रोह है और जो साहित्य जीवन से उदासीन है, वह नीति से भी उदासीन है। गेटे ने स्पष्ट कहा है कि साहित्य सम्पूर्ण जगत् का मानव-कृत रूप है। इसीलिए इसका शिक्षाप्रद रूप होना आवश्यक है, किन्तु यह शिक्षा प्रच्छन्न रूप में होनी चाहिए, जिसमे पाठक स्वय सवेद्य रूप से उसे उसी प्रकार ग्रहण करे जैसे जीवन से ग्रहण करता है,

होरेस ने भी काव्य मे नैतिकता का घोर समर्थन किया है। वह नीति, शिक्षा तथा आनन्द के समन्वय मे विश्वास करते है। वह स्पष्ट लिखते हैं—

"The Poet's aim is either to profit or to qlease or to blend in one the delightful and the useful the man who mingles the useful with the sweet cartise the day by charming his reader and at the same time instructing him

अर्थात् कवि (अथवा साहित्यकार) का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आनन्द प्रदान करना होता है—इन दोनो मे से जो भी अधिक उपादेय हो या फिर वह दोनो का एक ही मे समन्वित कर देता है जो मनुष्य इन दोनो का समन्वय कर देता है, वही सफल साहित्यकार होता है।

साहित्य और सदाचार का सबसे प्रबल समथन टालस्टाय और रस्किन द्वारा हुआ। टालस्टाय ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि नीति से विमुक्त साहित्य की कोई सफलता या उपादेयता नही है। उनके अनुसार कला या साहित्य का मूल तत्कालीन धार्मिक चेतना से निर्धारित होना चाहिए। यह धार्मिक चेतना मनुष्य और ईश्वर की एकता से नि सृत होती है, अत साहित्य का ध्येय धम, करुणा और प्रेम आदि का प्रतिपादन करता है तभी उसे सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।

टालस्टाय की भांति रस्किन भी पूरी तरह नैतिकतावादी हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि जा साहित्य नैतिकता से जितनी दूर है, वह उतना ही बुरा है, अथात् साहित्य की अच्छाई का मापदण्ड उसका नैतिक होना है और उसी नैतिकता के आधार पर वह कला को दैवी मानते है।

कि वह समाज का मार्ग सही रूप मे प्रशस्त करे, यद्यपि साहित्य वस्तु-स्थिति के वर्णन के साथ-साथ पाठको का मार्ग भी प्रशस्त करता है, पर वह प्रच्छन्न रूप से ही, वह पाठको मे वस्तु-स्थिति को ठीक ठीक देखने की प्रवृत्ति जगाता है—उनके दृष्टिकोण को सही करता है, उन्हें ठीक-ठीक परखने की क्षमता प्रदान करता है।

साहित्य और सदाचार के अतिवाद के कारण साहित्य का प्रमुख काम—सौन्दर्यानुभूति पीछे पड जाता है और इस प्रकार साहित्य मात्र साम्प्रदायिक विचारो का वाहक रह जाता है।

इसके अतिवाद की प्रतिक्रियावादरूप ही पाश्चात्य विचारको मे एक वर्ग ऐसा हुआ जिसने कलावाद को जन्म दिया और स्पिनगार्न ने तो यहाँ तक कह दिया कि "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार और दुराचार की खोज वैसे ही है जैसे—रेखागणित के समकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण सिद्ध करना।'

इस वर्ग के समालोचको ने कला को पूर्ण स्वच्छन्द तथा आत्माभिव्यक्ति मात्र माना है। पर यह स्पष्ट है कि दोनो ही मत अतिवादी है। साहित्य और सदाचार का सम्बन्ध है अवश्य पर इस सीमा तक नही कि वह नीति शास्त्र लगने लगे। साहित्य अप्रत्यक्ष और आकस्मिक रूप से शिक्षा प्रदान करता है और उदात्त होने के कारण हित-साधना करता है और इस दृष्टि से साहित्य मे नैतिक प्रश्न भी स्वत ही समाहित होते हैं। पर साहित्य का प्रधान कार्य नैतिकता और सदाचार की शिक्षा नही माना जा सकता उसका प्रधान कार्य तो सौन्दर्याभिव्यक्ति ही है।

अन्य कलाओ की भाँति साहित्य के भी दो पक्ष होते है—(१) आन्तरिक और (२) बाह्य। साहित्यकार आन्तरिक से प्रेरित होकर आत्माभिव्यक्ति करता है और साहित्य मे सौन्दर्य का अधिष्ठान करता है पर इसकी प्रेरणा वह बाह्य जगत से ही लेता है। यह बाह्य जगत् से प्रेरणा ही नैतिकता समन्वित होती है जो उसकी आन्तरिक चेतना अनुभूत होकर सशक्त तथा सौन्दर्यमयी हो जाती है। साहित्य और सदाचार का यही सम्बन्ध है। इसके ससर्ग से साहित्य की प्रतिमा विकसित होती है और साहित्यकार स्वानुभूति को कल्पना के रगीन चमकदार परदे पर उतारकर साहित्य के रूप मे प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि साहित्य मे नैतिकता और

religious thouhgt, philosophical speculation and art We have the same energy overflowing into other forms of expression "

इस परिभाषा के अनुसार साहित्य किसी विशिष्ट काल की भावनाओं की स्फूर्ति है और सही साहित्य से प्रेरण ग्रहण करके समस्त आंदोलनों और धार्मिक व दार्शनिक विचारों का प्रस्फुटन होता है।
प्रो० एम० जी० भाटे साहित्य को आत्मा का संगीत मानते हैं और मानव के अन्तस्थल से निःसृत होता है और भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होकर जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करता है—

"Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the Key-Board of language "

इस परिभाषा के अनुसार साहित्य मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति है, आत्माभिव्यक्ति है। साहित्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति होता है और उसमें मानव-जीवन का चित्रण होता है। साथ ही, इसमें सौंदय, आनन्द तथा कल्याण की भावना निहित होती है।

आई० ए० रिचर्ड्स साहित्यक कथन के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं कि इसमें निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा और झूठा होना महत्त्वपूर्ण न होकर उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध ही महत्त्वपूर्ण होता है। साहित्य हमारे मनोभावों और अन्तर्वेगों को जाग्रत करता है।

इस प्रकार साहित्य के स्वरूप का अध्ययन करने पर चार तत्वों पर प्रकाश पड़ता है—(१) साहित्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है, जो भाषा के माध्यम स्वरूप ग्रहण करती है, (२) साहित्य मानवीय मनोभावों को जाग्रत करने में सहायक होता है, (३) साहित्य स्वयं भी किसी विशिष्ट काल से प्रेरणा ग्रहण करके सम-सामयिक विचारों और आन्दोलनों को जन्म देता है, और (४) साहित्य में सौन्दर्य तथा आनन्द के साथ-साथ संगीतमयता होती है और उसकी भावना कल्याणमयी होती है।

साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ—साहित्य-सर्जना की प्रेरक प्रवृत्ति भावना और भावना की प्रेरक प्रवृत्ति प्रतिभा है। अर्थात् साहित्य की सर्जना साहित्यकार की प्रतिभा से होती है या अनुभावों और अनुभूतियों को ही साहित्य के रूप में भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। पर इस अकेली प्रतिभा से

अभुक्त काम को साहित्य-सर्जना की प्रेरक शक्ति मानते हैं। मनुष्य जिस कामवृत्ति को सामाजिक मर्यादा के भय से तृप्त नहीं कर पाता, वही साहित्य के माध्यम से तृप्ति खोजती है, अतः साहित्य की प्रेरणा वासना के दमन की स्वस्थ प्रवृत्ति हुई।

एडलर के अनुसार वास्तविक जगत् के अभावों से काल्पनिक जगत् में छुटकारा पाने की प्रवृत्ति ही साहित्य-सृजन में सहायक होती है और युग के अनुसार साहित्य का जन्म काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों ही प्रवृत्तियों से होता है, इनके मूल में जीवनेच्छा ही प्रबल प्रवृत्ति है।

इन मूल प्रेरक प्रवृत्तियों पर दिए गए विचारों के माध्यम से ज्ञात होता है कि साहित्य की मूल प्रेरक-प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की इच्छा है, मनुष्य संसार के नाना पदार्थों से प्रेरणा ग्रहण करके उसे अपनी अनुभूति से नवीन रूप देकर अभिव्यक्त करना चाहता है और इसी से प्रतिभा, अभ्यास आदि के संसर्ग से साहित्य का जन्म होता है।

साहित्य के मूल तत्त्व—संपूर्ण सृष्टि की रचना ही तत्त्वपूर्ण है, पाच तत्त्वों के संयोग से मानव-शरीर का निर्माण हुआ है। अतः जब प्रत्येक वस्तु तत्त्वों के संयोग से बनी है तो फिर साहित्य भी तत्त्वों से अछूता कैसे हो सकता है? पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के मूलतत्त्वों पर विचार किया है मनुष्य अभिव्यक्ति को सुन्दर, सुव्यवस्थित, आकर्षणमय और प्रभावशाली बनाने के लिए जिन साधनों का उपयोग करता है, साहित्य में उन्हीं को साहित्य के तत्त्व कहा जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के मूलतः चार तत्त्व माने हैं—

(१) भाव तत्त्व (Emotional Element)।
(२) बुद्धि-तत्त्व (Intellecturl Element)।
(३) कल्पना-तत्त्व (Element of imagination)।
(४) शैली-तत्त्व (Element of style)।

अब हम इन पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) भाव तत्त्व—जो भाव साहित्यकार को किसी विषय पर कुछ लिखने को प्रेरित करते हैं, वे ही पाठकों के हृदय में भी उठकर पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। साहित्यकार का यह प्रयास भावतत्त्व के कारण ही पूर्ण होता है। यह साहित्य का मूलतत्त्व है, क्योंकि साहित्यकार साहित्य में अपनी भावनाओं

ही होता है। मन में उद्भव भाव तब तक अनभिव्यक्त ही रहते है, जब तक कल्पना के माध्यम से उनका चिन्तन-मनन नही हो जाता। साहित्यकार यथार्थ जगत् में जो अनुभव देखता है या अनुभव करता है, उसे रूप मे अभिव्यक्त नही करता, अपितु पहले से तो उसे कल्पना तत्त्व के द्वारा भव्य और आकर्षक रूप प्रदान करता है—ऐसा रूप जो सभी के मन को आह्लादित कर दे। साहित्यकार का कथन सत्य होने के साथ-साथ रसमय भी होता है और यह रसमयता वह कल्पना-तत्त्व के माध्यम से ही लाता है। यह कल्पना-तत्त्व की ही विशेषता है कि वह अतीत को वर्तमान मे और परोक्ष का प्रत्यक्ष में वर्णन कर देता है। कल्पना ही वह शक्ति है जो साहित्य को आस्वाद्य बनाती है। इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् Dugald Stewart का कथन है कि असाधारण कल्पना ही काव्य-निर्माण की शक्ति उत्पन्न करती है—"An uncommon degree of imagination constitutes poetical genious"

यहाँ द्रष्टव्य है कि कल्पना का आश्रय औचित्य की सीमा मे ही होना चाहिए, कही ऐसा न हो कि कल्पना के अतिरेक मे काव्य या साहित्य का समस्त सौन्दर्य ही नष्ट हो जाए।

(४) **शैली तत्त्व**—भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व—ये तीनो अनुभूति से सम्बद्ध है, पर इन तीनो के सयोग से निष्पक्ष साहित्य भावनाओ के मूतरूप शैली-तत्त्व के माध्यम से ही मिलता है। भाव चाहे कितने ही विशद्, उदात्त और सयोजित क्यो न हो यदि अभिव्यक्ति मे सबलता नही है तो वे व्यर्थ है। अत शैली का साहित्य मे प्रयोग परमतत्त्व है। साहित्यकार जिस भाषा, रूप और ढग से अपने विचारो को प्रकट करता है, वही शैली कहलाती है। यह भावो तथा रस के सचार मे भी सहायक होती है। विषय को सजाने-सँवारने, युक्ति-सगत बनाने और उसमे प्रभाव उत्पन्न करने मे शैली तत्त्व ही प्रमुख है। इस प्रकार से यह काव्य या साहित्य का शरीर है। इसे हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है—शब्द-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व।

(क) **शब्द-तत्त्व**—इसके अन्तर्गत शब्दागत चमत्कार, शब्दालकार, वृत्तियाँ शब्द चयन से उत्पन्न प्रवाह तथा सगीतमयता आदि आते हैं। यह तत्त्व काव्य में विशेष प्रभावोत्पादक होता हैं। शब्द-गति दो प्रकार की होती है—साधारण और नतन। साधारण मे गद्य और नर्तन मे काव्य निष्पन्न होता है।

(ख) **अर्थ-तत्त्व**—साहित्य मे प्रयुक्त शब्द जब तक सार्थक न हो तो उनका

के पोषक हैं। इनके अनुसार, साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि, इनके अनुसार, साहित्य मे मजुलता, रमणीयता तथा कोमलता होती है। ब्रेडले ने तो साहित्य का मानदण्ड केवल सौंदय का ही माना ह और इसके लिए उसे जीवन से पूर्ण पृथक् रखा है। मिल्टन मरे के अनुसार, शुद्ध कवित वही है जो कवि के अनुभव को ज्यों-का-त्यो पाठक के सम्मुख उपस्थित कर दे। एवरक्राम्बी का भी यही कहना है कि शुद्ध कविता वह है जो शुद्ध अनुभव की अभिव्यक्ति करे और शुद्ध अनुभव भी वही है जिसका हेतु स्वय अनुभव हो, जिसका मूल्याकन नैतिकता, सत्य और उपयोगिता के बाह्य मानदण्डो से न हो।

ऑस्कर वाइल्ड तो स्पष्ट रूप से साहित्य को आत्माभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कला का लक्ष्य अनुभव का फल न होकर स्वय अनुभव ही होता है—

"Not the fruit of experience, but experience is the end Emotion for the sake of emotion is the aim of art,"

इस प्रकार साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने वाले विचारकों का तर्क है कि साहित्य मे उसके सर्जक की अनुभूतियाँ ही प्रमुख होती हैं। साहित्यकार जो भी सोचता है, अनुभव करता है, उसी का वह साहित्य मे वर्णन करता ह। अत साहित्य की सजना साहित्यकार अपने सुख के लिए एव अभिव्यक्ति की चाह की पूर्णता के लिए करता है। यही कारण है कि साहित्य मानव के आनन्द की वृद्धि मे सहायक होता है और इससे पाठकों की भावनाएँ तृप्त होती हैं

साहित्य जीवन की आलोचना है—इसके विपरीत कुछ विचारक साहित्य को समाज-सापेक्ष मानते ह। इनका विचार है कि साहित्य जीवन की आलोचना करके मनुष्य को नैतिकता का मार्ग दिखाता ह। जीवन मे क्या हो रहा है, कैसा होना चाहिए और किस प्रकार होना चाहिए, साहित्य इसी का विवेचन करता है। एक ओर तो यथार्थवादी दृष्टि मे साहित्य यह प्रस्तुत करता है कि वर्तमान जीवन कैसा है और दूसरी ओर वह आदर्शवादी दृष्टि मे यह प्रस्तुत करता है कि जीवन मे क्या होना चाहिए। पर इसका अपवाद भी स्वय साहित्य के लिए ही घातक रहता है। इसका अतिवादी परिणाम यह

भावनाओ का निरूपण ही साहित्य नहीं है, इसके साथ-साथ भावनाओं का परिष्कार तथा अक्षय प्रकृति का जीवन से सामजस्य भी है।"

समग्रत साहित्य मे जीवन का यथातथ्य निरूपण और इसकी आलोचना दोनो ही होती हैं।

साहित्य आत्मा से पलायन—निराशावाद के उदय के साथ-साथ विचारको के एक वर्ग मे यह भावना भी घर कर गई कि काव्य या साहित्य आत्मा से पलायन है। इलियट ने भी स्पष्ट माना है कि व्यक्तिगत भावो की अभिव्यक्ति कला नही है, वरन् उनसे पलायन कला है। कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म त्याग तथा व्यक्तित्व का निरन्तर बहिष्कार है—"The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality"

यहाँ वैयक्तिक स्तर को त्यागने से उसका अभिप्राय सर्वसाधारण के भावों को धारण करने से है, पर बाद में कवियो ने इसका दूसरा अर्थ लिया और काव्य में निराशावाद का उदय हुआ, जिसमें कवि ससार से पलायन के स्वप्न देखने लगा। पर, आत्माभिव्यक्ति से पलायन का अर्थ है—सर्वसाधारण की अनुभूतियो को आत्मसात् कर लेना। इस प्रकार कवि के अनुभव सबके अनुभव बन जाते हैं और साहित्य मे सबकी भावनाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं।

समीक्षा—इन तीनो मतो के विवेचन से स्पष्ट है कि ये मत ऊपरी तौर पर जिस प्रकार एक-दूसरे के विरोधी लग रहे हैं, सूक्ष्म रूप मे अध्ययन करने पर एक-दूसरे के पूरक ही ज्ञात होते हैं। वस्तुत ये तीनो सिद्धान्त अतिवादी हो जाते हैं, यही त्रुटि है, अन्यथा ये साहित्य के स्वरूप की व्याख्या ही करते हैं। साहित्य आत्माभिव्यक्ति भी है और जीवन की आलोचना भी। कारण, न तो निरी आत्माभिव्यक्ति ही साहित्य मे आ सकती है और न निरी आलोचना ही। व्यक्ति या साहित्यकार जो कुछ भी सोचता है या अनुभव करता है, वह इसी ससार और जीवन के आधार पर ही तो करता है। अत उसकी प्रत्येक अनुभूति जीवन से ही सम्बद्ध होगी, अत आत्माभिव्यक्ति मे भी उसके जीवन-अनुभवो का स्वर ही ध्वनित रहेगा।

इसी प्रकार यदि साहित्यकार 'साहित्य को जीवन की आलोचना' मानता है तो वह जो आलोचना करेगा, पहले अपने मन और बुद्धि मे उसे ग्राह्य भी

अनुकरण मानने वाले विचारकों में प्लेटो, अरस्तू और ड्राइडन आदि का नाम मुख्य है। अरस्तू ने साहित्य को प्रकृति की अनुकृति माना है। प्लेटो अनुकरण के द्वारा वास्तविक वस्तु (Some thing that is) तथा जो वस्तु उसकी प्रतिकृति है (Some thing that is like it) के बीच वाले सम्बन्ध की ओर सकेत करते हैं। प्लेटो के अनुसार, ईश्वरजनित सत्य ही वास्तविक है और उसका अनुकरण ससार है तथा ससार का अनुकरण साहित्य है। अत साहित्य सत्य से परे होता है। उसके अनुसार अनुकरण में अनेक खतरे हैं—इससे अज्ञान, भ्रान्ति तथा असावधानी को पनपने में सहायता मिलती है।

अरस्तू साहित्य को प्रकृति की अनुकृति (Imitation) मानते है। वह इसका अर्थ पूरी नकल नही मानते, अपितु वह शुभ और सुन्दर से समन्वित होती है। उनका स्पष्ट कथन है कि अनुकृति की प्रक्रिया में प्रकृति के अनेक दोष और अभाव कला द्वारा पूरे कर दिए जाते हैं—"Generally, art partly completes what nature cannot bring to a finish and partly imitates her"

अरस्तू के अनुसार अनुकरण का अर्थ कोरी कल्पना न होकर विचारो के अनुरूप सृजन है। प्रत्येक वस्तु का आदर्शात्मक रूप है जो पूरा-पूरा प्रकट नहीं होता। साहित्यकार इसी का अनुकरण करने की चेष्टा करता है। अनुकरण के विषय का रूप बाह्य ही नही, वरन् आन्तरिक रूप भी है। काव्य में नाम, आकार आदि का ही नही—विचार, अनुभूति, कल्पना आदि का भी अनुकरण होता है और इन दोनो मे भी आन्तरिक अनुकरण मुख्य होता है।

साहित्य मे प्राणी के कार्य-अनुकरण की वस्तु हैं। यहाँ प्राणी के कार्य से अर्थ मानव के कार्य से नही, वरन् उसके भाव, विचार आदि से भी है, क्योकि, विचार और चरित्र ही मानव-कार्य को जन्म देते हैं। जिस प्रकार अरस्तू का अनुकरण से तात्पर्य यथार्थ प्रत्यांकन से नही, भावनापूर्ण अनुकरण से है। बूचर ने कहा है—"अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है, सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—साकेतिक उल्लेखन नही। कला या कविता को मानव-जीवन के सर्वव्यापक तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता हुआ वह अनुकरण को रचनात्मक प्रक्रिया (Creative action) मानते हैं।"

होरेस भी साहित्य को जीवन का अनुकरण मानते हैं, क्योकि, उसने

विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुकृति मे व्यक्तिगत भावनाओ का समावेश हो जाता है और अभिव्यक्ति मे यथार्थ चित्रण ही होता है—ज्यो-का-त्यो वर्णन होता है हम वास्तविक जीवन मे जो कुछ देखते है—अच्छा या बुरा—उसका वैसा ही वर्णन कर देना, अपनी कल्पना तथा व्यक्तित्व के योग के बिना, अभिव्यक्ति कहलाता है।

अनुकरणवादी आलोचक साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति नही मानते, क्योंकि, उनके अनुसार इस प्रकार वास्तविक जीवन की पूर्णताएँ साहित्य मे भी झलकती रहेंगी, जबकि साहित्यकार अपनी कल्पना के माध्यम से पूर्णता प्रदान करता है। एवरक्रौम्बी ने स्पष्ट कहा है कि अरस्तू का तर्क था, "यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमे उससे कुछ अधिक नही दे सकती थी जो प्रकृति देती है, पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं, क्योकि वह हमे वह प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती।

वस्तुत साहित्य अपूर्णता की पूर्ति है। वास्तविक जीवन मे कोई घटना, कोई दृश्य मन को अपनी ओर आकृष्ट नही करता, लेकिन साहित्य मे वही मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, क्योकि, कलाकार अपनी कल्पना से उसे नूतनता तथा पूर्णता प्रदान करता है। अरस्तू के अनुसार जीवन का साहित्य मे अनुकरण भावनामय होता है। अत अरस्तू के अनुकरण मे भावना और कल्पना का भी समावेश है, जबकि इलियट साहित्य को पूर्णतया निर्वैयक्तिक मानता है।

निष्कर्ष—यदि वास्तव मे देखा जाए तो ज्ञात होता है कि साहित्य न तो पूरी तरह जीवन का अनुकरण है और न पूरी तरह जीवन की अभिव्यक्ति ही। यदि उसे अनुकरण मानते हैं तो वह सत्य से दूर चला जायगा और यदि अभिव्यक्ति मानते हैं तो वह कटु यथार्थ हो जाने से आकर्षक नही रहेगा। वस्तुत साहित्य इन दोनो के मध्य की वस्तु है। यही कारण है कि साहित्य में कल्पना और नवोन्मेष (Invention) को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। कवि अब इन्द्रियगम्य संसार के वर्णन को ही यथार्थवाद मानता है। यह अब ऐसे उपकरणो को साहित्य मे ला रहा है जो अभी तक नहीं आए।

समग्रत कहा जा सकता है कि साहित्य अपनी भावभूमि वास्तविक जीवन

कारलायल ने शैली को विचारों का 'परिधान' न कहकर 'त्वचा' कहा है, क्योंकि, शरीर और त्वचा का अभेद्य सम्बन्ध है। न्यूमैन शैली को बोलने या लिखने की रीति अथवा विधि मानते हैं। परन्तु वह बोलने अथवा लिखने की रीतिमात्र ही नहीं है अपितु उसके पीछे लेखक का व्यक्तित्व भी अन्तर्निहित होता है। अन्तिम दोनों परिभाषाएँ इसी बात की ओर संकेत करती हैं। अतः उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को ध्यान में रखकर शैली की सर्वांगीण परिभाषा इस प्रकार की गयी है—शैली मानवोद्‌गारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है, जिसके साथ उसका व्यक्तित्व गुम्फित होता है।"

शैली तथा भाषा-सौष्ठव के सम्बन्ध में डा० सैम्यूल जानसन के विचार नव्य-शास्त्रवाद सिद्धान्तों के अधिक निकट है। वह भाषा शैली को अधिकाधिक गरिमापूर्ण, अलंकृत तथा सौष्ठवपूर्ण बनाने के पक्ष में हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"The author must recommend them by the super addition of elegance and imagery, to display the colors of varied diction and pour forth the music of modulated periods"

सिद्धान्ततः वह शब्दों को उसी प्रकार निखारने के पक्ष में हैं, जिस प्रकार हीरा तराशा जाता है। डा० जॉनसन अलंकृत शैली को काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। परन्तु अपनी व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने गरिमापूर्ण शैली का दुराग्रहपूर्वक समर्थन नहीं किया है, वरन् शेक्सपीयर के कामदी वार्तालापों की प्रशंसा की है और वाग्‌आडम्बर, अनावश्यक तथा अनुपातहीन अलंकरण की निन्दा की है। डा० जॉनसन विधा के अनुरूप भाषा-शैली के प्रयोग के पक्ष में हैं। त्रासदी के लिए वह भव्य-शैली चाहते हैं और साधारण विषयों के लिए अलंकृत-शैली का वह विरोध करते हैं। उदाहरणार्थ, ड्राइडन के 'Annas mira Bilis' में वह नाविक विद्या से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की निन्दा करते हैं, क्योंकि, उनका मत है कि काव्य की भाषा सार्वभौम होनी चाहिए—

"poetry is speak on universal language"

उचित अवसर पर विषय तथा सन्दर्भ के अनुरूप कठोर शब्दों के प्रयोग का समर्थन करते हैं और निरर्थक श्लेष, अनेकार्थता तथा वाक्‌छल का विरोध करते हैं।

असगत माने गए है। इस आधार पर चित्रात्मक, काव्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, आनुप्रासिक, रसात्मक आदि अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं, किन्तु विद्वानो ने केवल दो भेदो को ही मान्यता प्रदान की है जो विषय की भावात्मकता और विचारात्मकता पर आधारित हैं। अत विषय के आधार पर शैली के दो भेद हैं—रागात्मक शैली और प्रज्ञात्मक शैली। रागात्मक शैली मे हृदय-पक्ष की प्रबलता और भावना का प्राधान्य रहता है। यह शैली विशेष रूप से कविता मे प्रयुक्त होती और साहित्य को सरल बनाने के उद्देश्य से साहित्य मे विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। प्रज्ञात्मक शैली मे मस्तिष्क पक्ष की प्रबलता तथा तर्क की प्रधानता रहती है। यह शैली विशेष रूप से निबन्ध और समीक्षा मे प्रयुक्त होती है।

अलकार और वाक्य-विन्यास के आधार पर—अलकार और वाक्य-विन्यास के आधार पर भी शैली के भेद किए जा सकते हैं, किन्तु ये दोनो ही आधार अधिक समीचीन नही है। अलकारो के आधार पर अलकार-युक्त और शैली तथा वाक्य-विन्यास के आधार पर प्रवाहपूर्ण शैली तथा प्रयासपूर्ण शैली—ये दो भेद किए जा सकते हैं।

शैली का महत्त्व—शैली की महत्ता स्वय-सिद्ध है कि वह मानव-भावनाओ और विचारो की अभिव्यक्ति का एक मात्र साधन है। यदि किसी व्यक्ति के पास भावो की मार्मिकता भी है और विचारो की गहनता भी है, किन्तु उसके पास उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम—शैली का अभाव है, तो वह गूँगे मनुष्य की भाँति है और यदि शैली पर उसका पूर्णाधिकार है तो वह उस वाक्-पटु व्यक्ति के समान है जो निरर्थक-सी बात को भी अत्यन्त आकर्षक ढग से कह सकता है। अत स्पष्ट है कि वही साहित्यकार सफल होता है जिसकी शैली, अभिव्यक्ति की शक्ति सक्षम और सबल होती है। शैली के अभाव मे भाव चाहे कितने ही उदात्त क्यो न हो, वे प्रभावोत्पादक कदापि नही हो सकते।

ग्रीक आचार्य अरस्तू यद्यपि शैली को अत्यधिक महत्त्व नही देते और उसे कल्पनाप्रसूत उपकरक मानते हुए उसका उद्देश्य श्रोताओ को मुग्ध करना मानते हैं तथापि उसके महत्त्व को भी पूर्णत अस्वीकार न कर सके। उनके शब्दो मे, "प्रतिपाद्य विषय चाहे कुछ भी हो, भाषा, साधनो का भी यथार्थ महत्त्व

है। इस प्रकार विधा-भेद शैली से ही ज्ञात होता है। अत शैली का महत्त्व निर्विवाद है।

इसके अतिरिक्त सभी वाह्य-तत्वो को सुधारना, सँवारना और उन्हें एक विशिष्ट विधि प्रदान करना शैली का ही कार्य है। पग-पग पर पाठक की उत्सुकता बनी रहे और यह प्रयत्न करना कि उसे आह्लाद प्राप्त हो, यह भी बहुत सीमा तक शैली पर ही निभर करना है। शैली का, वैसे तो गुण प्रसाद है, पर साथ ही साथ ओज तथा माधुर्य का भी विषयानुकूल समावेश शैली ही करती है। समग्रत शैली की विभिन्नता ही विधा के स्वरूप का निर्माण करती है और इस प्रकार विभिन्न प्रकार का साहित्य प्रदान करने का काय शैली का ही है।

प्रश्न ३५—"काव्य-सत्य तथा काव्य-सौन्दर्य द्वारा निर्धारित उपबन्धो के अधीन जीवन की समीक्षा का नाम काव्य है।" मैथ्यू आर्नाल्ड के इस कथन के आधार पर काव्य-लक्षणों की समीक्षा कीजिए।

अथवा

"कविता प्रबल भावो का सहज उच्छलन है।" वर्ड्सवर्थ के इस कथन की काव्य-लक्षणो के सदर्भ मे समीक्षा कीजिए।

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार विद्वानो ने काव्य के जो लक्षण दिए हैं, उनमे भी पर्याप्त विविधता पायी जाती है, यह विविधता काव्य के स्पष्ट करने मे दिखाई देती है, क्योकि, काव्य समाज-सापेक्ष होने के साथ-साथ वैयक्तिक अनुभूतिया का भी अभिव्यजक होता है और इन दोनो की मान्यताएँ सर्वदा परिवर्तित होती रहती हैं, इसलिए काव्य के लक्षण भी इनके साथ ही परिवर्तित होते रहते हैं। युगानुकूल परिस्थितियो के अनुसार विचारको ने काव्य के विभिन्न लक्षण दिए हैं। इन लक्षणो से मूलत हमे दो भेद दिखाई देते हैं—एक प्रकार के विद्वान् वे हैं जो काव्य का स्थूल और वाह्य रूप से निरूपण करते हैं और दूसरे प्रकार के विद्वान् वे हैं जो काव्य का आतरिक अनुभूति के आधार पर निरूपण करते हैं। वाह्यपक्ष पर बल देने वाले विचारको के काव्य-लक्षणो को हम वस्तुपरक कह सकते हैं और जो आत्म-तत्व पर बल देते हैं उनके काव्य-लक्षणो को अनुभूति-परक कह सकते हैं। प्रथम वग मे प्लेटो, अरस्तू, ड्राइडन, जॉनसन, कारलायल, मैथ्यू आर्नाल्ड आदि विद्वान् आते हैं, तो दूसरे वग मे रोमाण्टिक विचारधारा तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना पद्धति के

डा० जॉनसन की काव्य-परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। कविता का जो प्राणतत्व भाव है, उसकी ओर इसमें कोई ध्यान ही नहीं दिया गया है। उनके अनुसार, "कविता वह कला है, जो कल्पना, की सहायता से विवेक द्वारा सत्य और आनन्द का सयोजन करती है।" यथा—

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reosan"

इस लक्षण में डा० जॉनसन ने काव्य के सभी तत्वों—सत्य, आनन्द, विवेक और कल्पना—को एक साथ सयोजित कर दिया है। यह काव्य के धर्म (प्रयोजन) को स्पष्ट करता है, न कि काव्य के स्वरूप को। दूसरे, इसमें काव्य के कलात्मक पक्ष पर ही विचार किया गया है अत अव्याप्ति दोष भी है।

काव्य के लक्षण देते समय वस्तुपरक दृष्टि से मैथ्यू आर्नाल्ड के लक्षण सर्वसिद्ध हैं। उनके अनुसार काव्य के लक्षण ये हैं—

"Poetry is the criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty"

अर्थात् "काव्य-सत्य तथा काव्य-सौन्दर्य द्वारा निर्धारित उपबन्धों के अधीन जीवन की समीक्षा का नाम काव्य है।"

काव्य के ये लक्षण जीवन तथा विचार—इन दो तत्वों पर विशेष बल देते हैं। साथ ही, इसमें काव्य के प्रति कल्याणवादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। पर इसमें एक न्यूनता भी है, और वह यह है कि इसमें रागात्मक तत्व की ओर कोई सकेत नहीं किया गया है। यद्यपि इसमें सौन्दर्यवादी दृष्टि है, फिर भी शास्त्रीय दृष्टि से कोई महत्व नहीं फिर इसमें अतिव्याप्ति तथा अस्पष्टता आदि दोष भी हैं—यह लक्षण बहुत उलझे हुए हैं। यद्यपि मैथ्यू आर्नाल्ड की काव्य-परिभाषा अपने से पहले विचारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, फिर भी इसमें अनेक दोष हैं—

प्रथम, इसमें काव्य को साध्य की अपेक्षा साधन बना दिया गया है, जबकि काव्य के साधन तो अन्य हैं, वह स्वय ही साध्य है।

द्वितीय, इसमें 'समीक्षा' शब्द का प्रयोग उलझावपूर्ण है। इससे अतिव्याप्ति दोष आ जाता है, क्योंकि जीवन की समीक्षा तो दर्शन और शास्त्र

सयुक्त नही होती, तब तक वे काव्य कहां होती हैं ? इसलिए बिना अभिव्यजना के कोई भी काव्य का स्वरूप नहीं धारण कर सकता। पर इस परिभाषा मे अभिव्यजना-तत्व की पूर्णरूपेण उपेक्षा की गयी है।

फिर प्रबल भावो का महज उच्छलन भी तो कविता नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक मनोभाव तब तक कविता नही, बनता जब तक कल्पना के माध्यम मे वह अभिव्यक्ति न पा जाए।

इस लक्षण मे विलियम वर्ड् सवर्थ ने जो Recollected शब्द दिया है, उसका अर्थ भी पूर्ण स्पष्ट नही है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है, पुनर्संग्रह, पर यहाँ भावो के पुनर्संग्रह से कवि का क्या तात्पर्य है, यह समझ मे नही आता। यदि इसका तात्पर्य अनुभूति भावनाओ के स्मरण को पुन शब्दार्थ द्वारा सग्रह करवा लिया जाय तो कुछ बात भी बनती है, पर यह तो केवल अनुमान का विषय है, परिभाषा मे इसका कोई उल्लेख नहीं है।

इस पर भी विलियम वर्ड् सवर्थ की इस परिभाषा की उपादेयता निर्विवाद है। इसमे कवियो की भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक विचार अथवा मनोवेग काव्य नही बनता, जब उन्हे अनुभूति मिलती है तो कवि की वाणी से नि सृत होकर काव्य बन जाते हैं।

अत कहा जा सकता है कि काव्य मे अन्तरग और बहिरग —दोनो पक्षो का होना आवश्यक है और इसके समन्वय से ही काव्य होता है।

प्रश्न ३६—काव्य किसे कहते हैं ? इस सम्बन्ध मे पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो के विचारो को प्रस्तुत करते हुए काव्य के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य की परिभाषा करते समय भारतीय विद्वानो की भाति किसी एक मूलभूत गुण को सामने नहीं रखा, जैसे भारतीय आचार्यों ने आत्मा का आधार मानकर ही अनेक सम्प्रदाय खडे कर दिए। न ही वे लोग अनुभूति और अभिव्यक्ति के झगडे में फँसे हैं। उन्होंने तो कल्पना, भाव, शैली आदि किसी न किसी उत्कृष्टता को सामने रखकर ही काव्य की परिभाषाएँ की हैं। उनमे से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं

अरस्तू काव्य मे अनुकृति को प्रधानता देते हुए काव्य की परिभाषा इस प्रकार करता है—शब्द माध्यम मे व्यक्त होने वाली अनुकृति मे जब शब्द के साथ छन्द और सगीतात्मकता का योग हो जाता है तब काव्य की उत्पत्ति

"Poetry is meterical compositon " अन्यत्र साहित्य के विभिन्न तत्वो का सम्मिश्रण करते हुए जॉनसन लिखता है—"कविता सत्य तथा प्रसन्नता के मिश्रण की कला है, जिसमे बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।" (poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason)

डॉ॰ जॉनसन ने अपनी इस परिभाषा मे कविता के चारो तत्वो का समावेश कर दिया है। 'कला' शब्द मे अभिव्यक्ति भी आ जाती है।

जेम्स हेनरी ले हण्ट (Games Henry ligh hunt) कविता को 'पैशन' मानता है। यहाँ 'पैशन' (passion) शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी मे इसका पर्याय वासना है। "वासना के लगभग कहने से यह प्रयोजन है कि वासना सस्कारभूमि पर पहुँची हुई हमारी दूषित प्रवृत्ति का नाम हो गया है। यद्यपि इसका मौलिक अर्थ यह नही था। 'पैशन' (passion) मे बलवती इच्छा की भावना अधिक सम्मिलित है।" (Hunt) कविता की परिभाषा इस प्रकार करता है—"The utterance of passion for truth, beauty and power embodvihg and illustrating its conceptions by imagination and fancy, modulating its language on the principles variety in Unity "

अर्थात् कविता सत्य, सौन्दय और शक्ति के लिए होने वाली कृति का मुखरण है, यह अपने आपको प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के अधार पर खडा करती है और निर्दिष्ट करती है। यह भाषा की विविधता तथा एकता के सिद्धान्त पर स्वर-लय सम्पन्न करती है।

हण्ट (Hunt) महोदय ने कविता की परिभाषा मे उन सभी बाह्य उपकरणो का सग्रह कर दिया है जिससे सत्काव्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु वह उस प्रतिभा की ओर सकेत नही करता जो कवि-हृदय के लिए अत्यन्त अनिवार्य है।

कारलायल (Carlyle) ने कविता को सगीतमय विचार (Muscial thoughts) कहा है और सगीतमय विचार की परिभाषा इस प्रकार की है—

"A musical thought is one spoken by a mind that had penetrated in to the inmost heart of the thing, detected the inmost mystery of it "

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

प्रश्न १—प्लेटो ने कला को 'सत्य से दूर' सिद्ध करने के लिए जिन उक्तियों का आश्रय लिया है, उनका विवेचन-विश्लेषण कीजिए।

अथवा

'प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त' विषय पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत कीजिए।

यूनानी विचारक प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी कवि-हृदय-सम्पन्न था। उसे केवल बौद्धिक आनन्द स्वीकार था, ऐन्द्रिय आनन्द नही। अतः काव्यजन्य वह आनन्द जो इन्द्रियों से सम्बन्धित हो, उसे कदापि मान्य न था। उसके समय की कविता मनोरंजनार्थ लिखी जाती थी, इससे वह उसके सुधार के लिए अत्यधिक चिन्तित था। उसके मतानुसार मनुष्य के दो धर्म है—(१) विशिष्ट व्यक्ति के रूप में उसे सत्य प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिए और (२) समाज के सदस्य के रूप में उसे सदाचारी होना चाहिए। उसने अपने कला-सम्बधी विचार दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सिद्ध किए है।

इसीलिए प्लेटो कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानते है, जिस सीमा तक वह राज्य तथा मानव-जीवन के लिए लाभप्रद हो। उन्होने स्पष्ट लिखा है—"It shall be no argument that a poem or poet is charming admirable or even sacred—vain agrument of aesthetes."

प्लेटो के अनुसार सत्य वह है जो समाज व व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान करे। वह काव्य को इसी कसौटी पर कसते है। जो काव्य इस कसौटी पर सही उतरता है, वह सत्य है और शेप काव्य असत्य है उन्होंने स्पष्ट कहा है—"**जब कभी कई प्राणियों या वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है, तो हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका एक सामान्य आदर्श (Idea) या रूप (Form) होगा।**" यही सामान्य आदर्श उसके अनुसार 'सत्य' और विशेष सत्य ऋत (Universal) सत्य की छाया (Appearance) मात्र है।

५ वह आनन्द के माध्यम से शिक्षा भी दे।

६ विषय के स्वरूप-निरूपण के लिए कल्पना आवश्यक है।

७ वह बुद्धि की शक्ति के द्वारा नियन्त्रित होती है।

८ कविता में सरसता और अबाध अभिव्यक्ति का विशेष महत्व है।

९ कविता की भाषा भी कलापूर्ण होनी चाहिए।

अन्त में, हम कविता की परिभाषा इस प्रकार से कर सकते हैं—

काव्य केवल अनुभूतियों का प्रकाशन, सत्यता की प्रतिमूर्ति और कल्पना का मधुर नीड है, जिसके पुनीत प्रांगण में मानव अपने द्वन्द्व और संघर्ष की जटिलता से थककर पार्थिव वेदना से व्यथित हो, उल्लास की भावना से परिपूर्ण हो अपने को विस्मृत कर देता है।

प्रश्न ३७—कल्पना-तत्त्व से क्या अभिप्राय है ? इस पर विभिन्न विद्वानों के मत देते हुए काव्य में इसके महत्त्व का विवेचन कीजिए।

कल्पना साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। ललित या प्रेरणात्मक साहित्य कल्पना से ही अनुप्राणित होता है। साहित्य का मानव-ज्ञान के विविध क्षेत्रों से पृथक् स्वरूप व व्यक्तित्व स्थापित करने वाले जितने तत्व हैं, उनमें कल्पना का स्थान अत्यन्त उच्च है। पश्चिम में साहित्य के चार तत्वों—बुद्धि-तत्व, भाव-तत्व, कल्पना-तत्व और शैली-तत्व में कल्पना-तत्व प्रमुख रूप से समाविष्ट है। बेनदेतो क्रोचे जैसे विचारकों ने तो काव्य में कल्पना को मूर्धन्य स्थान ही दे डाला है। सामान्यतः कल्पना साहित्य में रंजन व रोचकता का तत्व है। वस्तु-तत्व का सुंदर व आकर्षक विन्यास करने में कल्पना का बहुत बड़ा हाथ है। इसे हम वस्तु और कला का संयोजक-तत्व भी कह सकते हैं।

कल्पना की परिभाषा करते हुए स्टेफेन जे० ब्राउन ने लिखा है, "कल्पना वह शब्द या वाक्य है जो इन्द्रियगोचर पदार्थ की कमनीयता अन्य किसी दूसरे पदार्थ के समकक्ष रखकर बढ़ा देता है।" फ्राकास्तारो ने प्रतिभर्जन करने वाली भावना और कल्पना को अलग-अलग बताते हुए कहा है, "ये दोनों मिलकर शिल्पकार, संगीतज्ञ और गणितज्ञ तो बना सकती हैं, किन्तु कवि नहीं।" फिलिप सिडनी के विचार से, "काव्य-कल्पना में अन्वेषण की शक्ति होती है।" ड्राइडन का विश्वास है, "कल्पना काव्य में यहाँ तक सजीवता लाती है कि

करता है, यही उसकी मेधा का विकास करती है। उसे साधारण से असाधारण बनाती है। इस असाधारणता का उल्लेख करते हुए पाश्चात्य विद्वान् ड्यूगल्ड स्टुअर्ट कहते हैं—

"An uncommon degree of imagination constitutes poetical genius"

'कल्पना-शक्ति के मूल में ही कवि की सजना-शक्ति है और कल्पना का औदात्य ही उसको असाधारणता प्रदान करता है।"

कॉलरिज ने कल्पना के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया है। कॉलरिज मन को सक्रिय मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं—

अर्थात् "दर्शनानुभूति के लिए मन का स्वय सक्रिय होना आवश्यक है।" कॉलरिज ने कल्पना (Imagination) को फैन्सी (Fancy) से भिन्न माना है। उसके मतानुसार, "फैन्सी वह प्रवृत्ति है जो चित्र सघातो को उत्पन्न करती है।" इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मैगनस ने इस प्रकार लिखा है—

"To make perception possible there is needed an active power of mind itself"

"कॉलरिज के अनुसार 'फैन्सी' वह प्रकृतशक्ति है, जिसके द्वारा चित्र-सघातो की उत्पत्ति होती है। यह पूर्वपरिचित तथ्यो से ही नवीन चित्रो की उद्भावना करती है। ये उद्भावनाएँ समन्वय द्वारा होती हैं।" अस्तु, विभिन्न विद्वानो के विचारो का समन्वय करते हुए कल्पना के निम्नांकित लक्षण बताए जा सकते है

(१) कल्पना पूर्व अनुभूतियो पर आधारित होती है।
(२) कल्पना भविष्य की ओर अभिमुख होती है।
(३) कल्पना की क्रिया इच्छा-प्रेरित होती है।
(४) कल्पना बुद्धि के नियन्त्रण से मुक्त होती है।
(५) कल्पना का आलम्बन अप्रत्यक्ष होता है।
(६) कल्पना की सामग्री बिम्बो के रूप मे मस्तिष्क मे सचित रहती है।
(७) कल्पना का कार्य पूर्व उपलब्ध ज्ञान-सामग्री को नये रूप में प्रस्तुत करना है।

काव्य मे कल्पना-तत्व अग्रलिखित कार्य करता है—

छन्द-विरोधी विचारधारा—छन्द-विरोधी विचारधारा के समर्थकों ने छन्द को कविता के लिए आवश्यक माना है और इसके लिए कारण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि जब विचार-जगत् में छन्द का कोई स्थान नहीं है, न हम छन्द में सोचते हैं और न कल्पना करते हैं तो फिर छन्द में लिखें ही क्यों ? विचारों में तो कोई समानता नहीं होती, जब इनमें कृत्रिमता नहीं तो भावों के सहज उच्छलन-कविता में छन्द के द्वारा कृत्रिमता क्यों लाई जाय ? इससे तो कविता में दिए जा रहे भावों की स्वाभाविकता की हत्या होगी ? कविता को जीवन का प्रतिरूप मानें तब भी छन्द की कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, छन्द एक प्रकार का बंधन है जो कलाकार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालता है। कवि जब अपने भावों में लीन होता है, उस समय उसके ऊपर किसी प्रकार का बंधन लगाना, उसके भावों की हत्या करना है। छन्द, मात्रा आदि के चक्कर में फँसकर तो मूल-तत्त्व-भावों को सर्वथा खो बैठेगा और इसी प्रयत्न में लगा रहेगा कि छन्द के लिए अनुकूल शब्दों का चयन हो जाए। इस प्रकार छन्द के प्रति आग्रह होने से कविता में कहीं तो आवश्यक विस्तार आ जाएगा तो कहीं जो बात कहना चाहता है, कवि उसी को छोड़ जाएगा।

छन्द को कविता के लिए अनावश्यक मानने वाले एक तर्क भी देते हैं कि छन्द प्राचीन परम्परा के प्रतिनिधि हैं, उनमें कोई नवीनता तो है नहीं, कवि प्रत्येक भाव को नवीन जनरुचि के आधार पर ही लिखता है। अतः इन प्राचीन छन्दों में अब ऐसा कोई भी आकर्षण नहीं रह गया है जो सहृदय की रुचि को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें, वे सभी अब पुराने पड़ गए हैं।

इन्हीं कारणों से ये छन्द-विरोधी विचार कविता को छन्दों से मुक्त रखना चाहते हैं और उसे कृत्रिम बंधन मानते हैं। छन्द न तो कविता का मूलतत्त्व है और न ही इन विचारकों के अनुसार अनिवार्य अंग ही।

छन्द-समर्थक विचारधारा—इसके विपरीत एक वर्ग उन विचारकों का भी है जो कविता के लिए छन्द की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। अरस्तू ने यद्यपि छन्द का प्रकारान्तर से विरोध किया है, पर उनके शिष्य स्कैंजिलर ने कविता में छन्द के प्रयोग का प्रबल समर्थन किया है। दान्ते और हृटले ने भी छन्द का समर्थन किया और कहा कि कविता चाहे अच्छी हो या बुरी—उसका

जाती। उनके अनुसार काव्य-रचना के दो सोपान होते हैं—अनुभूति और अनुभूति का प्रकाशन (अभिव्यक्ति)। अनुभूति और अभिव्यक्ति के मध्य अन्तराल होता है, चाहे वह कितना ही न्यून क्यों न हो। अत कवि अनुभूति होने पर उस पर चिन्तन-मनन करता है, फिर उसे अभिव्यजित करता है। इसलिए कविता भावो का पुन स्मरण है।

इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति को चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रित करता है और इसी नियमन के द्वारा छन्द की उत्पत्ति होती है और इसी छन्द से कवि भावो की व्यवस्था देता है। छन्द की इसी सन्दर्भ मे महत्ता है। छन्द भावावेग को सयत करके उनका सयमन कर देता है, इससे काव्य मे उच्छृंखलता नही आ पाती।

छन्द से कविता की शक्ति और भी बढ जाती है। छन्द और लय से युक्त कविता मे इसी कारण अधिक आकर्षण और मनोहरता होती है। गद्य भी यद्यपि लययुक्त हो सकता है, पर गद्य के लिए लय आकस्मिक सयोग है, लेकिन पद्य मे, चाहे वह छन्दबद्ध हो या छन्दमुक्त, लय आवश्यक है। यदि पद्य मे छन्द का प्रयोग किया जाता है तो इससे उसे निरन्तरता मिलती है। अत कहा जा सकता है कि रसानुभूति कराना कविता का लक्ष्य होने के कारण लय और छन्द से उसका अटूट सम्बन्ध है।

कविता मे छन्दो का उपयोग और महत्त्व निम्नलिखित दृष्टियो से होता है—

(१) भावो की अभिव्यक्ति को स्पष्टता और तीव्रतर रूप मे प्रस्तुत करने के लिए।

(२) भावो के बिखराव मे एकसूत्रता स्थापित करने के लिए।

(३) कविता म सजीवता लाने के लिए।

(४) कविता मे रमणीयता और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने के लिए।

(५) कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

(६) रस निष्पत्ति के योगदान के हेतु।

(७) प्रेषणीयता लाने के लिए।

(८) कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए।

(९) उक्ति मे पवित्रता की प्रतिष्ठा के लिए।

को केन्द्र बनाकर काव्य-कृति के आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्यो को उद्घाटित किया जा सकता है। इसीलिए काव्यशास्त्रियो ने बिम्ब के दो पक्ष निर्धारित किये है, एक के अन्तर्गत मानस बिम्ब आता है और दूसरे के अन्तगत अभिव्यक्त चाक्षुप बिम्ब। मानस-बिम्ब चाक्षुप नही होता, वह ज्ञान चक्षुओ से ही दृष्ट रहता है। ऐसा मानस-बिम्ब कल्पना अथवा स्मृति की अन्विति के रूप मे ही रहता है। बिम्ब रूप मे व्यक्ति, वस्तु या घटनात्मक स्मृति या स्थिति अपने सघन रूप मे सादृश्य अथवा अनुरूपता लिए रहती है। ये अर्थ 'इमेज' शब्द के अर्थ के निकट है क्योंकि 'इमेज' शब्द का अंग्रेजी के प्रमाणिक कोशो के अनुसार अर्थ है। किसी पदार्थ का मानचित्र या मानसी प्रतिकृति (आक्सफोर्ड डिक्शनरी), कल्पना अथवा स्मृति मे उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति जिसका चाक्षुप होना अनिवार्य नही है (चेम्बर्स टवेंटिएथ सेन्चुरी डिक्शनरी) किसी व्यक्ति या पदार्थ की प्रतिकृति, मूल और दृष्ट प्रत्यंकन, एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो, जैसे 'मृत्यु' के लिये 'निन्द्रा' का प्रयोग (वेब्सटर्स थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी) वेब्सटर्स डिक्शनरी ने मनोविज्ञान मे इमेज से अभिप्राय किसी ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति से बताया है जिसका परवर्ती अनुभव के द्वारा रूपान्तर हो जाता है और जिसमे अन्तर्मनोवैज्ञानिक तथा बहिर्मनोवैज्ञानिक उद्दीपन द्वारा उद्बुद्ध बौद्धिक एव रागात्मक तत्व अन्तर्मुक्त रहते हैं। वह सग्राहक यन्त्र पर अंकित उद्दीपक पदार्थ की प्रतिच्छवि का पर्याय है। इन कोशगत अर्थों की अभिव्यक्ति हिन्दी मे समानार्थक शब्द 'बिम्ब' से होती है।

पश्चिम के काव्य-शास्त्रियो ने बिम्ब की परिभाषा अपनी-अपनी दृष्टि से की है। सी० डे० लेविस के अनुसार एक प्रकार का भाव-गर्भित शब्द-चित्र ही काव्य बिम्ब है।

सुजान के० लैंगर के अनुसार बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यो तक पहुँचाने का मार्ग है। इसी तरह हैले, टी० ई० ह्यूम अमी लॉवेल आदि विद्वानो ने बिम्ब की परिभाषाएँ दी है। इन परिभाषाओ के विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि काव्य मे बिम्ब का स्थान अन्यतम है और बिम्ब पदार्थ नही है वरन् उसकी प्रतिकृति या प्रतिच्छवि है। मूल सृष्टि नही, पुन सृष्टि है। बिम्ब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के

की गाढ़ी हरियाली पर बिखरी हुई मांगलिक अनुष्ठान की रोली। इतने गहन और मिश्रित वर्णात्मक अनुषंगों के बीच 'अरुण' शब्द केवल लाक्षणिक चमत्कार की सृष्टि ही नहीं करता, बल्कि एक आकस्मिक झटके के साथ हमारे उपचेतन में सोए हुए बचपन से लेकर अब तक के लाल रंग-सम्बन्धी समस्त अनुषंगों को उद्बुद्ध कर देता है। हम उसके द्वारा एक ही साथ सूर्योदय की लाली, पर्वतों की प्रगाढ़ प्रात सौंदर्य, पर्व और उत्सव के अवसर पर पहने जाने वाले लाल-पीले वस्त्रों की सुषमा तथा जंगलों, घाटियों और उद्यानों में देखे हुए सैकड़ों हलके गहरे लाल रंगों का प्रत्यक्षीकरण कर लेते हैं। कवि इन रंगों की आनुपातिक योजना के द्वारा भावों की गहराई, तनाव और विस्तार का बोध कराता है। इसी प्रकार गंध, स्पर्श और स्वाद आदि का भी बिम्ब-विधान के निर्माण में बहुत बड़ा सहयोग होता है।

बिम्ब के इस महत्व की स्वीकृति एडिसन के समय में ही अंग्रेजी साहित्य, में मिलती है पर बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में इसके महत्व को अधिक उभारा गया और एक नये साहित्यिक आन्दोलन के रूप में सन् १६०८ के आस-पास बिम्बवाद के नाम से टी० ई० हूल्मे और एफ० एम० फ्लिट ने बिम्ब को कवि-कर्म की चरम उपलब्धि बताया। इसी साहित्य में भी इस प्रकार का 'वाद' जोर पकड़ रहा था जो 'भविष्यवाद' के रूप में परिणत हो गया। बिम्बवादियों की विशेष स्थापना यह रही कि काव्य में 'सामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' ही महत्वपूर्ण है और इसी 'विशेष' की अभिव्यक्ति काव्य का लक्ष्य है। 'विशेष' पर जोर देने के कारण परम्परागत 'उपमान' सामान्य प्रतीत हुए और उनके स्थान पर नए-नए उपमानों की खोज हुई। हूल्मे की कविता 'पतझड़' से बिम्बवाद का श्रीगणेश माना जाता है।

संक्षेप में, बिम्ब का महत्व काव्य में विशेषकर आधुनिक कविता में बहुत अधिक है। बिम्ब अपनी ऐन्द्रियता के कारण कविता में काल की तात्कालिकता में, एजरा पाउण्ड के शब्दों में यदि कहें तो, बौद्धिक और भावात्मक समष्टि को उपस्थित करता है। बिम्ब सम्प्रेषित भाव को तीव्रतर बनाता है, अलंकृत और बोझिल नहीं। वह केवल किसी अनुभूति को प्रतिबिम्बित नहीं करता, उसे एक नये स्तर पर पुनः निर्मित भी करता है। वह विचारों और भावों का वहन ही नहीं करता, बल्कि उन विचारों और भावों के पीछे की सम्पूर्ण उलझनों और संघर्षों की भी सूचना देता है। हम कह सकते हैं कि एक सफल

उठने हैं। इस प्रश्नात्मक स्थिति में ही उस आदि बिम्ब के चारों ओर बहुत से दूसरे बिम्ब आकर एकत्र होने लगते हैं। यहाँ कवि-कर्म का एक दूसरा पक्ष सामने आता है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। एक ओर उसे उमड़ते हुए बिम्बों के प्रवाह पर दृष्टि रखनी पड़ती है और दूसरी ओर उस सूक्ष्म कलात्मक गतिविधि पर जो उसी के समान्तर चलती रहती है। परिणाम यह होता है कि समग्र रूप-विधान के प्रति उसकी दृष्टि धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगती है। अब वह केवल स्रष्टा न होकर स्वयं अपनी कृति का आलोचक भी हो जाता है। इस स्थिति में उसे काव्यगत साँचे का बोध होता है और फिर उसी के अनुसार वह कल्पना में उमड़ते हुए बिम्बों को रखता या छोड़ता जाता है।

बिम्ब के प्रकार-भेदों का निरूपण उनके विधायक तत्वों के आधार पर किया जा सकता है। बिम्ब में ऐंद्रिय आधार प्रमुख रहता है अतः ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर बिम्ब के पाँच भेद किये जा सकते हैं। दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और आस्वाद। दृश्य या चाक्षुष बिम्ब आकारवान् होते हैं। इनका स्वरूप सबसे अधिक स्पष्ट होता है क्योंकि उसके आयाम अधिक मूर्त होते हैं। ऐंद्रियबोध वस्तु से इन्द्रियों के स्नायविक सम्पर्क का नाम है जो चेतना के सबसे ऊपरी स्तर पर घटित होता है। ऐंद्रियानुभव के अवसर पर घटित होने वाला प्रतिबिम्ब वस्तु से अपरोक्ष रूप से सम्बद्ध होता है और केवल उसकी सतह को उद्घाटित करता है। वह वस्तुगत सत्ता की रहस्यात्मक गहराइयों में प्रवेश नहीं करता, इसलिए ऐंद्रियबोध को यथार्थ का स्थूल परिचय माना जाता है। यथार्थ के सम्बन्ध में प्राप्त हमारी सभी जानकारी ऐन्द्रिय प्रभावों की क्षमता पर निर्भर है। यही कारण है कि ऐसे प्रत्येक अनुभव के लिए, जो हमारी ऐंद्रिय प्रभावों पर निर्भर करती है, 'प्रत्यक्ष' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। इस प्रत्यक्ष विशेषण से सादृश्य का भी बोध अधिकतर हो जाता है।

दृश्य बिम्ब का 'प्रत्यक्ष' सादृश्य को अधिक उभारता है। काव्य में दृश्य बिम्बों को प्रचुर मात्रा में सर्वत्र देखा जा सकता है। सादृश्य-विधायक अलंकारों के उदाहरणों में ये सरलता से देखे जा सकते हैं। पंत की 'सन्ध्या' कविता में यह उदाहरण देखिए—

के बिम्बों म अनुप्रास वृत्ति आदि अलकार अधिक सहायक होते हैं। वस्तुत छन्दों का अपना नाद श्रव्य बिम्बों का निर्माण सुगमता से करता है।

"तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसिन हित मनहु सुहाये॥"

मे भारतेन्दु ने यमुना तट का अनुप्रासों से एक श्रव्य बिम्ब प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के बिम्ब प्रकृति वर्णन, युद्ध-वर्णन, यात्रा-वर्णन, स्थल-वर्णन आदि वर्णनों की अलकार-योजना मे पद्धति-निर्वाह के रूप मे मिलते हैं। आधुनिक कवियों ने भी इन वर्णनों मे चाक्षुप बिम्बों के साथ ही श्रव्य बिम्बों का सयोजन प्रस्तुत किया है

पत का यह वर्षा-वर्णन देखिए—

झम-झम झम झम मेघ बरसते ह सावन के,
छम छम छम गिरती बूँदें तरुओ से छन के।
चम चम बिजली लिपट रही है उर से घन के
थम थम दिन के तम मे अपने जगते मन के। (पावस)

इनके अतिरिक्त अनेक श्रव्य बिम्ब ऐसे हैं जो ध्वनि-प्रतीकों पर आश्रित रहते हैं—जैसे वीणा, वशी, मृदग, कोकिल केकी इत्यादि।

इनके अपने-अपने चाक्षुप बिम्ब अप्रासगिक होते हैं। छायावादी कवियों ने इस प्रकार के अनेक बिम्बों का निर्माण किया है। महादेवी वर्मा की कविता मे यह उदाहरण देखिए —

"रजनी न मरकत वीणा पर हस किरणों के तार सभाले।"

यह विचित्र सयोग है कि दृश्य-चित्रों को तीव्र और ग्राह्य बनाने मे शब्दों का अदृश्य सगीत भी बहुत सहायक होता है। दृष्टि और श्रुति का पारस्परिक सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन मे है, काव्य मे भी वैसा ही है। फलस्वरूप दृश्य और श्रव्य बिम्बों का सह-अस्तित्व समझा जा सकता है। ओजपूर्ण वातावरण की सृष्टि के लिए अपेक्षित अनुप्रास प्रधान नाद-बिम्बों की सहायता से महाप्राण निराला ने "राम की शक्ति पूजा" का प्रारम्भ यों किया है—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र मे लिखा अमर—
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत क्षिप्र-कर वेग-प्रखर,
शतशैल सवरण शील, नीलनभ गर्जित स्वर,

पतझर का सूखा पत्ता गिर कर उड जाता
मेरे स्वरो सा खर-खर करता।

(तार सप्तक पृ० ४२-८३)

गध विम्बो का प्रयोग काव्य म विरल है। विश्व के काव्य मे, डा० नगेन्द्र के अनुसार, ऐसे उदाहरण एकत्र करना कठिन है जिनमे सश्लिष्ट घ्रातव्य विम्ब प्रस्तुत किये गये हो। कीट्स जैसे कवि के काव्य मे भी, जिसका ऐन्द्रिय सवेदन अत्यन्त प्रखर था, इस प्रकार के उदाहरण दो-चार ही मिलते है और उनका ग्रहण भी सव-सुलभ नही। भिन्न-भिन्न गध रूपो के प्रतीक फूलो आदि के द्वारा भी घ्रातव्य विम्ब बनाए जाते हैं पर इस प्रकार की निर्मिति मे विम्ब की विम्वता ही नष्ट हो जाती है। पत की पल्लव की यह कविता देखिए—

पनप-छाया मे जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार
सुरभि-पीडित मधुपो के बाल
तडप बन जाते है गु जार।" (पल्लव पृ० ६१)

मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' के अन्तिम सर्ग के अतिम छन्द मे गध का प्रयोग किया है—

स्वच्छन्द अम्बर मे छन कर आ रहा था
स्वादु-मधु-गध से सुवासित समीर-सोम।

इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' मे वन्य दृश्यो का वर्णन करते हुए वनपुष्पो की सामूहिक गध का विम्ब प्रस्तुत किया है—

नालो का सयोग, साझ का समय, घना जगल है।
ऊँचे-नीचे खोह कगारे, निर्जन बीहड थल है॥
मधुर गन्ध की लहर छोड वन पुष्प मोद उपजाते।

(पथिक पृ० ३६)

गध की अपेक्षा स्वाद विम्ब की प्रचुरता काव्य मे मिलती है। सौन्दय के आस्वाद की अभिव्यक्ति और व्याख्या दोनो म ही आस्वादपरक विम्बो का प्रयोग स्वभावत सरल होता है। "मीठी लगै अखियान लुनाई" या "नयन सलौने अधर मधु कहि रहीम घटि कौन ?" म आस्वाद विम्बो का स्पष्ट प्रयोग है।

ऐन्द्रिय विम्बो के सम्बन्ध मे एक बात ध्यान देने योग्य है कि इनका प्राय

मिथक को 'पुराख्यान तत्त्व' माना है तो डा० कामिल बुल्के ने इस 'पुराण कथा' कहा है। डा० नगेन्द्र ने इसे 'कल्पकथा' कहा है। इस प्रकार मिथक शब्द का अर्थ हिन्दी साहित्य मे अतिमानवीय एव दैविक कथाओ एव सन्दर्भों से जोड़ा गया है। किन्तु यह अपने आप मे एकपक्षीय अध्ययन है। कारण, मिथक के और भी तत्त्व है और इस प्रकार मिथक का अर्थ सीमित कर देना है।

मिथक शब्द के अर्थ-विकास की अपनी कहानी है। सामान्यत मूल रूप मे मिथ अथवा मिथक का सम्बन्ध कथा-मात्र से ही था। यूनानी परम्परा म भी इसे कथामात्र ही माना गया है। धीरे-धीरे इसमे विकास हुआ और यह सामान्य कथा से विशेष प्रकार की कथा मे परिवर्तित हो गया। कैसल के इनसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर मे इसके सन्दभ मे कहा गया है—"A myth is n story which for those who tell it and for those who receive it has kind of cosmic purpose"

इस प्रकार इस विशेष कथा मे ब्रह्माण्ड सम्बन्धी कथा को जोड दिया गया और यही अर्थ थोड़े-बहुत परिवतन के साथ ग्रहण किया जाने लगा। यह बात दूसरी है कि कालान्तर मे मिथक मे दैवी शक्ति का उतना प्राधान्य नही रहा, जितना कि पहले था। किन्तु कथा का कोई-न-कोई सन्दभ धार्मिक अवश्य ही होना था। अग्रेजी के विभिन्न शब्दकोशो म मिथक का जो अथ दिया गया है उसमे इसी ओर सकेत मिलता है। चैम्बर की डिक्शनरी मे इसका अथ इस प्रकार दिया गया ह

"An ancient traditional story of goods or heroes, esp one offer an explanation of some fact or phenomenon"

वेबस्टर्स ने मिथक की नवीन सन्दभ एव परिप्रेक्ष्य मे विवेचना की है सत्य का उद्घाटन। मिथक के अर्थ से इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मिथक की कथा मानवीय विश्वासो तथा आस्थाओ को लेकर चलती है और इसमे प्रतीकात्मक ढग पर अनुकूल सत्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

मिथक परिभाषा एव स्वरूप-विवेचन—मिथक का स्वरूप-विवेचन पाश्चात्य जगत् मे विविध सन्दर्भों मे दिया है, यथा—साहित्य, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र इत्यादि। यहाँ मिथक की विभिन्न विद्वानो द्वारा दी गई परिभाषाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। धम के परिप्रेक्ष्य मे इसकी व्याख्या करते हुए ई० ए० गार्डनर ने लिखा है "वह प्राय प्रत्यक्षत या परोक्षत कथा

(४) अन्ततः सभी कलाकारों की भाँति त्रासदीकार भी अनुकर्ता अतएव सत्य से तिगुना दूर है।

सत्य का अनुकरण—अब प्रश्न यह उठता है कि यदि काव्य सत्य की अभिव्यक्ति न होकर केवल अनुकरण का अनुकरण है तो कवि सत्य का सर्जक नहीं अनुकर्ता हुआ, पर वह इस अनुकरण के लिए भी इसका (सत्य का) ज्ञाता होता है अथवा नही। प्लेटो के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक है। उसके अनुसार यह मान्यता, कि कवि सब सत्य का ज्ञाता होता है, ऐसे व्यक्तियों की है जो इन व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर चले गए है और उनकी कृतियों से सम्मोहित हो गए है। इनकी कृतियों का अवलोकन करते समय उन्होंने यह विस्मरण कर दिया कि वे सत्य से तिगुनी दूर है तथा उनका प्रणयन सत्य के वास्तविक ज्ञान के अभाव में भी सम्भव है; क्योंकि, वे सत्य का आभास मात्र है—

"Perhaps they may have come across imitators and been deceived by them; they may not have remembered when they saw their works that these were thrice removed from the truth, and could easily be made withont any knowledge of the truth, because they are appearences only and not realities."

इसके लिए प्लेटो चित्रकार का तर्क देते है कि जैसे चर्मकार का चित्र बनाने वाला चित्रकार स्वयं चर्म की कला से अनभिज्ञ होता है; फिर भी उसका चित्र, चित्रकार के अज्ञान होते हुए भी, वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करता है; क्योंकि, उसके निर्णय का आधार रंग-रूप की समानता होती है, वैसे ही होमर आदि कवि जो सत् एवं अन्य विषयो का अपने काव्य में छाया-नुकरण करते है, केवल अनुकर्ता होते है और सत्य से उनका कोई सम्पर्क नही होता। कलाकार तो एक दर्पण के समान है, इससे अधिक उसको कुछ और सिद्धि नही है। कवि शब्दों और वाक्यांशो से ही विषय को रूप-रंग देता है, किन्तु स्वयं को प्रकृति के विपय में केवल उतना ही ज्ञान होता है, जितना अनुकरण के लिए आवश्यक है। पाठक या श्रोता भी—जो उसी के समान अज्ञानी होते है, कवि के शब्दों के आधार पर ही निर्णय लेते है। अतः प्लेटो के अनुसार कहा जा सकता है कि अनुकर्त्ता अथवा छायानुकृतियों का निष्कर्षतः

इतने गहरे रूप मे समाया हुआ है कि पहले-पहल मिथक का अर्थ धर्मगाथा मे ही लगाया जाता था। यद्यपि आधुनिक विद्वानो ने इस तथ्य को स्वीकार नही किया है कि मिथक धर्मगाथा है, परन्तु यह तो अवश्य ही स्वीकार करना पडता है कि मिथक का मूलाधार धर्म ही है परन्तु आज वह मात्र धर्म का वाचक न होकर समाज के सास्कृतिक मूल्यो एव आस्थाओ की भी अभिव्यक्ति करता है।

(५) रचनाकार अज्ञात—मिथक एक दीर्घ विश्वास एव आस्था की परम्परा से उद्भूत होता है। प्राचीन युग के मिथको का जनक कौन है, यह जानना बहुत कठिन है। कारण, मिथक व्यक्ति की अपेक्षा जाति और समूह से सम्बद्ध होता है और इस प्रकार यह जानना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है कि अमुक मिथक का प्रेरणा-स्रोत कौन है।

(६) तत्त्वो का रहस्योद्घाटन—मिथक मे लौकिक रीति-रिवाजो अथवा अलौकिक रहस्यो का उद्घाटन होता है। पहले-पहल इसमे ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रहस्यो का अधिक उद्घाटन होने के कारण मिथक मे इसे अपरिहार्य तत्त्व गिना गया। बाद मे चलकर इसमे यह भी समाविष्ट कर दिया गया कि मिथक मे मानव-जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के सभी पक्षो का उद्घाटन होना है।

(७) तत्त्व की प्रधानता—मिथक मे तथ्य की अपेक्षा तत्त्वो की प्रधानता होती है। इसी कारण मिथक मे प्रतीकात्मकता आती है और यह इतिहास से पृथक् होता है।

(८) सत्य का विशिष्ट रूप—मिथक का सत्य इतिहास का नही, जनसमूह का सत्य होता है। जनसमूह की आस्थाएँ तथा विश्वास ही उसे सार्थक आधार प्रदान करते हैं।

(९) विकसनशीलता—मिथक युग-युग के प्रवाह से निर्मित होता है। उसे कोई एक व्यक्ति नही बनाता। यही कारण है कि एक ही मिथक मे भिन्न-भिन्न युगो की भावनाओ एव सास्कृतिक मूल्यो की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार युगीन सदर्भो मे मिथक का स्वरूप एव कलेवर परिवर्तित होता रहता है।

(१०) समूह की अभिव्यक्ति—मिथक मे जाति या समूह की भावनाएँ, आस्थाएँ और विश्वास अभिव्यक्त होते है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि

इन तीनो प्रकार के काव्यों का कवि अनुभूति से घनिष्ठ सम्बध है। आत्मप्रधान काव्य में कवि अपनी अनुभूति तथा धारणाओं की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति करता है। विषय-प्रधान काव्य में कवि की दृष्टि समाजगत रहती है, यद्यपि इसमें भी उसका व्यक्तित्व रहता है, पर वह रहता प्रच्छन्न रूप में ही है। मिश्रित अथवा नाट्यकाव्य में कवि न तो अपनी भावनाएँ प्रत्यक्ष रूप में ही कहता है और न वह उससे तटस्थ ही रहता है, इस रूप में वह दोनो ही प्रकार के काव्यरूपों का सामजस्य करता है। इसी से काव्यरूप में नाटकीयता का समावेश हो जाता है, पर यह नाटकीयता घटना और शैली की ही होती है।

यहाँ हम सक्षेप में इन तीनो काव्यरूपों का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन मे पहले हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि यह वर्गीकरण काव्य के रूढ अर्थ कविता अर्थात्—लय—छन्दबद्ध काव्य के स्वरूप के आधार पर ही किया गया है। काव्य शब्द का प्रयोग यहाँ पर साहित्य के अर्थ मे नही है।

(१) आत्मप्रधान काव्य (Subjective Poetry)—आत्मप्रधान काव्य मे कवि की दृष्टि पूणरूपेण अन्तमुखी रहती है। वह बाह्य जगत् को भूलकर अपनी आन्तरिक इच्छाओ व भावनाओ की व्यजना ही करता है। इस तरह के काव्य को व्यक्तिपरक अथवा आत्मपरक काव्य भी कह सकते हैं। इसमे सर्वत्र भावनाओ की प्रबलता रहती है। कवि आत्मलीन होकर अपने हृदयगत उद्गारो की अभिव्यक्ति करता है। इस रूप के काव्य मे कवि अलकृत शैली की अपेक्षा सरल, प्रवाहपूण तथा सगीतमयी भाषा-शैली का प्रयोग करता है। कवि अपनी इच्छाओ, निराशाओ, अतृप्त आकाक्षाओ, विषाद, व्यथाओ, उत्फुल्लता आदि का मार्मिक शब्दो मे वर्णन करता है। इसका मूल कारण स्वान्त सुखाय होता है। भावुकता मे बहकर कवि मानसिक स्थिति की विवेचना करता है और प्रत्येक चित्रण को अपनी भावनाओ के अनुरूप देखता है।

आत्मप्रधान काव्य की विवेचना करते हुए हेनरी हडसन ने कहा है कि इस काव्य मे कवि अन्तमुखी होकर अपने अनुभवो, विचारों और अनुभूतियो को ही खोजता है और इसी से अपने विषय की प्रेरणा प्राप्त करता है—

"There is the poetry in which the poet goes down into

करके झकझोर डालता है। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'सरोज-स्मृति' गीत इसी प्रकार की सशक्त रचना है।

(v) गौरव-गीत (Ode)—गौरव-गीत वस्तुत छन्द कविता होती है। पश्चिम मे इसका विशेष प्रचलन है। यह एक व्यक्तिगत गीत होता है, जिसकी शैली प्रभावयुक्त, ओजस्वी एव आह्लादात्मक होती है। विशुद्ध गीत मे और 'ओड' मे इतना ही अन्तर होता है कि जहाँ गीतो मे केवल भावना ही प्रधान होती है, वहाँ ओड मे थोडा-सा कथानक विद्यमान रहता है। कुछ विद्वान् इसको गीत नही मानते, किन्तु यह मत अमान्य है, क्योकि 'ओड' भी एक प्रकार का गीत ही है। इसे सम्बोधन गीत भी कहते हैं।

(vi) हर्ष-गीत (Convivial or Bacchanolan Lyrics)—हर्ष-गीतों की रचना हर्षातिरेक के परिणामस्वरूप आविर्भूत भावाभिव्यक्ति के कारण है। ये गीत विशेषत किसी पर्व, समारोह या उत्सव पर गाए जाते हैं।

(vii) पत्र-गीत (Epistile Lyrics)—पत्र शैली के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले भावनापूर्ण गीतो को पत्र गीत कहा जाता है। यह भेद भावो के आधार पर न होकर शैली के प्रकार-विशेष पर आधृत होता है।

(viii) व्यग्य-गीति (Satire Lyrics)—व्यग्य-गीतो मे व्यग्य की प्रधानता होती है। इस व्यग्य का मूल कारण प्रधानत प्रेम होता है, इसमे घायल-हृदय के मार्मिक भावो की अभिव्यक्ति-व्यग्य शैली मे होती है।

(२) विषयप्रधान काव्य (Objective poetry)—विषयप्रधान काव्य की दृष्टि बहुमुखी होती है वह उनमे अपने वातावरण का चित्रण करता है। यहाँ कवि अपने विचारो की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष शैली से न करके अप्रत्यक्ष व परोक्ष रूप मे करता है। इस प्रकार के काव्य मे वैयक्तिक भावना का अभाव होता है और विषय का चित्रण प्रमुख। ऐसी कविताएँ विषय प्रधान काव्य के अन्तर्गत आती हैं। हेनरी हडसन ने आत्म-प्रधान और विषय-प्रधान काव्य का अन्तर इस प्रकार बताया है—'आत्म-प्रधान काव्य अन्त प्रेरणा का काव्य है, उसमे कवि लेखन-सामग्री के लिए अपने हृदय को टटोलता है, यहाँ तक कि बाह्य-जगत् को भी वह अपने मे समा लेता है और अपने भावो मे इसका अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करता है। विषय-प्रधान काव्य मे कवि स्वय मे केन्द्रीभूत न होकर जीवन मे उतरता है और यहाँ अपने भावो तथा विषयो को पाकर

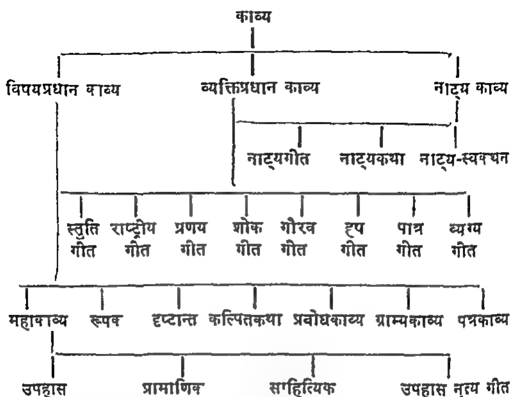
(iv) कल्पित-कथा या मिथक (Myth)—काव्य में कल्पित कथाओं की प्रचुरता होती है और काव्य की रचना ही कल्पना के आधार पर होती है। व्यक्तिगत बात को सामान्य बनाने के उद्देश्य से तथा अपने कथन को चमत्कार पूर्ण बनाने के लिए कवि द्वारा कल्पना का प्रयोग किया जाता है। कल्पना के द्वारा ही शब्द अधिक विस्तृत और चमत्कारिक बनते हैं। काव्य में वह इन्हीं विभिन्न तत्त्वों के योग से कथा का निर्माण करता है, जो घटना-क्रम दृष्टि की अपेक्षा भावात्मकता दृष्टि से तथ्ययुक्त होती है।

(v) प्रबोधक काव्य (Deductive Poetry)—प्रबोधक का अर्थ है उपदेशक। प्रबोधक काव्य में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति विशेष होती है। इसमें कवि व्याख्यात्मकता की अपेक्षा करके प्रतिपाद्य आदर्श और नैतिकता पर अधिक ध्यान देता है।

(vi) पत्र-काव्य (Aipstles)—रोमी नाटककार व आलोचना होरेस के समय में पत्र-काव्य प्रचलित हुआ। होरेस ही इस काव्य-भेद के जनक कहे जाते हैं। पत्र-काव्य की कथावस्तु कुछ भी हो सकती है, किन्तु पत्रों में उपदेशात्मकता और नैतिक आदर्शों से सम्बन्धित विषय ही अधिक उपयोगी होते हैं।

(vii) ग्राम्य-काव्य (Pastoral Poetry)—सृष्टि के आरम्भ में जब मानव का अधिक विकास नहीं हुआ था, उसने कुछ-कुछ सस्कृत होकर अपनी भावाभिव्यक्ति बेडौल भाषा में करनी प्रारम्भ कर दी थी। उस समय के काव्य ग्राम्य-काव्य से अन्तर्गत आते हैं। आज ग्राम्य-काव्य पर्याप्त सस्कृत एव परिष्कृत है। प्राकृत-भाव और ग्राम्य-भाषा (Rustic Language) इसके अनिवार्य तत्त्व हैं।

(३) नाट्य काव्य (Dramatic Poetry)—नाट्य-काव्य में आत्मप्रधान और विषय-प्रधान—दोनों काव्यों का मिश्रण होता है। नाटक में कुछ पात्र नाटककारों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ अन्य सामान्य बातों का वे दोनों ही प्रकार के पात्र क्रमश आत्म-प्रधान और विषय-प्रधान काव्याभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। नाट्य-काव्य में पठनीय नाट्य-काव्य ही आता है अभिनय नहीं। इसके तीन भेद हैं—(i) नाट्य-गीत, (ii) नाट्य-कथा और (iii) नाट्य-स्वकथन। सक्षेप में, यहाँ इनका विवेचन प्रस्तुत है—



प्रश्न ४२—पाश्चात्य काव्य के प्रयोजनों पर सक्षेप मे विचार कीजिए।

पश्चिमी काव्यशास्त्रियो की काव्य-प्रयोजनो के सम्बन्ध मे एक-सी दृष्टि नही है, वह सभ्यता के विकास के साथ-साथ निरन्तर परिवर्तित होती रही है। आरम्भ मे, सभ्यता के साथ-साथ धर्म का इतना अधिक प्रभाव था कि उस समय प्रत्येक वस्तु उसी के आलोक मे देखी गयी और इसीलिए उस समय के विचारको ने काव्य-प्रयोजनो पर विचार भी धर्म के सन्दर्भ मे ही किया और काव्य को धर्म-प्रचार अथवा मानव-कल्याण का एक साधन माना। इन विचारको का उद्देश्य सुधारवादी था। पर बाद मे इसकी इतनी प्रतिक्रिया हुई कि काव्य का सम्बन्ध धर्म तथा नैतिकता से पूर्ण पृथक् करके 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। तदन्तर, दोनो सिद्धान्तो का भी समन्वय किया गया। इस प्रकार काव्य के प्रयोजन सदैव परिवर्तित होते रहे हैं।

प्राचीन यूनानी विचारक हैसियड ने स्पष्टत काव्य का प्रयोजन उपदेश देना माना है और होमर ने कहा कि उसका प्रयोजन आनन्द है। प्लेटो आदर्शवादी दार्शनिक थे, अत उनका काव्य-विवेचन समाज-सुधारक की दृष्टि लिए

प्रयोजन को इससे कुछ ऊपर माना, उसने काव्य का प्रयोजन चरमोल्लास प्रदान करना माना, तर्क द्वारा अपनी बात मनवाना नहीं

For a work of geneous does not aim at persuasion, but estasy, or lifting the reader out of himself"

इसके पश्चात् काव्य के प्रयोजन मे समन्वयवादी दृष्टिकोण चला है। निओतालमेस ने काव्य-प्रयोजनो के समीकरण पर बल दिया और आनन्द तथा नीति-शिक्षा दोनो को काव्य का प्रयोजन माना। होरेस ने भी निओतालमेस से प्रभावित होकर इसी आधार पर कहा कि कवि का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आह्लाद या फिर वह उपयोगी और आह्लाद—दोनो का समिश्रण कर देता है। उसका विचार है कि जो कवि इन दोनो का समन्वय कर देता है। वह सफल कवि होता है, क्योकि, वह पाठक को आह्लादित भी करता है। और शिक्षित भी—

"The poet's aim is to profit or to please, or to blend in one th edelightful and the useful The man who mingles the useful with the sweet carries the day by charming his reader and at the same time instructing him"

होरेस काव्य का प्रयोजन राष्ट्र की सस्कृति को अक्षुण्ण रखना और समाज की बर्बरता से मुक्त करना मानते हैं। काव्य एक ओर तो वीरो के हृदय मे वीरता का सचार करता है तो दूसरी ओर श्रम से क्लान्त व्यक्तियो को आनन्द प्रदान करता है। इस प्रकार होरेस ने काव्य के प्रयोजन मे समन्वयवादी दृष्टि अपनाई है।

नव्यशास्त्रवादी युग मे भी यही समवन्यवादी दृष्टि दिखाई देती है। यद्यपि कुछ विद्वानो का यह मत था कि काव्य का प्रयोजन आनन्द प्रदान करना है, परन्तु इस सम्बन्ध मे भी उन्होने प्रमुखता नीति-उपदेश को ही दी है। इस तरह नव्यशास्त्रवादी समन्वय करते हुए भी अरस्तू के विपरीत रहे। लॉ वोस्यू का मत था कि लेखक पहले यह निर्णय करे कि उसे कौन-सा उपदेश देना है, इसके बाद ही वह विषय का चयन करे। इसी का समर्थन करते हुए रॅने वॅलेक ने लिखा है—

"But on the whole neo classicism suffered mostly from the excesses of literal minded moralists who thought of art as a mere intellectual ttatement of moral precepst"

or of wit without training, So true is it that each requires the other,s aid in helpful union "

शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास दोनो बिना प्रतिभा के व्यथ है। इसमे दोना का समीकरण,आवश्यक है। इस प्रकार होरेस के अनुसार काव्य-हेतु हुए— प्रतिभा, शास्त्र-ज्ञान, अभ्यास, चिन्तन और सजग विवेक।

नव्यशास्त्रवादियों ने कविता को कला माना है और उसमे नीति व उपदेश को आवश्यक माना है, इसलिए वे कवि के लिए एक ओर तो यह आवश्यक मानते थे कि वह शास्त्रीय ग्रन्थों का पूण अध्ययन किए हो, शास्त्रीय नियमो से अवगत हो और दूसरी ओर उसे नीतिमान और ज्ञानवान होना भी आवश्यक मानते थे। यद्यपि इसमे प्रतिभा तथा प्रेरणा की आवश्यकता भी स्वीकारते थे, पर उनका मुख्य बल कलात्मक ज्ञान पर विशेष था इस प्रकार नव्यशास्त्रवादियो ने प्रतिभा की अपेक्षा शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास पर विशेष बल दिया।

लेकिन वड्सवर्थ की दृष्टि मे कल्पना का महत्त्व भी कम नही है। वह भावना की सच्चाई पर पर्याप्त बल देते थे—

"If the function of a devout heart be wanting, everything else is of no avail"

इस प्रकार वड्सवथ के अनुसार प्रतिभा, चिन्तन, मननशीलता, अध्ययन, भावना के प्रति सचाई आदि काव्य के हेतु हैं।

काव्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते समय शैली ने कवि के लिए अपेक्षित गुणो का भी उल्लेख किया। शैली का कथन है कि कवि चित्र का स्रष्टा मात्र ही नही होता, वह उसका प्रतिष्ठापक, जन्मदाता एव जीवन-कलाओ का आविष्कर्ता भी होता है। इसके अतिरिक्त कवि अदृश्य जगत् की शक्तियो को जो अज्ञात बोधात्मक हैं, सत्य और सुन्दर से समजित करके प्रस्तुत करने वाला भी होता है। उनके अनुसार कवि को परम बुद्धिमान, श्रेष्ठ तथा विश्रुत होना आवश्यक है।

इन पाश्चात्य विचारको के कथनो से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य के लिए प्रतिभा, मनन, अभ्यास, चिन्तन, अध्ययन, विवेक और कल्पना को काव्य का मुख्य हेतु माना है। इनमे से प्रतिभा पर प्रत्येक विद्वान ने बल दिया है, लेकिन यह भी माना है कि मात्र प्रतिभा से ही काव्य की सजना नही

है। जब कवि समाज के रीति-नियमो मे आबद्ध होकर अपनी वासना की पूर्ति नही कर पाता तो वह वासना उसके अन्तर्मन मे जाकर विलुप्त हो जाती है। फिर उसी अवस्था मे वह स्वय की परितृप्ति के नाना उपाय खोजती ह, जिनमे स्वप्न और काव्य-सृजन मुख्य उपाय हैं। मन की अर्द्धचेतनावस्था म वह स्वप्न के माध्यम से तृप्ति पाती है और अर्द्धचेतनावस्था मे काव्य-सृजन के माध्यम मे। अत फ्रायड के अनुसार वासना के दमन की स्वस्थ प्रवृत्ति ही काव्य की प्रेरणा है।

एडलर ने काम के स्थान पर हीनता की भावना को ही कवि के काव्य की सृजन की मूल प्रेरणा कहा है। मानव-जीवन इतना अभावग्रस्त है कि कवि के जीवन मे सदैव कोई-कोई अभाव बना ही रहता है। प्रयत्न करने पर भी प्रत्यक्ष जीवन मे ये अभाव दूर नही होते, अत कवि को जो प्रत्यक्ष तथा वास्तविक जीवन मे प्राप्त नही होता, वह उसे कल्पना के माध्यम से पाना चाहता है, इसलिए काव्य एक प्रकार से जीवनगत अभावो की काल्पनिक पूर्ति है। इस लिए एडलर के अनुसार, साहित्य-सृजन की प्रेरणा जीवन के अभावों को दूर करने की कामना मे निहित है।

युग के अनुसार प्रतिष्ठा तथा जीवित रहने की कामना भी काव्य-सजन की मूल प्रेरणा है—व्यक्ति नाशवान है, पर अमर रहने की इच्छा प्रत्येक मे होती है, सन्तानोत्पत्ति इसी जीवनेच्छा का परिणाम है, प्रभावशाली कवि इसमे भी अधिक स्थायी कारण की खोज करता है और वह कारण है काव्य। इसके माध्यम मे उसका नाम अमर हो जाता है, यही भावना काव्य-सजना की मूलप्रेरणा है, क्योकि, काव्य के प्रचार से उसे प्रतिष्ठा भी मिलती है। अत आत्माभिव्यक्ति की अदम्य कामना के पीछे भी अर्थोपार्जन, प्रतिष्ठा-प्राप्ति अथवा अमर होने की इच्छा जुडी है।

निष्कर्ष—इन मतो के विवेचन और पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-सर्जना के मूल हेतु दो प्रकार के हैं—(१) जो कवि मे मूल रूप से आवश्यक हैं, जिनसे काव्य की सर्जना होती है, यथा—प्रतिभा, अभ्यास, शास्त्रज्ञान आदि तथा (२) वे कारण, जिनसे काव्य-सजना की कवि को प्रेरणा होती है—अर्थात् प्रेरक तत्त्व। ये मूल तत्त्व और प्रेरक तत्त्व दोनो ही काव्य के हेतु ह। परन्तु इनमें से किसी विशेष को ही मान्यता नही दी जा सकती काव्य-शास्त्रियो ने काव्य-हेतुओ पर जो विचार किया है, वह एकागी है जिस

करता है। यह पाठक को अलौकिक आनन्द प्रदान करता है और इसमे युग-जीवन के विविध पक्षों का सम्यक् उद्‌घाटन होता है। इसका छन्द यथावस्तु के अनुरूप होता है।

परवर्ती समालोचको ने अरस्तू की इस धारणा की आलोचना की और स्वतन्त्र मत स्थापित किए हैं। इसका कारण यह रहा कि आरम्भिक महाकाव्य धार्मिक वातावरण के कारण अलौकिक तत्त्व पर विशेष बल देते थे, इसलिए उन्होने अपना कथानक प्राय दैवी चरित्रों से चुना। रोमांटिक कल्पनाएँ भी अतिप्राकृत तत्त्वो के आश्रय से प्रयुक्त की गई। परन्तु पुनर्जागरण काल के महाकाव्यकारो ने इस अतिप्राकृत तत्त्व का विरोध किया और इसके स्थान पर युग-संस्कृति के चित्रण पर विशेष बल दिया। उन्होंने शास्त्रीय नियमो के प्रति भी अपना विरोध प्रकट किया है। इसलिए टिलयर्ड उसी को महाकाव्य मानते है जिसमे गौरवपूर्णता, समृद्धता, संयम, संगीतात्मकता, अपने समय के समाज तथा संस्कृति की झाँकी, प्रणय, व्यंग्य-विनोद आदि स्पष्ट अथवा प्रच्छन्न—दोनो रूपो मे विद्यमान हो।

वाक्वेलिन (Vanquelin) महाकाव्य को विश्व का समग्र दर्पण मानते हैं। वह लिखते हैं—

"An Epic is the mirror of this world and contains all in itself"

आधुनिक आलोचको ने महाकाव्य की परिभाषा को और भी अधिक व्यापक बनाने का प्रयास किया है, वे महाकाव्य की सफलता-असफलता का समस्त श्रेय कवि की कल्पना को ही देते हैं।

ऐबरक्राम्बी केवल वृहदाकार वर्णनात्मक प्रबन्ध के कारण ही किसी रचना को महाकाव्य नही मानते, अपितु उनके अनुसार महाकाव्य उसी प्रबन्ध को कहेंगे जिसकी शैली महाकाव्योचित होगी और जिसमे कवि की कल्पना और विचारधारा का उदात्त रूप दिखाई पड़ेगा। इसमे एक पुष्ट, स्पष्ट तथा प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है, जो महाकाव्य की गति का आद्यन्त संचालन करता है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानो ने काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं पर मूलरूप से—आकार-प्रकार की दृष्टि से—सभी एक है। अन्तर जो भी है, वह विचारधारा का ही है। अत महाकाव्य के विषय मे कहा जा सकता है कि

(२) गुरुत्व, गाम्भीर्य आदि का समावेश ।
(३) युग जीवन और संस्कृति का महत्कार्यों के परिप्रेक्ष्य में चित्रण ।
(४) सुसंगठित जीवन्त कथानक ।
(५) इतिहास-प्रसिद्ध अथवा श्रेष्ठ एवं कुलीन नायक तथा अन्य पात्र ।
(६) गरिमामयी उदात्त शैली ।
(७) तीव्र प्रभावान्विति और रस-व्यंजना ।
(८) गतिशील जीवन-शक्ति तथा सशक्त प्राणवत्ता ।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्देशित ये काव्य-तत्त्व इस प्रकार मूलत पांच होते हैं, शेष तत्त्वों का उन्हीं में समावेश हो जाता है । ये तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) कथानक—महाकाव्य के लिए कथानक-तत्त्व विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना महाकाव्य का ढांचा खड़ा ही नहीं हो सकता । कवि पहले अपने मन में किसी वस्तु की कल्पना करता है, तदनुसार महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना करता है और महाकाव्य को आकृति प्राप्त होती है । कथानक-तत्त्व पर विचार करते समय, काव्य शास्त्रियों ने इतिहास-प्रसिद्ध ख्यात तथा उदात्त कथानक पर विशेष बल दिया है । पर, ऐतिहासिक कथानक होते हुए भी वह शुद्ध ऐतिहासिक नहीं होता, कल्पना की भी उसमें प्रधानता होती है और कल्पना के माध्यम से कवि उस वस्तु को सुगठित रूप प्रदान करता है । अत उत्पाद्य अंश भी उसमें गृहीत होता है । लेकिन महाकाव्य यथार्थ जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी यथार्थ जीवन से कहीं श्रेष्ठ होता है और उसकी कथावस्तु भी अधिक व्यापक होती है ।

महाकाव्य में घटनाओं का व्यापक चित्रण होता है, उस पर देशकाल की सीमा का कोई प्रभाव नहीं होता । यद्यपि महाकाव्य में एक ही विशेष घटना का नियोजन होता है, फिर भी, उस विशेष घटना से सम्बद्ध अनेक उप-कथाएँ और अवान्तर कथाएँ होती हैं, जिनसे मुख्यकथा को गति तथा प्रवाह मिलता है और कथानक में रोचकता तथा आकर्षण की उत्पत्ति होती है ।

महाकाव्य में प्रयुक्त कथानक के लिये आवश्यक है कि उसका क्रम पूर्व से सम्बद्ध हो, उसमें सम्भावना तथा कौतूहल आदि गुण हों । उसमें अतिप्राकृत तत्त्व का भी समावेश होता है । अत असम्भव और अविश्वसनीय बातों के "वर्णन भी पाठक के कौतूहलवर्द्धन में सहायक होता है । पर महाकाव्य में असम्भव घटनाओं के प्रयोग से जहाँ तक हो सके, बचना चाहिए और यदि

कम व्यक्ति होते है जो काव्य के अन्तरंग रूप को समझ सकें। फिर उन दिनों की काव्यकला मनोरंजन का साधन बनी हुई थी—यह प्लेटो को अभीष्ट नहीं था। चूंकि, काव्य में अनैतिक चित्रण से जनसामान्य पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता था, इसलिए प्लेटो काव्य के नियमन की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। वह काव्य में 'शिवं' के प्रबल समर्थक थे।

यही उनकी कुछ शिथिलताएँ है। यदि काव्य मे कवि वास्तविकता से दूर की रचना करता है, तो यह भी सही है कि वह सत्य से कुछ अधिक भी दे देता है। भले ही उसमे वर्णित घटनाएँ यथार्थ न हों, पर वे मानव-मात्र की सहज मूल प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण सत्य से भी अधिक होती है। और फिर 'शिव' पर ही बल देकर पूर्णरूपेण 'सौन्दर्य' को भूल जाना भी काव्य को नीति का स्वरूप प्रदान कर देता है।

फिर भी उनका अनुकरण-सिद्धान्त श्लाघनीय है, यह निर्विवाद है।

प्रश्न २—अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'काव्यसत्य' के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे अरस्तू से पूर्व भी काव्य के सत्यासत्य के विषय में विचार हो चुका था। अरस्तू से पूर्व होमर आदि प्राचीन नाटककारों पर असत्यता का आरोप लगाकर प्लेटो आदि ने भी उनकी भर्त्सना की थी। प्लेटो का काव्य पर सबसे बड़ा आरोप यही था कि वह सत्य से दूर होता है—

"Poetry is twice removed from the reality."

वह ब्रह्म को ही सत्य मानते थे, उसकी सृष्टि को ईश्वर का अनुकरण मानते थे और काव्य को सृष्टि का अनुकरण। इस प्रकार जब भौतिक जगत् ही अपूर्ण अनुकृति है—असत्य है, फिर काव्य तो सत्य से बहुत दूर पड़ गया।

अरस्तू ने इस पर गहनता से विचार किया और वस्तु-जगत् (भौतिक संसार) तथा काव्य-जगत के सत्य का भेद किया और इस सन्दर्भ में अपने गुरु प्लेटो के द्वारा फैलाए गए भ्रम का भी निराकरण किया। अरस्तू का विचार था कि काव्य मानव-जीवन तथा जीवन के शाश्वत एवं सार्वभौम तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है; ऐसे समय वह आकस्मिक बातों पर ध्यान न देकर, अनेक भौतिक आवश्यकताओं और कामवासनाओं की उपेक्षा कर, जो होना चाहिए, का चित्रण करता है। अपने 'काव्यशास्त्र' में वह लखते है—"कवि

है, किन्तु एक सर्ग में एक ही छन्द रहना चाहिए, इससे कथा-प्रवाह खण्डित नहीं होता। महाकाव्य की गरिमा में अभिवृद्धि ही होती है।

शैली के लिए गरिमा तथा प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। गरिमा लाने के लिए ही कवि असामान्य शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना तथा छन्द, मुहावरों, अलंकारों आदि का प्रयोग करता है। इससे भाषा-शैली का धरातल जन-सामान्य की भाषा से कुछ ऊपर उठकर आकर्षक हो जाता है, पर अरस्तू का विचार है कि यह असामान्यता अधिक नहीं होनी चाहिए, सीमातिक्रमण से इसे वाग्जाल मात्र समझा जाएगा। अतः सामान्य और प्रचलित शब्दों का बहिष्कार भी उपयुक्त नहीं है।

शैली महाकाव्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसीलिए ऐबरक्रोम्बी ने कहा है, "बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्योचित होगी, तभी वह महाकाव्य माना जाएगा।"

(४) उद्देश्य—महाकाव्य का एक अन्य तत्त्व उद्देश्य है। महाकाव्य के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए अरस्तू ने मनोवेगों का विवेचन तथा तज्जन्य मन शान्ति को इसका उद्देश्य माना है। परन्तु यह अंशतः भले ही सत्य हो, पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि, महाकाव्य को पढ़ते-सुनते समय मनोवेग उतने जाग्रत नहीं होते, जितने त्रासदी में। तब प्रश्न यह उठता है कि फिर आनन्द कैसे प्राप्त होता है। इस आनन्द-प्राप्ति का कारण यह है कि महाकाव्य में आत्मा का विस्तार और उदात्तीकरण करने की क्षमता है, इसी से पाठक प्रभावित होता है। इस प्रकार महाकाव्य का उद्देश्य धार्मिक तथा नैतिक होने के साथ जन-भावना का परिष्करण तो होता ही है, पाठकों को असीम आनन्द प्रदान करना भी होता है। महाकाव्य के उद्देश्य के लिए आवश्यक है कि वह पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक हो तथा आदि से अन्त तक उसमें रमा रहे।

(५) पृष्ठभूमि अथवा वातावरण—महाकाव्य का वातावरण घटनाओं और पात्रों के अनुकूल होना आवश्यक है। इसमें किसी जाति या राष्ट्र के समग्र जीवन को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण, अतिप्राकृत तत्त्व, युद्ध-द्वन्द्व आदि के वर्णन भी दिए जाने चाहिए, जिससे युग-संस्कृति का समग्र रूप झलक सके।

निष्कर्ष—महाकाव्य की इन परिभाषाओं के आधार पर विवेचित इन

महाकाव्यो का वर्गीकरण मुख्य रूप से (१) विषय के आधार पर तथा (२) समय के आधार पर किया जा सकता है।

समय के आधार पर महाकाव्यो का वर्गीकरण—किसी भी महाकाव्य की रचना मे कितना समय लगा है तथा किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखा गया है अथवा अनेक व्यक्तियो द्वारा—इस आधार पर महाकाव्य के दो भेद होते हैं—(१) विकसनशील महाकाव्य और (२) साहित्यिक महाकाव्य।

विकसनशील महाकाव्य—विकसनशील महाकाव्य किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा एक विशेष-समय मे न लिखे जाकर अनेक व्यक्तियो द्वारा विभिन्न समयो मे लिखे जाते हैं। भारत की तरह यूरोप के महाकाव्यो का विकास भी विकसनशील महाकाव्यो से ही हुआ है और आरम्भिक महाकाव्य विकसनशील ही थे। 'इलियड' तथा 'आडेसी' इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। इन महाकाव्यो की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी एक समय मे न होकर अनेक व्यक्तियो द्वारा विभिन्न समयो मे हुई है।

विकसनशील महाकाव्यो की एक विशेषता यह भी है कि इसमे वीर-भावना का प्राबल्य रहता है। कवि अपने युग की वीर-भावनाओ को किसी एक इतिहास-प्रसिद्ध वीर पात्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है, बाद के कवि भी उसमे अपने युग की भावनाएँ जोडते जाते हैं।

विकसनशील कथानक गम्भीर होता है, पात्र महान् होते हैं, जिनके साहसिक कार्यों तथा वैयक्तिक शौर्य को रूढियो के आधार पर कथानक मे भरमार होती है, इससे इनमे अतिशयोक्ति की भरमार, असगतियाँ एव क्षेपक भी आ जाते है।

विकसनशील का महाकाव्य का उद्देश्य किसी युग की अविस्मरणीय तथा प्रख्यात् घटनाओ तथा महान् चरित्रो को जीवन्तरूप मे प्रस्तुत कर पाठको मे मनोरजन के साथ-साथ जीवन के प्रति आस्था साहस, धैर्य आदि आदर्शों को उपस्थित करना भी होता था। इसकी सबसे बडी विशेषता सादगी तथा अलकृति है।

साहित्यिक महाकाव्य—जिन महाकाव्यो की किसी एक व्यक्ति द्वारा एक ही निश्चित समय मे रचना की जाती है, उन अलकृत महाकाव्यो को साहित्यिक महाकाव्य कहते है। इस प्रकार के महाकाव्य सख्या मे पर्याप्त हैं। इनमे पुस्तकीय ज्ञान और पाडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति विशेषत पाई जाती है।

किए है, उनका अक्षरश पालन करने वाले महाकाव्य, शास्त्रीय महाकाव्य कहलाते हैं। इस प्रकार के महाकाव्यो के जन्मदाता वर्जिल हैं और इनका चरम उत्कर्ष अंग्रेजी कवि मिल्टन के महाकाव्यो 'Paradise Lost' और 'Paradise regained' मे प्राप्त होता है। यद्यपि इसके अनेक तत्व विकसनशील महाकाव्यो से भी मिलते हैं, पर अधिकतर लक्षण पृथक ही होते हैं। इसमे कथा गम्भीर और प्रख्यात होती है। कार्यान्विति भी अधिक होती है, कथानक भी बहुत लम्बा नही होता और अवान्तर कथाएँ भी कम होती है। इसका उद्देश्य महान् होता है, शैली कलात्मक तथा प्रयत्नसाध्य होती है। प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ कवि प्रत्येक भाव के लिए नवीन शब्दो का प्रयोग करता है। वह शब्दो मे नय अर्थ का भी आधान करता है, इसी से पाठक विस्तार की अपेक्षा अशो पर अधिक ध्यान देता है।

इनमे नायक की व्यक्तिगत वीरता के स्थान पर उसकी समाजगत सेवा का चित्रण होता है, वह अपना प्रत्येक कार्य समाज-हित अथवा देश-हित के लिए करता है, इसी से नायक की सुख-शान्ति के लिए प्रेम का भी पर्याप्त चित्रण होता है, इसमें राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उपदेश देने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इस सम्बन्ध मे सी० एम० बोवरा का कथन है

"Their herose are examples of what men ought to be or types of human destiny whose very mistakes must be marked and remembered so these poets wished to inspire, to elevate, to instruct"

प्रतीकात्मक महाकाव्य—प्रतीकात्मक महाकाव्यो मे आध्यात्मिक भावनाओ को प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। कथा द्वयार्थक होती है और प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा अप्रत्यक्ष अर्थ मुख्य होता है। इसमे महाकाव्योचित अन्य सभी गुण होते हैं, पर इसकी कथा का विकास स्वाभाविक न होकर रचयिता की इच्छा पर निर्भर होता है। वह अपने प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कथा को कही भी तोड-मरोड सकता है, उसे नया रूप दे सकता है। उसका उद्देश्य आध्यात्मिक भावनाओ को मूर्तरूप से अभिव्यक्त करना होता है। हिन्दी मे इस प्रकार के महाकाव्य जायसी का 'पद्मावत' तथा 'जयशंकरप्रसाद' की 'कामायनी' है।

काव्यशास्त्र पर ही अधिक विचार होता था, समय इसी प्रकार व्यतीत होता था। पर आज वह शान्ति-प्रधान युग नही है। आज मनुष्य के समक्ष जीवन को जीने की समस्या विकराल रूप से खडी हो गयी है। शिक्षा के प्रचार और प्रसार से प्रत्येक मे जीने की अदम्य कामना ठाठे मार रही है, ऐसे मे न तो कवि के लिए ही सम्भव है कि वह शब्दार्थ-चमत्कार-प्रधान साहित्य की सजना करके वाहवाही लूट सके और न पाठक के पास ही इतना समय है कि वह उसके शब्दार्थों मे ही उलझता रहे। यही कारण है कि वह स्पष्ट शब्दो मे होने वाली अभिव्यक्ति को ही अधिक पसन्द करता है और उसे ही ग्रहण करता है, क्योकि, वह तो उसके वास्तविक जीवन के अधिक निकट होती है।

इसीसे यह स्पष्ट है कि आज महाकाव्यो की रचना नही होती है, चतुर्दिक् उपन्यासो का ही बोलबाला है। तो यहा प्रश्न यह उठता है कि महाकाव्यो की रचना का युग बीत क्यो गया। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमे निम्नलिखित कारण ज्ञात होते है, जिनका यहाँ सक्षेप मे उल्लेख किया जाता है—

(१) महाकाव्यो का युग बीत जाने का पहला कारण यह है कि पाठक के पास अब इतना समय नही है कि वह शब्दार्थ के चमत्कार से पूर्ण साहित्य मे अपना समय नष्ट करता रहे। महाकाव्य की भाषा गम्भीर, पद्यपूर्ण तथा कृत्रिम होती है। अत उसमे निहित भाव सहज ही बोधगम्य नही होते, परन्तु आज का पाठक वर्तमान जीवन की समस्याओ से इतना सत्रस्त है कि उसका उन्ही से पीछा नही छूटता, वह इनमे समय दे ही कहाँ सकता है? समयाभाव के कारण पाठक का मन उधर अधिक रम नही पाता।

(२) महाकाव्यो मे वर्तमान जीवन की वास्तविकता के दर्शन भी नही होते। महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्यों ने उसे इस प्रकार सीमाबद्ध कर दिया है कि वर्तमान जीवन की कुण्ठा, निराशा तथा वास्तविकता का उसमे कोई स्थान नहीं होता। कवि प्राय उदात्त पात्रों के द्वारा उदात्त ऐतिहासिक कथानक के आधार पर ही महाकाव्य की रचना करता है, इससे उसमे कल्पना की प्रधानता हो जाती है और वर्तमान परिवेश का पूर्ण बहिष्कार होता है। जब साहित्य मे वर्तमान समस्याओ का निदर्शन ही नही है, तो वह पाठको का प्रभावित क्या करेगा? इसलिए आज के पाठक की महाकाव्यो की ओर कोई रुचि नही दिखाई देगी।

महाकाव्य हो या आधुनिककालीन महाकाव्य हो—पृथ्वीराजरासो से लेकर भोजराज तक सभी महाकाव्य किसी-न-किसी इतिहास-प्रसिद्ध कथा पर ही आधारित हैं, यहाँ तक कि भक्तिकाल के महाकाव्य भी राम और कृष्ण दिव्य पुरुषों के कथानक पर आधारित हैं। ये महाकाव्य भी वर्तमान जीवन का चित्रण नहीं करते। यही कारण है कि आज के युग में महाकाव्यों की कोई उपादेयता नहीं रह गई।

निष्कर्ष—इस विवेचन से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान संघर्ष-प्रधान युग में महाकाव्यों की अपेक्षा उपन्यासों का अधिक प्रचलन है। आज के विद्यार्थी भी पाठ्य-पुस्तकों के रूप में इन महाकाव्यों का अध्ययन समालोचन भले ही करें, जन-साधारण की इसके प्रति कोई रुचि नहीं है। उदाहरणार्थ सुमित्रानन्दन पन्त ने 'लोकायतन' और रघुवीरशरण मित्र ने 'मानवेन्द्र' आदि महाकाव्यों की रचना की, किन्तु वे जनसाधारण की रुचि को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। इसके विपरीत विमलमित्र का उपन्यास 'खरीदी कौड़ियों के मोल', शंकर का उपन्यास 'चौरंगी', 'य अनजाने', शोलोखोव का उपन्यास 'धीरे बहो दोन रे' तथा अमृतलाल नागर का उपन्यास 'अमृत और विष' आदि आकार-प्रकार में बड़े होते हुए भी अत्यन्त लोकप्रिय रहे। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अब महाकाव्यों का युग बीत चुका है। वे विगतकाल की एक साहित्य-विधा बनकर रह गए हैं। इनका ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही मूल्य हो, किन्तु वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में इनकी कोई उपादेयता नहीं रह गई है। वस्तुतः महाकाव्यों की जगह अब उपन्यासों ने ले ली है। उनमें स्पष्ट रूप से युग-संस्कृति का रूप झलकता है, इसलिए महाकाव्यों का युग समाप्त हो गया है।

प्रश्न ४७—'जिस उद्देश्य की पूर्ति पहले महाकाव्य किया करते थे, उसकी पूर्ति अब उपन्यासों के द्वारा होती है।" इस कथन के आधार पर उपन्यास तथा महाकाव्य के समानधर्मी उपकरणों का विवेचन कीजिए।

साहित्य की अनेक विधाओं में महाकाव्यों और उपन्यास ऐसी विधाएँ हैं जो उद्देश्य की दृष्टि से पर्याप्त साम्य रखती हैं। महाकाव्य उसे कहते हैं जो उदात्त के कथानक के द्वारा उदात्त उद्देश्य की पूर्ति करे। इसी प्रकार उपन्यास भी उदात्त कथानक के द्वारा उदात्त उद्देश्य की पूर्ति करता है। इन दोनों

दृष्टिकोण प्रस्तुत करना होता है—Merely by selection and organization of material, emphasis, presentation of character and development of story, the novelist shows us in a general way what he thinks about life"

उपन्यास की तरह महाकाव्य भी जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है, अतः कथानक-विस्तार की दृष्टि से भी वर्तमान उपन्यास महाकाव्यों के निकट है।

(४) उपन्यास तथा महाकाव्य दोनो में ही सत्य का सम्बन्ध सार्वभौम मानव-स्वभाव से होता है, वे तथ्यों तथा ब्योरों की अपेक्षा जीवन का समग्र चित्रण करते हैं। इसलिए गेटे ने कहा है, "The artist's works is real in so for it is always true, ideal in that it is never actual"

(५) चूँकि उपन्यास तथा महाकाव्य—दोनों का ही सम्बन्ध जीवन तथा उसकी नैतिक समस्याओं से है, अतः उसमे नीति का होना स्वाभाविक ही है, किन्तु दोनो ही उपदेशक नही होते, जीवन-दर्शन कहानी के शरीर मे इस प्रकार घुलमिल जाना चाहिए कि नीति पृथक् ज्ञात न हो। उपन्यासकार और महाकाव्यकार—दोनो का कार्य उपदेश देना नही होता, इसलिए उनका उपदेश भी कान्तासम्मित उपदेश होता है। वे जीवन-दर्शन को कला के मंजुल आवरण में आवृत कर प्रस्तुत करते हैं। सामण्ड ने स्पष्ट लिखा है—"Art grows out of life it is fed by life, it reacts upon life This being so it cannot disregard its responsibilities to life" किन्तु यह नीति-उपदेश मोहक तथा मंजुल होता है—"He embodies and delight"

(६) उपन्यासकार तथा महाकाव्यकार दोनो ही वातावरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उसमे जीवन पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो सके। ऐतिहासिक उपन्यासों मे देशकाल की परिस्थिति का भी पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। महाकाव्य के समान उपन्यास मे भी प्राकृतिक पृष्ठभूमि तथा काल विशेष से सम्बद्ध आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि का चित्रण होता है। प्राकृतिक वातावरण तथा परिस्थिति भी पात्रो के चरित्र पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं। इसमे चतुराई, व्यापकता तथा कलात्मकता होती है। प्रकृति कही तो मानव से सहयोग करती प्रतीत होती है और कही उसकी भावनाओ को उभारती है। उसके आन्तरिक द्वन्द्व के समय मानसिक द्वन्द्व को भी प्रकट करती है और

प्रश्न ४८—गीतिकाव्य किसे कहते हैं? विभिन्न भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो की एतदविषयक परिभाषाओं के द्वारा उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए उसके मूल तत्त्वों तथा विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।

काव्यशास्त्रियों ने कवि की दृष्टि मे काव्य के दो भेद किए हैं—(१) विषय-प्रधान काव्य और (२) विषयी-प्रधान या स्वानुभूतिपरक काव्य। पहले मे कवि अपने को गौण रखकर ससार के नाना विषयो का वर्णन करता है और स्वानुभूत-परक काव्य मे कवि अपनी भावना, अनुभूति तथा विचारो का निरूपण करता है। स्वानुभूतिपरक काव्य को ही गीतिकाव्य (Lyrical poetry) कहा जाता है।

गीतिकाव्य मे किसी भाव की सहज व सरल अभिव्यक्ति होती है। यह पूर्णतया कवि-दृष्टि मे लिखा जाता है अत आत्मपरक होता है। इसके माध्यम से कवि स्वानुभूत भावनाओ का चित्रण करता है जो केवल उसी की होती हैं और अपनी भावनाओ मे वह हँसता है, रोता है, प्रकृति से अपना तादात्म्य—विराग स्थापित करता है और अनुभवों का प्रकाशन करता है। इसमे किसी कथा की अपेक्षा विशिष्ट भाव या अनुभूति विशेष का ही चित्रण होता है।

गेय होने के कारण गीतिकाव्य का प्रयोग 'लिरिक' (Lyric) के लिए किया जाता है। ग्रीक देश मे आरम्भ मे 'लायर' (Lyre) नामक वाद्य-यन्त्र पर गाए जाने वाले गीतों को 'लिरिक' कहा जाता था। बाद मे, सभी प्रकार के गेय गीतो को 'लिरिक' कहा जाने लगा। इसके मुख्य गुण गेयता तथा सगीतात्मकता के माध्यम से स्वानुभूति का प्रकाशन है।

हिंदी मे गीतिकाव्य, गीत और प्रगीत का प्राय पर्याय के रूप मे प्रयोग किया जाता है। तीनो मे ही गेयतत्त्व प्रधान होता है और स्वानुभूति का प्रकाशन होता है। कवि गीतिकाव्य मे अपने मन के विभिन्न भावो को नाना रगो मे रगकर आकर्षक तथा अलकृत शैली मे प्रस्तुत करता है।

गीत के स्वरूप का निरूपण करते हुए कवीन्द्र-रवीन्द्र लिखते हैं, "मन मे जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीतिकाव्य मे प्रकाशित किए बिना नही रह सकता।"

इस प्रकार उनके अनुसार गीतिकाव्य मनुष्य (कवि) के मन मे उत्पन्न हुआ वह वेगवान भावावेग है, जिसका प्रकाशन हुए बिना नही रहता।

प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्ति भावनाओं एवं अनुभूतियों में तादात्म्य स्थापित कर सके।"

गीतिकाव्य का स्वरूप—इन परिभाषाओं के आधार पर गीतिकाव्य के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा जा सकता है कि गीतिकाव्य में वैयक्तिक अनुभूतियों का गेयात्मक तथा संगीतात्मक माध्यम से सहज प्रकाशन होता है। वह अन्तःवृत्ति-निरूपणी कविता है। इसमें कवि की विरति एवं अनुभूति का चित्रण होता है। इसमें संक्षिप्तता के साथ-साथ लय तथा प्रवाह होता है और हृदय की भावनाओं के अनुरूप सरसता, कोमलता आदि होती है।

गीतिकाव्य की विशेषतायें—गीतिकाव्य के इस स्वरूप-विवेचन के आधार पर निम्नलिखित विशेषतायें मानी जा सकती हैं

(क) हृदयपक्ष की प्रधानता—गीतिकाव्य की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनका सम्बन्ध मस्तिष्क से न होकर हृदय से होता है और इसी कारण उनकी अनुभूति बहुत कोमल तथा सरस होती है।

(ख) प्रकरण की संक्षिप्तता—यह गीतिकाव्य की बड़ी विशेषता है और इसके लिए सुन्दरता, मनोहरता तथा प्रभावोत्पादकता आदि गुण आवश्यक हैं।

(ग) तीव्र भावाभिव्यक्ति—इससे गीतिकाव्य में सम्प्रेषणीयता (Communication) का गुण आ जाता है। अतः तीव्र भावाभिव्यक्ति ही गीत को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कवि को प्रेरित करती है।

(घ) मार्मिकता—गीतिकाव्य की एक अन्य विशेषता उसकी मार्मिकता है। इसमें प्रस्तुत सहज भाव पाठक अथवा श्रोता के हृदय को छू लेते हैं। यदि कवि ने केवल एक ही भाव का प्रकाशन किया है तो वह पाठक के मन को स्पर्श कर लेता है और वह उसमें पूर्णरूपेण लीन हो जाता है।

(ङ) संक्षिप्तता—संक्षिप्तता भी एक गीतिकाव्य की अनिवार्य विशेषता है। जो गीत जितना ही संक्षिप्त होगा, वह उतना ही कसा हुआ होगा। लम्बा होने से भाव की विच्छिन्नता का भय रहता है, दूसरे, भावावेग क्षणिक होने के कारण अल्प समय के लिए रहता है। अतः गीत के भी संक्षिप्त होने से उसमें प्रवाहमयता और स्वाभाविकता आ जाती है, पर साथ ही, इस पर ध्यान रखना चाहिए कि यह संक्षिप्तता ऐसी न हो जाए कि उस भाव का अर्थ ही स्पष्ट न हो पाए, पूर्णानन्द से पहले ही समाप्त हो जाए।

"Poetry is a spontaneous overflow of powerful feelings"

(ख) व्यक्तित्व—इसी तत्त्व के कारण गीतिकाव्य अन्य काव्यरूपों से भिन्न होता है। गीतिकाव्य में आत्मप्रधान होने के कारण व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता होती है। इसका दृष्टिकोण, विषयपरक न होकर उसके रचयिता के हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, लज्जा-ग्लानि, वेदना-उल्लास, क्षोभ आदि को व्यक्त करना ही होता है। इसीलिए रस्किन ने कहा—"गीतिकाव्य कवि की अपनी भावनाओं का प्रकाशन है।"

(ग) गेयता—गीतिकाव्य का तीसरा प्रमुख तत्त्व उसकी गेयता है। गीति मूलतः संगीतात्मक होता है। इसका उद्‌भव ही ग्रीक वाद्य लायर (Lyre) पर गाए जाने वाले लिरिक (Lyric) से हुआ है। यद्यपि अब इसके लिए वाद्ययन्त्रों के आश्रय की आवश्यकता नहीं रही, फिर भी, शब्दों की ध्वनि में निहित स्वर-ताल तो आवश्यक है ही। यदि गीतिकाव्य में गेयता या संगीतात्मकता न हो तो उन्हें गीत नहीं कह सकते। यहाँ संगीतात्मकता से अभिप्राय स्वरताल के संगीत से नहीं है, इसके लिए कोमलकान्त पदावली, सुचारु शब्द-गुम्फन, वर्णाक्षर-मैत्री आदि से उत्पन्न संगीतात्मकता (संगीत नहीं) आवश्यक है। इसमें बाह्य संगीत की अपेक्षा आन्तरिक संगीत होता है और इसलिए गेयता प्रमुख तत्व है।

(घ) रागात्मक अन्विति—कवि गीति की रचना करते समय पहले तो किसी एक भाव-विशेष से अनुप्रेरित होता है और फिर उस तीव्र भावावेग से उसका अन्तर्बाह्य—सभी झंकृत हो उठता है। इसी झंकार को वह शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। कवि का मूलभाव एक ही पंक्ति में केन्द्रित हो जाता है और यही पंक्ति सभी अन्य पंक्तियों को जीवन प्रदान करती है। महादेवी के गीत इसका सुन्दर उदाहरण हैं। उनके गीतों की प्रथम पंक्तियाँ उनके भावों को शब्द-बद्ध कर लेती हैं और शेष पंक्तियों में उसी भावना का विकास किया जाता है। अतः गीत के लिए रागात्मक अन्विति का होना आवश्यक है। यही रागात्मक अन्विति गीत को सम्बद्धता प्रदान करती है।

(ङ) शैली तत्त्व—विशिष्ट प्रवाहमयी शैली गीतिकाव्य का एक अन्य प्रमुख तत्व है। कारण, शैली के माध्यम से ही भाव गीतिरूप में प्रस्तुत होते हैं। शैली में तरलता और तारतम्य का होना आवश्यक है, क्योंकि, गीति का मूल भाव अन्तःप्रेरणा से उत्सृत होता है। अतः शैली भी प्रवाहमयी होनी

प्रधान गीत कहलाते हैं । इन गीतों का सम्बन्ध भावोत्कर्ष तथा मानसिक उद्वेगों से होता है । इसीलिए इन्हें कल्पनात्मक बिम्ब प्रदान करने वाली गीति रचना अथवा भाव-गीति भी कहा जाता है ।

(ख) विचार-प्रधान गीत—जिन गीतों में रागतत्त्व की अपेक्षा विचारतत्त्व की प्रधानता होती हैं, वे विचार-प्रधान गीति कहलाते है । इनमें गम्भीरता की मात्रा पर्याप्त है । सम्बोधन-गीत इसी का एक प्रमुख रूप है ।

आकार की दृष्टि से वर्गीकरण—कुछ गीतों का आकार छोटा होता है, कुछ का बड़ा होता है और कुछ का आकार निश्चित होता है । अत इस आधार पर गीत चार प्रकार के होते हैं—

(क) दीर्घाकार गीत (ख) लघु-आकार गीत (ग) चतुष्पदी और (घ) चतुर्दशपदी ।

दीर्घाकार गीत—वे गीत जिनका आकार सामान्य गीतों की अपेक्षा दीर्घ होता है, वे दीर्घाकार गीत कहलाते हैं । यद्यपि गीत की एक विशेषता उसकी संक्षिप्तता है, पर फिर भी कुछ गीत बड़े हो जाते है । छायावादी कवियों के गीत प्राय लम्बे हैं । सम्बोधन गीत (Ode) और कुछ शोक-गीति (Elegy) दीर्घ गीत होते है । सम्बोधन गीत एक दीर्घ कविता होती है जो रचना-वैचित्र्य से युक्त होती है । विलापिका (Elegy) भी कभी-कभी काफी लम्बी हो जाती है । श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का शोक-गीत 'सरोज-स्मृति' काफी लम्बा गीत है ।

लघु आकार गीत—कुछ गीत सामान्य आकार की अपेक्षा अधिक छोटे होते है । उन्हें लघु-आकार वाले गीत कहते है । यद्यपि सबसे छोटा गीत दोहा है, जो दो पंक्तियों का ही होता है, पर इसका आकार निश्चित होने से इसे इस वर्ग में गीतों के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता ।

चतुष्पदी—चतुष्पदी को उर्दू में रुबाई कहते है । इसमें चार पंक्तियों के किसी एक भाव को अभिव्यक्त किया जाता है । हिन्दी में आजकल इसका पर्याप्त प्रचलन है ।

चतुर्दशपदी—यह चौदह पंक्तियों की कविता होती है । इसे अंग्रेजी में सॉनेट (Sonnet) कहते हैं । इसमें केवल भाव-विलास ही नहीं होता, विचार-तत्त्व की भी प्रधानता होती है । चंचल भावों पर नियन्त्रण होने के कारण गम्भीरता व प्रौढता काफी होती है ।

धारणाएँ न तो वस्तुगत यथार्थ के अनुरूप होती है और न आदर्श के अनुरूप ही; फिर भी, मानव-विश्वासों पर आधारित होने के कारण इनमें भी काव्य-सत्य निहित है।

काव्यसत्य की सम्भाव्यता—काव्यसत्य पर विचार करते समय अरस्तू ने उसके सम्भव-असम्भव, अर्थात् सम्भाव्यता-असम्भाव्यता पर भी विचार किया है। अरस्तू इस बात को कभी नही मानते कि वस्तु-जगत् मे जो सर्वथा असम्भव है, वह काव्य के लिए सर्वथा त्याज्य है। उनका विचार है कि असम्भव का ग्रहण भी कभी-कभी परम्परागत धारणा के आधार पर ग्राह्य हो जाता है और उसे न्याय्य ठहराया जा सकता है। यथा—

"That never have happend and never will happend, may be more true, poetically speeking,—more profoundly true that those daily occurrences which we can with confidence predict."

अर्थात् कभी-कभी झूठ सत्य की अपेक्षा अधिक सत्य तथा कवित्वपूर्ण हो सकता है तथा मानव-धर्म के अधिक निकट हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि असम्भव भी काव्यसत्य की परिधि में आ जाता है, पर इसके लिए यह आवश्यक है कि इसे किसी न किसी निश्चित उद्देश्य से होना चाहिए।

असम्भव सत्य के उद्देश्य—अरस्तू काव्यसत्य के रूप मे असम्भव तथ्यो को ग्रहण करने के लिए तीन उद्देश्य बताते है—

(१) कलागत आवश्यकता;
(२) वस्तु सत्य से भव्यतर सत्य की प्रतिष्ठा; और
(३) परम्परागत धारणा या विश्वास,

यदि कोई 'असम्भव' अधिक कवित्वपूर्ण तथा प्रभावशाली है तो कलागत आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसको ग्रहण किया जा सकता है और वस्तु-जगत् से भव्य यदि कोई असम्भव है तो वह भी मानव-धर्म की सहज अन्तःवृत्ति को द्योतन करने के कारण ग्राह्य हो सकता है और परम्परागत धारणा का समर्थन करने वाला 'अमम्भव' भी काव्य का सत्य बन जाता है। अन्तिम वर्ग में कवि-किंवदन्तियाँ भी (जैसे चकोर का अँगारे चुगना, हंस का नीर-क्षीर-विवेक आदि) परिगणित की जा सकती है। तात्पर्य यह हुआ कि

समाज के नेत्र खोलता ह और उसे कटु-वस्तुस्थिति से परिचित करता है। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के 'वनवेला' और 'कुकुरमुत्ता' इसके सुदर उदाहरण ह।

शोक-गीत (Elegy)—शोक गीतो मे किसी प्रिय व्यक्ति के निधन अथवा सदैव को छोडकर चले जाने पर शोक प्रकट किया जाता है। इसमे कृत्रिमता तनिक भी नही आनी चाहिए, क्योकि, ऐसा होने से कविता प्रभावपूर्ण नही रहेगी। इसे विलापिका भी कहते हैं। स्पेन्सर का 'एस्ट्रोफेल' जॉन मिल्टन का 'लिसीडस' शोक-गीत के सुदर उदाहरण हैं। निराला की 'सरोज-स्मृति' भी हिन्दी शोक-गीतका उत्तम उदाहरण है। कभी-कभी शोक-गीतो मे दार्शनिक विचारधारा का भी विवेचन होता है और जीवन के शाश्वत सत्य—मृत्यु के रहस्यो का मार्मिक उद्घाटन होता है।

शोक-गीत का एक भेद 'Pastoral Elegy' इसमे मृत व्यक्ति के प्रति जो शोक व्यक्त किया जाता है, वह सीधे-सीधे ढग से न होकर विचित्रतापूर्ण होता है और इसकी भाषा आलकारिक होती है। जॉन मिल्टन का 'लिसिडस' इसी प्रकार का शोक-गीत है।

शिशु-गीत—शिशु-गीत दो प्रकार के हो सकते है—(१) जिनमे बच्चो की भावनाओं का चित्रण हो और (२) जो बच्चो के लिए लिखे जाएँ। इनमे पहले प्रकार के गीतों को ही आजकल शिशु गीत माना जाता है। इन गीतो म बच्चो के सरल मानसिक भावो, मनोवृत्तियो और उनके मन पर पडे प्रभावो का सरलतम भाषा मे सुदर वर्णन होता है। इन गीतो को लिखने के लिए बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान परम आवश्यक है।

नृत्य-गीत—जिन गीतो मे नृत्य आदि का वर्णन हो, वे नृत्य-गीत कहलाते ह। इनका सगीत, नाद और लय से विशेष सम्बन्ध होता है।

भक्तिपरक-गीत—भक्तिपरक गीतो मे कवि आराध्यदेव के चरणो मे अपनी भक्ति-भावना के प्रसून अर्पित करता है। दैन्य, ग्लानि, श्रद्धा, स्तुति आदि इसी प्रकार के गीतो की भावनाएँ हैं। इनमे अलौकिक सत्ता के रहस्य के प्रति एक जिज्ञासा-भाव निहित होता है जो विभिन्न रूपो से प्रकट होता है।

वीरगीत—जिन गीतो मे वीरता, युद्ध आदि साहित्यिक भावनाओं की प्रधानता होती है, उन्हें वीरगीत कहते है। इनका एक अन्य रूप राष्ट्रीय गीत होता ह। कवि देश के उत्थान के लिए जनता को जाग्रत करने के लिए

(२) समूह रूप मे मिलकर गाए जाने वाले लोकगीत। ये गीत लोक-मानस से अपना पूर्ण तादात्म्य रखने है।

कलागीत—कलागीत को साहित्यिक गीत भी कहते है। इन गीतो मे लेखक का कोई पता नही रहता तथा भाषा आलकारिक रहती है। नागर भाव की प्रधानता के साथ-साथ इनमे व्यक्ति-भाव की प्रधानता रहती है। इन गीतो के प्रमुख गुण है—नाद-सौन्दय, शब्द-योजना, सगीत की सूक्ष्मता, वाग्वैदग्ध्य आदि।

परन्तु इन गीतो मे लोकगीतो जैसी सहज गेयता, सहज ग्राह्यता तथा सौन्दय-पक्ष उतना प्रबल नही होता।

इसके अतिरिक्त लौकिक-आलौकिक के आधार पर भी गीतो के भेद किए जाते हैं, पर मान्य ये ही वर्गीकरण हैं। इस प्रकार अनुभूति तथा अभिव्यक्ति भेद से गीतो के अनेक भेद हो जाते ह।

प्रश्न ५०—समालोचना की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए और विभिन्न विद्वानो द्वारा की गई समालोचना की परिभाषाओ का उल्लेख कीजिए साथ ही आलोचना की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालिए।

हिन्दी मे आलोचना शब्द का प्रयोग समीक्षा, समालोचना, विवेचना आदि पर्याय शब्दो के रूप मे अग्रेजी शब्द क्रिटिसिज्म (Criticism) का रूपान्तर है। यह अग्रेजी का ही रूपान्तर मात्र नही, बल्कि हिन्दी मे यह शब्द सस्कृत से आया है। सस्कृत मे आलोचना शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' धातु का अथ होता है देखना। अत इसमे 'ल्यु' प्रत्यय जोडने से 'लोचन' शब्द बना है जिसमे 'आड' उपसर्ग लगाने से आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति होती है। शब्दगत अर्थ की दृष्टि से आलोचना की अपेक्षा समालोचना अथवा समीक्षा शब्द अधिक उपयुक्त है। समालोचना का अर्थ है—सम्यक् आलोचना-भली प्रकार देखना और इसी प्रकार समीक्षा का अथ भी देखना, परखना अथवा सम्यक् ईक्षा है।

आलोचना तथा समीक्षा का अथ होता है किसी वस्तु अथवा पदाथ का सम्यक् दृष्टि से पयवेक्षण करना। आरम्भ मे इसका अथ छिन्द्रान्वेषण ही माना गया था। किन्तु बाद मे इसका अथ निणय के रूप मे स्वीकार किया गया जो अग्रेजी शब्द के 'क्रिटिसिज्म' के अधिक निकट है।

समालोचना की परिभाषा—चूँकि हिन्दी मे वतमान समालोचना के

तीन बातें मुख्य हैं—अर्थ का स्पष्टीकरण, विषय का वर्गीकरण तथा निर्णय की प्रधानता। इसका उद्देश्य जनता और लेखकों की रुचि का संशोधन करना है। समालोचना का वास्तविक अर्थ यही है कि वह इतिहास और तुलना का आधार लेकर वस्तु के बाह्य और आन्तरिक पक्षों की वैज्ञानिक शैली में व्याख्या करते हुए आलोच्य वस्तु का मूल्यांकन करे। इस दृष्टि से डा० सीताराम चतुर्वेदी की परिभाषा अधिक स्पष्ट है, यथा—

"समीक्षा वह तात्त्विक प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य कुछ दर्शनीय पदार्थ देखने की इच्छा करे और देख चुकने पर उसमें जो द्रष्टव्य है, उसे दूसरों को भी दिखा दे।"

आलोचना का उद्देश्य—बाबू गुलाबराय ने आलोचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आलोचना का उद्देश्य कवि की सृष्टि—कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद करके पाठकों में उनके आस्वादन में प्रेरणा देना है। समालोचना के द्वारा समालोचक निम्नलिखित उद्देश्य पूर्ण करते हैं—

(१) रचना का भावन और उसके रचयिता के उद्देश्य का उद्घाटन।

(२) रचना के गुण-दोषों का विवेचन।

इस सम्बन्ध में एडीसन ने कलाकृति में निहित गुण-सौन्दर्य के उद्घाटन पर विशेष बल दिया है, यथा—

"The Critic's principal duty is to discover the concealed beauties of a writer and communicate to the world such things as are worth their observation."

लेकिन गुण-प्रकाशन के साथ-साथ किसी भी कृति के दोषों की विवेचना भी आवश्यक है, ताकि विकृत साहित्य के लेखन की प्रवृत्ति न पनप पाए।

(३) अच्छे साहित्य को सदैव प्रोत्साहन देना और विकृत साहित्य का निराकरण करना तथा इस दृष्टि से रचना का मूल्यांकन करना।

(४) रचना की व्याख्या करके अपने मन पर पड़े उसके प्रभाव की विवेचना करना।

कुछ विद्वान् मूल्यांकन अथवा निर्णय को समालोचना का उद्देश्य नहीं मानते। वाल्टर पेटर आलोचक के तीन उद्देश्य ही मानते हैं—कवि के गुणों का अनुभव, उनका विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण—

ने इस व्याख्या का विश्लेषण करते हुए लिखा है, "किसी भी वस्तु का यथावत् परिशीलन आलोचना का प्रमुख ध्येय है। उसके सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम विचारो की खोज करना और उनके प्रसार मे दत्तचित्त होना ही व्याख्या का कर्म है।"

वस्तुत समालोचक किसी कृति का व्याख्याता ही होता है और किसी आधार पर आलोचना का उद्देश्य स्वय जानना और दूसरो को बतलाना माना जाता है। समालोचक किसी कृति से जो प्रभाव ग्रहण करता है, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम व्याख्या ही है। आलोचना की व्याख्या करते समय समालोचक चार बातो पर ध्यान रखता है—

(१) ऐतिहासिक जिज्ञासा का शमन तथा कृतिकार, उसके युग, उसकी प्रेरणा या प्रभाव की व्याख्या करना।

(२) कवि के प्रतिपाद्य, विषय-वस्तु का स्रोत, उसकी मीमासा और सयोजन करना।

(३) वस्तु की रूप-सज्जा, भाषा-शैली, छन्द आदि की व्याख्या विश्लेषण करना।

(४) रचना का युग-विशेष पर पडे प्रभाव और लोक-प्रतिष्ठा की व्याख्या करना।

(ग) मूल्याकन व निर्णय—समालोचना की तीसरी तथा अतिम प्रक्रिया व्याख्या के पश्चात् अपने मूल्याकन का निणय देना है। समालोचक जिस प्रभाव को ग्रहण करता है, उसकी अपनी बोध-दृष्टि से व्याख्या करता है और फिर अन्त मे उस पर अपना निर्णय देता है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् इस निणय को समीक्षा के क्षेत्र से बाहर मानते हैं। पर निर्णय भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत है। इसलिए आई० ए० रिचर्ड्स ने लिखा है—

"आलोचक होने का अर्थ यह है कि वह किसी वस्तु या कृति का गुण-दोष विवेचन करके मूल्यो का निर्धारण करे।"

निष्कर्ष—इस समग्र विवेचन से स्पष्ट है कि समालोचना अग्रेजी शब्द 'क्रिटिसिज्म' (criticism) का पर्याय है और इसकी प्रक्रिया तीन तत्त्वो पर निर्भर रहती है। इन्ही के आधार पर समालोचना की परिभाषा का निर्माण किया जा सकता है।

प्रश्न ५१—साहित्य को विवेचन की आवश्यकता क्यो पडती है ?

दूसरा प्रयोजन लेखन के लिए अच्छे सिद्धान्तों का अन्वेषण करना और नव प्रयोग करना है। यह प्रयोजन पहले की अपेक्षा अधिक उदात्त है। आलोचन देखने के लिए नवीन पर उपयुक्त सिद्धान्तों का अन्वेषण करती है। सम पाश्चात्य विचारकों ने आलोचना के इस प्रयोजन को महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए कॉलरिज ने आलोचना के प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा है, "दूसरों के द्वारा रचे ग्रन्थों पर निर्णय देने के नियम गढ़ने की अपेक्षा, रचना करने या लिखने के सिद्धान्तों का स्थापन आलोचना का अधिक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक उद्देश्य है।

(३) **लोकरुचि का परिष्कार**—समालोचक का पाठकों की दृष्टि में एक मात्र प्रयोजन लोकरुचि का परिष्कार है। इस प्रकार समालोचक जनरुचि का परिष्कारक भी होता है। यह समालोचना का प्रयोजन है कि वह यह बताए कि जनता किन आधारों पर किसी कृति को रुचिकर स्वीकार करे। इसलिए समालोचना पाठकों को काव्य का मार्ग समझाकर काव्यानुशीलन करती है और पाठकों को रसास्वादन कराती है।

(४) **साहित्य के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन**—आलोचना का एक प्रमुख प्रयोजन साहित्य के गुण-दोषों की विवेचना करके सत्-असत् साहित्य का स्वरूप प्रस्तुत करना होता है। इसके लिए समालोचक में सजगता तथा निष्पक्षता आवश्यक है। समालोचना अच्छे साहित्य को प्रोत्साहन देती है और अश्लील साहित्य का निराकरण करती है। इस प्रयोजन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का संकेत भी मिलता है।

(५) **साहित्य की गतिविधि का नियमन**—यह प्रयोजन चौथे प्रयोजन के निकट ही है। पर इसका सम्बन्ध पाठकों के साथ-साथ लेखकों का पथ प्रदर्शन भी है। समालोचक का यह दायित्व है कि वह साहित्य को पथ भ्रष्ट होने से रोके। इसीलिए पाश्चात्य समीक्षक होरेस ने कहा है, "समालोचक साहित्य क्षेत्र का प्रबन्धकर्ता है।"

डा० नगेन्द्र ने समालोचना के इस प्रयोजन को एक व्यावसायिक कार्य माना है। उनका स्पष्ट मत है, "साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है। उसमें इसके स्थान पर शक्ति की स्पृहा हो जाती है। वहाँ सर्जना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बलावल की

कृतिकार से अधिक विद्वान् न होगा तब तक वह उसकी कृति को समझ नहीं सकता। जो स्वयं ही विद्वान् न हो वह दूसरो के समक्ष निर्णय कैसे दे सकता है? अतः विषय का सांगोपांग विवेचन करने के लिए समालोचक का ज्ञान विस्तृत होना आवश्यक है।

(२) तटस्थता—निस्संगता, निर्लिप्तता तथा निष्पक्षता समालोचक के लिए परमावश्यक गुण हैं। यदि उसके विचार किसी पूर्वाग्रह मे आवद्ध हैं तो वह कृति की सम्यक विवेचना नहीं कर सकेगा। वह पक्षपातरहित होने पर आलोच्य कृति का वास्तविक रूप प्रस्तुत कर सकता है। वास्तव मे तटस्थता की समालोचना के लिए अतीव आवश्यक है।

(३) सहृदयता, भावुकता तथा सहानुभूतिशीलता—इन गुणो से समालोचक आलोच्य कृति पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है। कारण, जैसे पाठक का सहृदय होना आवश्यक है, वैसे ही समालोचक का भी सहृदय होना आवश्यक है। सहानुभूतिशील होने से ही वह कृति का निस्संग विवेचन कर सकेगा।

(४) छिद्रान्वेषी प्रकृति का निराकरण—यद्यपि काव्य की परीक्षा के लिए जब समालोचक प्रवृत्त होता है, उस समय सम्यक् विवेचना के लिए गुणो के साथ-साथ दोषो को भी प्रदर्शित करता है, पर इसमें सुधार-भावना होनी चाहिए न कि छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति। टी० राइमर ने कहा है, "किसी श्रेष्ठ कलाकार के दोषो का प्रदर्शन और गुणो पर परदा डालना अच्छे आलोचक का गुण नही है।" कॉलरिज भी इस सम्बन्ध मे लिखते हैं, 'समालोचक का कार्य काव्य के सौन्दर्य पूर्ण अगो की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना है।"

(५) कवि और उसके काव्य के विषय में पूर्ण ज्ञान—समालोचक का विद्वान् होना ही पर्याप्त नही है, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह कवि के विषय और उसकी कृति के विषय मे सभी कुछ जानता हो। तभी तो वह आलोच्य कृति की सही आलोचना कर सकता है। कृति की समालोचना अपने सिद्धान्तो के आधार पर न होकर आलोच्य कृति से कृतिकार की रुचि तथा परिस्थितियों के आधार पर होनी चाहिए, अतः उनका ज्ञान समालोचक का विशेष गुण है।

(६) कृतिकार के साथ तादात्म्य—समालोचक का एक गुण यह भी है कि वह समालोचना करते समय स्वयं को भी उन्ही परिस्थितियो मे अनुभव

(११) अतिशयोक्ति तथा अति का अनुसंधान ।
(१२) प्राचीन-नवीन मे भेद न करना ।
(१३) नियमानुकूल काव्य-निर्माण को ही श्रेष्ठ न मानना ।
(१४) स्वतन्त्र रूप मे विचार करना ।
(१५) व्यक्तित्व का ध्यान न रखकर काव्य को परखना ।
(१६) केवल नवीनता से ही आकृष्ट न होना ।
(१७) समरूप से आलोचना करना ।
(१८) दलगत बन्दी से दूर रहना ।
(१९) द्वैत और अहम् से रहित होकर काव्य-निर्णय करना ।
(२०) मनुष्यत्व और सत्य को न भूलना ।

निष्कर्ष—इस प्रकार समालोचक के अनेक गुण हो सकते हैं । पोप ने भी समालोचक के बीस गुण गिनाये हैं, जिनका समाहार इन्ही गुणो मे हो जाता है । कुछ गुण पाठक से सम्बद्ध है, कुछ कवि (आलोच्यकार) मे तथा समालोचक मे और इन सबके होने से ही समालोचना आदर्श बनती है ।

प्रश्न ५२—आलोचना के मूल तत्त्वो का विश्लेषण करते हुए यह निर्णय कीजिए कि आलोचना विज्ञान है या शास्त्र ।

आलोचना के लिए एक निश्चित प्रक्रिया अथवा पद्धति होती है, जिस पर समीक्षा का स्वरूप निर्भर करता है । समीक्षा मानव-मन पर पड़ी किसी रचना की प्रतिक्रिया का व्यावहारिक रूप है । साहित्य के अध्ययन-मनन से मन पर उस रचना के सम्बन्ध मे कुछ निर्णय बनते है, कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं । समालोचना इन्ही निर्णयो तथा प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करती है । पर यह प्रक्रिया अभिव्यक्ति पाकर समीक्षा का स्वरूप किस प्रकार धारण करती है, इसके लिए तीन सोपान हैं । अभिव्यक्ति की इस प्रक्रिया मे सबसे पहले समीक्षक को काव्य वस्तु का, उसके विषय का बोध होता है, तब फिर वह उसकी व्याख्या-विश्लेषण करने मे प्रवृत्त होता है और तदुपरान्त वह मूल्यांकन करता है । इसी प्रक्रिया को आलोचना के तत्त्व कहते हैं । इस प्रकार समीक्षा के तीन मूल तत्त्व होते हैं—(१) विषय-बोध, (२) व्याख्या-विश्लेषण और (३) मूल्यांकन अथवा निर्णय ।

अब हम यहाँ संक्षेप मे इन तीनो तत्त्वो पर विचार करेंगे ।

समझ सके। व्याख्या-विश्लेपण कृति को समझने मे सहायता प्रदान करता है। वह कृति के छिपे रहस्य और भाव को पाठको के समक्ष प्रस्तुत करता है। इनके द्वारा आलोचक की प्रतिभा, शिक्षा तथा साहित्य मे उसकी पैठ का भी पता चलता है। 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ' की तरह आलोचक मे जितना अधिक ज्ञान विशद् होगा तथा जितनी अधिक कृति को समझने की सामर्थ्य होगी, उतनी ही व्याख्या सुन्दर व स्वस्थ होगी। इस अनुपात से एक ही कृति की अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं।

(३) **मूल्याकन अथवा निर्णय**—आलोच्य कृति की व्याख्या के पश्चात् तीसरा तत्व मूल्याकन है। अनेक विद्वान् आलोचना मे निणय देने के पक्ष मे नही है। स्वय डा० नगेद्र का भी यह स्पष्ट विचार है कि समालोचक को यह अधिकार नही है कि वह किसी कृति पर अपना निणय दे, क्योकि, कवि स्रष्टा होता है, उसका साहित्य मे योगदान आंका नही जा सकता। किन्तु प्राय विद्वान् इसस सहमत हैं कि समीक्षा मे तीसरा तत्व निणय भी है। कृति के सम्बन्ध मे एक निश्चित धारणा व्यक्त किए बिना आलोचक का वक्तव्य पूण नही होता। निर्णय से आलोचना का स्वरूप भी स्थिर होता है और कृति के महत्व का भी प्रतिपादन होता है।

निष्कपत समीक्षक ये तीनो तत्त्व मिलाकर ही समीक्षा को पूर्णता प्रदान करते हैं। विपय-वोध और अभिव्यक्ति—इन दोनो के लिए ही इन तत्त्वो की आवश्यकता है, क्योकि जब तक विपय का ज्ञान नही होगा, समीक्षक लिखेगा क्या ? और इस प्रकार निर्णय उसे पूर्णता प्रदान करता है। इस तरह समालोचना का पूण रूप होता है।

समालोचना शास्त्र है या विज्ञान—समालोचना का कार्य है—कलाकृति के गुण-दोषो का निर्णय और उसका मूल्याकन। यह मूल्याकन दो प्रकार से सम्भव है—(१) तक द्वारा और (२) भाव द्वारा। कुछ विद्वान् मूल्याकन मे तक को महत्ता देते हैं और इस आधार पर आलोचना को विज्ञान मानते हैं। इसके विपरीत समालोचना को कला मानने वाले विद्वान् काव्य की परख के लिए रसानुभूति पर वल देते हैं। उनका कथन है कि साहित्य कोई स्थूल दृश्यमान् वस्तु नही है, जिसका तक या विज्ञान-सम्मत उपायो और विधियों से विश्लेपण और मूल्याकन हो सके।

समालोचना को विज्ञान मानने वाले विद्वानो का तर्क है कि समालोचना

पूर्ण नही है । इसी बात को प्रसिद्ध समीक्षक सेण्ट्सबरी ने निम्नलिखित शब्दा मे व्यक्त किया है

"The essential of qualities of literature, as of all art, are communicated by the individual, they depend upon idiosyncrasy, and this makes science in and proper sense Powerless "

आलोचक का काय केवल मन पर पडे प्रभावो को प्रस्तुत करने तक ही परिसीमित नहीं हैं, उसे अपना निणय भी देना होता है । साथ ही, अपने निणय के पीछे तर्क भी प्रस्तुत करने होते हैं और यही आलोचना का विज्ञान पक्ष है ।

आलोचना के मानदण्ड कम और सरल होने चाहिए । आलोचक का कतव्य यह नही कि वह लेखक को आदेश दे तथा उसे नियमो का पालन करने के लिए विवश करे । वास्तव मे लक्षण तो लक्ष्य-ग्रन्थो के आधार पर ही बनते है । अत लक्ष्य-ग्रन्थो के आधार पर रचना का सर्वथा मूल्याकन करना उचित नही कहा जा सकता । इस सम्बन्ध मे सी०टी० विंचेस्टर ने उचित ही कहा है

"Rules and principles, however valuable are not the first essential in the equipment of the critic they presuppose a certain sensitiveness and sympathy which may furnish the material for critical judgement "

समग्रत आलोचना विज्ञान भी है और कला भी । उसम तर्क भी आवश्यक है और भावानुभूति भी । यह तर्क और विश्लेषण के कारण विज्ञान है तो रसप्रबोधन और प्रसाधन के कारण कला भी । साहित्यिक कृति के समान वह पुनरचना का कार्य करती है—

"The first (poet or novelist) reconstructing impressions drawn from life, the other (critic) reconstructing impressions from literature "

इस दृष्टि से आलोचना कला है पर जहा कही निर्णय की बात आती है, वह विज्ञान का रूप धारण कर लेती है । इस प्रकार आलोचना मे कला और विज्ञान का मिश्रण है । इसकी सिद्धि कला के निकट है और क्रम-पद्धति विज्ञान के निकट । अत आलोचना को कला का विज्ञान कहा जा सकता है ।

(घ) अपनी प्रतिभा के बल पर लोक-रुचि और परिस्थिति के आधार पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण।

पहले वर्ग के अनुसार प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों के आधार पर नियम निर्धारित होते हैं और फिर अन्य कृतिकारों को उनका अनुगमन करने की प्रेरणा दी जाती है। दूसरे वर्ग में पहले सिद्धान्तों का निरूपण होता है तब फिर उनके आधार पर ग्रन्थों की रचना होती है। व्यावहारिक आलोचना का अधिकांश अंश सैद्धान्तिक समालोचना पर ही आधारित होता है।

(२) व्यावहारिक समालोचना—व्यावहारिक समालोचना साहित्यिक कृतियों की व्याख्या तथा उनका मूल्यांकन करती है। किसी कृति अथवा कृतिकार की समीक्षा इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है। विषय, शैली, उद्देश्य, दृष्टिकोण और मानदण्डों के आधार पर व्यावहारिक समालोचना के अनेक भेद हो जाते हैं। इसे साहित्यिक समालोचना भी कहते हैं। कारण, इस समालोचना का सम्बन्ध साहित्य से है। यह साहित्य की समालोचना होती है।

पद्धतियों के आधार पर व्यावहारिक आलोचना के तीन भेद हो जाते हैं

(क) प्रभावात्मक समालोचना।

(ख) व्याख्यात्मक समालोचना।

(ग) निर्णयात्मक समालोचना।

(क) प्रभावात्मक समालोचना—प्रभावात्मक समालोचना के अन्तर्गत किसी कृति को पढ़कर मन पर पड़े प्रभावों का सम्यक् आकलन किया जाता है। इसमें कल्पना और भाव तत्त्व की प्रधानता रहती है, इसीलिए यह समालोचना रचनात्मक साहित्य की भावात्मक निबन्ध जैसी विधा अधिक लगती है, समालोचना कम। यह आलोचना पूर्णतया व्यक्तिनिष्ठ होती है। इसीलिए इसे आत्मप्रधान आलोचना (Subjective) भी कहा जाता है। इस प्रकार की समालोचना में कलाकार प्रत्येक सैद्धान्तिक बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से आलोचना करता है। इस प्रकार की समालोचना के विषय में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि आलोचना आराध्य की पूजा है। आलोचक कृति को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखने पर ही उसका सही मूल्यांकन कर सकता है। हेनरी हडसन का भी यही कहना है, "साहित्य का विकास व्यक्तित्व से होता है और वह व्यक्तित्व की ही अपील करता है, अतः आलोचना में से व्यक्तिगत (प्रभावाभिव्यंजक) तत्त्व नहीं निकाले जा सकते।"

३. वस्तु-जगत् का यथार्थ ही सत्य नही है, मानव-आदर्श, मानव-विश्वास तथा परम्परागत मानव-धारणाएँ भी सत्य है।

४. वस्तु-जगत् में जो असम्भव है, असंगत है वह भी किसी सुन्दर उद्देश्य की प्रेरणा से काव्यसत्य की परिधि में आ जाता है।

५, काव्य का सत्य देशकाल की सीमा से मुक्त सार्वभौम तथा सार्वकालिक होने के कारण वस्तु-सत्य की अपेक्षा भव्यतर होता है।

६. किन्तु यह सत्य अमूर्त विचार रूप नही होता—इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मूर्त और निश्चित ही होता है।

७. काव्य का सत्य निरंकुश नही होता, विवेक का अंकुश उस पर निश्चय ही रहना चाहिए।

उक्त निष्कर्ष से यह स्पष्ट है कि अरस्तू काव्य को सत्य-मानव-सत्य का पर्याय मानते है—वस्तुसत्य का नही। काव्य-सत्य तो मानव-भावना और कल्पना का सत्य है। अतः उत्तम काव्य वही है जो सहृदय के कर्म को स्पर्श करे; इसका स्पर्शीकरण तभी हो सकता है, जब वह कवि की कल्पना से प्रभान्विति उत्पन्न करे, अतः वह मानव-सत्य से सम्बन्धित हो।

प्रश्न ३—अरस्तू के अनुकृतिवाद की मुख्य स्थापनाएँ क्या हैं ? उसे बहिर्मुखी या बाह्यांगपरक सिद्धान्त क्यों कहा गया ? सिद्ध कीजिए।

अथवा

अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त का परिचय देते हुए उसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

काव्य की आत्मा पर विचार करते समय अरस्तू ने अनुकरण के सिद्धान्त को काव्य को आत्मा माना है। अनुकरण शब्द यूनानी शब्द 'मीमेसिस' (Mimesis) का पर्याय है और हिन्दी मे यह अंग्रेजी शब्द 'इमिटेशन' (Imitation) से रूपान्तरित होकर आया है। आज अरस्तू का 'अनुकरण का सिद्धान्त' समालोचना के क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण नही रह गया है। यदि उसका प्रयोग होता भी है तो मात्र सुन्दर-असुन्दर कला में भेद वताने के लिए ही। पर उस समय इस सिद्धान्त का बहुत महत्व था। फिर भी, यह सिद्धान्त आरम्भ से ही विवादास्पद रहा है। अंग्रेजी के आलोचक **जार्ज सेन्ट्सबरी** के अनुसार, "यद्यपि यह सिद्धान्त विवादास्पद रहा हैं; फिर भी इसका महत्व कम

(ii) **मनोविश्लेषणात्मक समालोचना**—यह समीक्षा-पद्धति मनोविज्ञान से अनुशासित होती है। इसमे कवि की कृति को समझने के लिए कवि के अन्तर्जगत् और इसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना होता है। इस पद्धति का समालोचक कृति को उसके रचयिता के व्यक्तित्व का प्रकाशन मानता है। आलोचक यह मानता है कि साहित्य की मूल प्रेरणाएँ दमित वासना की अभिव्यक्ति, हीन-ग्रन्थियो से विमुक्ति, कुण्ठा, हताशा, निराशा आदि से पलायन तथा जीवनेच्छा का कारण है। वह यह भी मानता है कि इन सब के मूल मे काम भावना विद्यमान है, अत साहित्यकार की अन्तवृ त्तियो का प्रकाशन इस समालोचना का मूल लक्ष्य होता है। आजकल हिन्दी मे कुछ आलोचको, जैसे—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि की आलोचना मे मनोविश्लेषणात्मक पुट, स्पष्टत देखने को मिलती है।

(iii) **समाजशास्त्रीय अथवा प्रगतिवादी समालोचना**—इस समालोचना पद्धति का जन्म रूस के गोर्की द्वारा माना जाता है। इसका आधार समाजवादी यथार्थ है। इस पद्धति मे साहित्य को सामूहिक कर्म माना जाता है, जिसका उद्देश्य समाज की भौतिक कल्याण-भावना है। यह समालोचना साहित्य के सामाजिक महत्व तथा प्रभाव का मूल्यांकन, निर्धारण तथा व्याख्या करती है। इसकी दृष्टि एकांगी होती है, क्योकि इसमे व्यक्तिगत प्रतिभा-स्फुरण तथा आन्तरिक कलापक्ष की उपेक्षा करके केवल सामाजिक तत्वो की ही परीक्षा विवेचना की जाती है।

(iv) **ऐतिहासिक समालोचना**—युगीन परिस्थितियो के सदर्भ मे साहित्य तथा साहित्यांगो की आलोचना 'ऐतिहासिक आलोचना' कही जाती है। यह समालोचना साहित्य को जन्म देने वाली परिस्थितियो का विश्लेषण करती है और उसके परिप्रेक्ष्य मे आलोच्य कृति की व्याख्या करती है। इसमे कृति का महत्व उस युग-विशेष के सदर्भ मे देखा जाता है, जिसमे उसकी रचना हुई है। इससे कवि और उसकी कृति दोनो के प्रति पूर्ण न्याय होता है, क्योकि साहित्यिक मूल्य भी मानव-धारणाओ के अनुरूप ही परिवर्तित होते रहते है। हो सकता है, कोई कृति आज के लिए विशेष महत्वपूर्ण न हो' पर अपने समय के लिए उसका विशेष महत्व रहा होगा, जिस समय वह रची गयी, उस समय उसका मूल्य था, इसे परखना ऐतिहासिक समालोचना का ध्येय होता है।

मानकर व्याख्या-विश्लेषण ही माना है। उनका विचार है कि यदि समालोचक निर्णय देता है तो वह अपने कर्म मे च्युत हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "रत्न की खोज या परख करने वाला रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नही हो सकता। इसी अर्थ मे बडे-से-बडा आलोचक भी कवि को बनाने-बिगाडने का गर्व नही कर सकता।"

निष्कर्ष—साराशत समालोचना की अनेक पद्धतिया हैं। इनके अतिरिक्त भी और अनेक हैं, यथा—अनुसधानात्मक आलोचना, अनुमानात्मक आलोचना, विश्लेपणात्मक समालोचना आदि, पर इन सब का समाहार इन्ही समीक्षा-पद्धतियो मे हो जाता है।

प्रश्न ५४—"वादो की अनुवर्तिनी बनकर समीक्षा काव्य या साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकती।" इस सम्बन्ध में पश्चिमी विचारकों का मत स्पष्ट कीजिए।

प्रसिद्ध विद्वान् विन्सले ने एक स्थान पर लिखा है—

"To be a critic of literature is to Possess a wide vision, balanced mind, and inexhaustible insight into the deepest secrets of human mind It needs to be sympathetic and yet alert to watch the wisdom unfaultering"

समीक्षक के गुणो की व्याख्या करते हुए विंसले लिखते हैं कि समीक्षन म विस्तारपूर्ण दृष्टि, सन्तुलित-मस्तिष्क, मानव-मन का सूक्ष्म ज्ञान, सहानुभूति एव जागरूक तटस्थता आवश्यक है।

इसी प्रकार मैथ्यू आर्नोल्ड भी समीक्षा मे तटस्थता के गुण पर विशेप बल देते हुए लिखते हैं—

"But the criticism, real criticism, is essentially the exercise of this quality (curiosity and disinteresed love of a free play of mind)"

यह बात सवथा सत्य है, क्योंकि आलोचक का कार्य कृति मे निहित सत्य का उद्घाटन करना मात्र है। उसका काय यदि पूर्वाग्रहो से युक्त होगा तो वह साहित्य के साथ न्याय नही कर पाएगा। तटस्थ दृष्टिकोण अपनाकर रचना मे जैसा भी कुछ है, उसका स्पष्टतापूवक विश्लेपण कर देना ही समीक्षक का काय है। समालोचक किसी भी वस्तु अथवा कृति को जैसा भी अनुभव करता

(१) समीक्षक अपो परिचितो तथा आत्मीयो की रचनाओ मे गुण ही गुण खोजेगा और उन्हे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करेगा। फल यह होगा कि निकृष्ट रचनाएँ भी समाज मे प्रचलित होगी और उनसे जनरुचि विकृत होगी।

(२) दूसरी ओर समीक्षक को, जिनमे ईर्ष्या होगी उनकी रचनाएँ चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्यो न हो उनकी आलोचना करके दोषो ही दोषो का परिगणन करेगा और इस प्रकार समाज अच्छी कृतियो के पारायण द्वारा प्राप्त लाभ से वचित रह जाएगा। इस प्रकार समाज मे प्रशसात्मक तथा निन्दात्मक अभिव्यक्तियो का जन्म होगा और परिणामत समाज का दृष्टिकोण विकृत होगा, मान्यताओ का रूप बदलेगा, अनेक हानिकारक परम्पराओ का जन्म होगा और समीक्षा तथा साहित्य—दोनो के क्षेत्र मे पक्षपात होने से भाई-भतीजावाद बढेगा।

इसलिए आवश्यक है कि समीक्षा निष्पक्ष और तटस्थ हो, क्योकि, यदि वह वादो की अनुवर्तिनी है तो काव्य या साहित्य के साथ न्याय नही कर पाएगी। न्याय तो तभी होगा जब वह निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाए। कृति के पीछे समीक्षक का स्वस्थ दृष्टिकोण ही उसके वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन कर सकेगा। यदि आलोच्यकृति अच्छी है तो उसे अच्छी और निकृष्ट होने पर उसे निकृष्ट ही कहना चाहिए। कोई भी कृति न्याय की तुला पर निष्पक्ष रूप से तोली जानी चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना इस दृष्टि से स्वस्थ नही कही जा सकती, क्योकि, उन्होने प्रत्येक कृति को लोकमगल की दृष्टि से देखा है और इसीलिए सूर तथा जायसी की कृतियो का कलात्मक दृष्टि से उच्च पाते हुए भी उन्होने समाज के लिए लाभप्रद नही माना और उनकी वर्जना की। इसकी अपेक्षा उन्होने तुलसी के काव्य की भूरि-भूरि प्रशसा की है। इसी तरह प्लेटो ने होमर की निन्दा की है, क्योकि, उसके काव्य के विचारो से उनके विचार मेल नही खाते थे। उसकी रुचि व प्रवृत्ति आदर्श-परक थी और इसी दृष्टि से उसने होमर की रचनाओ की समीक्षा की। आनन्दवादी दृष्टि पाने के कारण ही प्लेटो ने उसके काव्य की पर्याप्त निन्दा की, यहा तक कि पाठको से उसे न पढने का भी अनुरोध किया।

किन्तु ये दृष्टिकोण स्वस्थ नही कहे जा सकते। चाहे सूर का साहित्य हो या होमर का साहित्य दोनो की अपनी-अपनी जगह पूर्ण उपादेयता है—समाज-सापेक्ष न होने के कारण उनका बहिष्कार कदापि नही किया जा

इसके स्वरूप को समझने के लिए कुछ पाश्चात्य विचारकों की परिभाषा को उद्धृत करना आवश्यक है।

आधुनिक निबन्ध के जन्मदाता माइकेल दि मान्तेन थे, जो १६वीं शताब्दी में फ्रांस में हुए थे। उन्होंने निबन्ध को, "विचारों, उद्धरणों तथा कथाओं का मिश्रण" बताया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वह लिखते हैं, "यह मेरी भावनाएँ हैं, इनके द्वारा मैं किसी सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।"

मान्तेन के इन विचारों से निबन्ध का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, इसलिए अन्य विद्वानों की परिभाषाओं पर भी विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि, बाद में निबन्ध के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर आया है।

डा० सैम्यूल जॉनसन के अनुसार निबन्ध मन की उच्छृंखल तरंग है जो नियमित कथा तथा कृतिमात्र होती है। इसमें न कोई क्रम होता है और न नियमबद्धता। इस प्रकार निबन्ध उच्छृंखल भावनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति है

"A loose sally of the mind and irregular indigested piece of literature not a regular orderly performance"

ओसबर्न्स के अनुसार, निबन्ध किसी सामयिक विषय पर हलके औपचारिक लेख को कहते हैं

"Essay is light gosspiy article on a topical subject"

इन विद्वानों ने निबन्ध को हलके रूप में देखा है। पर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो निबन्ध को गम्भीर विचाराभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। प्रिस्टले के अनुसार, निबन्ध किसी मौलिक व्यक्तित्व की निश्छल आत्माभिव्यक्ति को कहते हैं—"Essay is a genuine expression of an original personality, an artful and ending kind of talk"

बेकन के अनुसार निबन्ध केन्द्रीयभूत ज्ञान के कतिपय पृष्ठ हैं, जिसमें विचारों की सहज अभिव्यक्ति होती है।

सैंत ब्यव के अनुसार निबन्ध साहित्याभिव्यक्ति का अत्यन्त कठिन परन्तु प्रमोदपूर्ण अंग है, क्योंकि, इसमें लेखक की गम्भीरता और उसकी गागर में सागर भरने की शक्ति का संकेत मिलता है।

वाह्य दोनो ही प्रकार की होती है। आतरिक कलात्मक स्पर्श से उसमे शृखलाबद्धता उत्पन्न होती है और आत्माभिव्यक्ति को अवसर मिलता है।

(५) निबन्ध मे लेखक को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलता है और उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही निबन्ध को एकसूत्रता प्रदान करता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि लेखक के विचारो की अभिव्यक्ति का माध्यम सुन्दर व रोचक हो।

(६) कविता की तरह निबन्ध मे भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय की प्रधानता होती है और इसी से वह हृदय को प्रभावित करती है। इसके साथ ही, लेखक अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए मूर्त-विधान का आश्रय लेता है। परन्तु इसे नितान्त विचारहीन भी नही कहा जा सकता। इस पर चिन्तन तथा मनन का विशेष प्रभाव होता है।

(७) और अन्त मे, निबन्ध मे शैली का भी विशेष महत्त्व है। शैली जितनी अधिक रोचक तथा आकर्षक होगी, निबन्ध उतना ही अधिक सौंदर्यमय होगा। निबन्ध का वाह्य सौंदर्य शैली की चारुता से ही बढता है।

व्यक्तित्वपूर्ण निबन्ध—प्रस्तुत परिभाषाओ से यह स्पष्ट होता है कि निबन्ध मे व्यक्तित्व की भी प्रधानता होती है और विषय की भी। व्यक्तित्व की प्रधानता वाले निबन्धो को वैयक्तिक (Personal) निबन्ध कहते है। वैयक्तिक निबन्धो मे लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट आभासित होता है। इसलिए हेनरी हडसन ने निबन्धो की प्रमुख विशेपता व्यक्तित्व का प्रकाशन भी मानी है—

"The true is essentially personal"

अर्थात् "सच्चा निबन्ध वही है, जिसमे निश्चित रूप से व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो।"

निबन्ध विधा के जनक माइकेल दि मौन्तेन भी "It is myself I portary' लिखकर इसी का समर्थन किया है। निबन्धकार को अपनी दुर्बलताएँ तथा कमजोरियाँ आदि भी स्वीकारनी पडती है। डब्लू० एल० फैल्पस ने भी निबन्धो के वैयक्तिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"It an intimate confessional style of composition where the writer takes the reader into confidence and talks as if to an one listener, talks to about things often essentially trivial

चलता है। वैयक्तिक निबन्ध मे लेखक तर्क की अपेक्षा भावुकता का अधिक आश्रय लेता है।

वैयक्तिक निबन्धो के इस स्वरूप का विवेचन करने पर हमे उसमे निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई देती है—

(१) वैयक्तिक निबन्धो मे लेखक के दृष्टिकोण की प्रधानता होती है और निबन्धकार अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन पर, अपनी मान्यताओ के निदर्शन की ओर विशेष ध्यान देता है। निबन्ध उसकी भावनाओ से अनुशासित होता है।

(२) यद्यपि निबन्धकार इसमे यदा-कदा तर्क का भी आश्रय लेता है, तदपि प्राय अपनी भावनाओ की अभिव्यक्ति भावात्मक आधार पर ही प्रस्तुत करता है।

(३) इसमे खण्डन-मण्डन की अपेक्षा अपनी ही बात कही जाती है।

(४) यद्यपि इसमे विषय का भी ध्यान रखा जाता है तथापि निबन्धकार स्वच्छन्दतापूर्वक अपने विषय तथा लक्ष्य की ओर बढता है।

यही कारण है कि वैयक्तिक निबन्धो की भाषा काव्यात्मक होती है। मन की भाव-लहरियाँ तरगित होकर इसमे बहती हैं।

हिन्दी मे यो तो अनेक वैयक्तिक निबन्ध लेखक हैं, परन्तु किसी भी लेखक को हम नही कह सकते कि वह पूर्णत वैयक्तिक निबन्ध-लेखक है, क्योकि उसने अन्य प्रकार के निबन्ध भी लिखे हैं। यत्र-तत्र वैयक्तिकता के स्वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि-भाग—१' के निबन्धो मे दिखाई पडते है। बाबू गुलाबराय के 'अध्ययन और आस्वाद', 'मेरी असफलताएँ' के भी प्राय सभी निबन्ध वैयक्तिक स्तर के निबन्ध हैं। अनेक निबन्ध तो पूरी तरह से उनके व्यक्तित्व का ही प्रकाशन है, वह अपने विषय मे ही लिखते है। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० विद्यानिवास मिश्र कुबेरनाथराय, वियोगीहरि आदि के निबन्धो मे वैयक्तिक निबन्धो की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

अति आधुनिक युग मे तो अनेक लेखक वैयक्तिक निबन्धकार हैं। वैयक्तिक निबन्धो के माध्यम से विचार की अभिव्यक्ति भी सहज है और निबन्धो के साथ-साथ उपन्यासो मे भी यह वैयक्तिकता ग्राह्य हो रही है। अमृतलाल नागर का उपन्यास 'अमृत और विष' उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

निबन्ध के अग—निबन्ध के तीन अग होते हैं—(१) प्रस्तावना, (२) उप-

के अग कहने है—(क) प्रस्तावना, (ख) विषय-प्रतिपादन अथवा उपपत्ति और (ग) उपसहार ।

इन तीनो मे आकार की दृष्टि से उपसहार तथा प्रस्तावना सबसे छोट होते हैं और तुलनात्मक दृष्टि से उपपत्ति का आकार बडा होता है। इन तीनो तत्त्वो से निबन्ध का स्वरूप सजता-सँवरता है ।

अग्रेजी मे कहावत है, "Well begun, half done" अर्थात् यदि आरम्भ अथवा प्रस्तावना सही बन गई तो मानो आधा निबन्ध लिखा जा चुका, इसलिए प्रस्तावना का आकर्षक तथा सजीव होना आवश्यक है ।

उपपत्ति का भी शृखलाबद्ध तथा सुगठित होना आवश्यक है। विचारो का क्रम इस प्रकार दिया जाए कि वह असम्बद्ध न हो, सभी एकसूत्रबद्ध ज्ञात हो। अन्यथा निबन्ध उखडा-उखडा सा ज्ञात होगा।

उपसहार का भी सजीव होना आवश्यक है। उपसहार ठीक प्रकार से हो, तभी निबन्धकार का निबन्ध पाठकों को सन्तोष प्रदान करता है। इसके-लिए निबन्ध का उपसहार सरल तथा सुगठित होना चाहिए। किसी लोकोक्ति अथवा सूक्ति को देकर भी निबन्ध का उपसहार किया जाता है।

(२) व्यक्तित्व के आधार पर तत्त्वो का विवेचन—व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकाशन होने के कारण निबन्ध के मूलत तीन तत्त्व होते हैं—(क) भाव तत्त्व (ख) बुद्धि-तत्त्व, और (ग) सौन्दर्य तत्त्व ।

भाव-तत्त्व—यह निबन्ध का सर्वप्रथम तत्त्व है। जब तक निबन्ध मे भावनाएँ ही उत्पन्न न होंगी, उसे लिखने की प्रेरणा ही न मिलेगी, वह लिखेगा क्या ? अत भावो का आवेग निबन्ध-रचना का प्रथम तत्त्व है। यह तत्त्व अनेक गुणो से अभिप्रेरित होता है । निबन्धकार भावों को आदर्श से प्रेरित रखता है। उसके भाव आदर्श प्रेरित, आदर्श व्यक्तियो, आदर्श सिद्धान्तो और आदर्श परिस्थितियो से विवेचित होते हैं। साथ ही, वह भावो को उद्बुद्ध करने की प्रेरणा भी अनेक उपायो से प्राप्त करता है। प्रकृति मानव और वातावरण—तीनो ही उसके भावों को उद्बुद्ध करते हैं।

बुद्धि-तत्त्व—प्रकृति आदि के सदर्भ से उत्पन्न विचार तब तक अभिव्यक्ति के लिये तैयार नही होते, जब तक उनका बुद्धि द्वारा अनुशीलन न हो जाए, अर्थात् रागात्मक तत्त्व की बुद्धि-तत्त्व द्वारा परिपुष्टि होती है। निबन्ध लिखने से

(१) विवरणात्मक निबंध (Narrative Essay)
(२) वर्णनात्मक निबंध (Descriptive Essays)
(३) विचारात्मक निबंध (Reflectional Essays)
(४) भावात्मक निबन्ध (Emotional Essays)

(१) विवरणात्मक निबन्ध—विवरणात्मक निबन्ध वे निबन्ध कहलाते हैं, जिनमें किसी कहानी या घटना का ब्यौरा दिया जाता है। इस प्रकार के निबंधों में कथा का अंश किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता है, जिसके कारण उनमें सरसता और रोचकता बनी रहती है। इस प्रकार के निबन्धों में युद्ध, यात्राओं आदि का विवरण रहता है। इस प्रकार के निबंध लिखना अपेक्षाकृत सरल होता है। इस प्रकार के निबंधों की शैली व्यास-शैली होती है।

(२) वर्णनात्मक निबंध—वर्णनात्मक निबंधों में प्राकृतिक दृश्यों अथवा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों, मेलों इत्यादि का विशद् वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के निबंधों में घटनाओं पर उतना बल नहीं होता, जितना कि किसी भी दृश्य या परिस्थिति के वर्णन पर होता है। वैसे घटनाओं के वर्णन में भी कुछ-न-कुछ दृश्यों का वर्णन तो हो ही जाता है। विवरणात्मक और वर्णनात्मक निबंधों के मध्य बहुत सुनिर्धारित और सुस्पष्ट भेद कर पाना कठिन है, फिर घटना प्रधान निबंध को विवरणात्मक और वर्णन प्रधान निबंध को वर्णनात्मक निबंध कहा जाता है। प्राय विवरणात्मक निबंधों में घटना भूतकाल में घटित रूप में वर्णित की जाती है। अत वर्णनात्मक निबंधों का वर्णन वर्तमान काल-सा होता है, किन्तु यह वर्गीकरण निर्णयात्मक नहीं है, क्योंकि विवरणात्मक निबंधों में भी वर्तमान काल की घटनाओं का वर्णन किया जा सकता है। अधिकतर इस प्रकार के निबंधों में भी व्यास-शैली का ही प्रयोग किया जाता है।

(३) विचारात्मक निबंध—विचारात्मक निबंधों में किसी साहित्यिक या नैतिक सिद्धान्त अथवा किसी राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक समस्या पर अपने तथा अन्य विचारकों के विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार के निबंधों के अन्तर्गत किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया जाता है। निबंधकार तटस्थ भाव से उस विषय के अनुकूल और प्रतिकूल पक्षों का प्रतिपादन करता है। यदि उसका कोई एकपक्षीय मन्तव्य भी होता है तो भी वह विरोधी पक्ष का धैर्यपूर्वक प्रतिपदान करता है और फिर

(क) (१) सांस्कृतिक, (२) विचारात्मक, (३) व्याख्यात्मक, (४) तार्किक और (५) भावात्मक।

(ख) (१) आत्म-कथात्मक, (२) विचारात्मक, (३) नाटकीय।

(ग) (१) स्वप्न कथा रूप में, (२) आत्मचरित, (३) कहानी शैली में।

अभिव्यक्ति-कौशल की दृष्टि से—(१) वर्णनात्मक शैली, (१) व्यंग्यात्मक शैली, (३) चित्रात्मक शैली, (४) भाषण-शैली, (५) आलंकारिक शैली, (६) मुहावरा शैली, (७) उद्धरण शैली, (८) काव्यात्मक शैली (८) शब्द-क्रीडा शैली, (१०) खंडन शैली, और (११) मण्डन शैली।

भाषा-शैली के विचार से—(१) प्रांजल शैली, (२) आलंकारिक शैली, (३) प्रदर्शन शैली (४) प्रवाह शैली और (५) संवाद शैली।

चिन्तनात्मक निबन्ध—(१) विचारात्मक, (२) भावात्मक और (३) उभयात्मक।

विषय-वस्तु की दृष्टि से—(१) ऐतिहासिक (२) गवेषणात्मक (३) चारित्रिक (४) धार्मिक, (५) सामाजिक, (६) राजनीतिक (७) यात्रा-सम्बन्धी (८) प्रकृति-सम्बन्धी, (६) व्यंग्य-हास्य प्रधान, (१०) आत्मकथा के रूप में।

(१) यथातथ्य निरूपण, (२) सूचनात्मक, (३) शिक्षात्मक (४) कल्पनात्मक और (५) वर्णनात्मक।

आधुनिक युग में न वर्ण का महत्व है और न शैली का। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ विषय और शैलियाँ—सभी वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। अतः विचार तथा अभिव्यक्ति भेद से निबन्धों के अनेक रूप हो सकते हैं। विचार अनेक रूप धारण करते हैं पर मूलतः होते एक ही हैं। निष्कर्षतः निबन्ध के वर्गीकरण के मूल आधार ये ही हैं।

प्रश्न ५८—उपन्यास के शिल्प-विधान पर आलोचनात्मक लेख लिखिए।

अथवा

उपन्यास की परिभाषा करते हुए ऐतिहासिक उपन्यास और आंचलिक उपन्यास का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

"उपन्यास जनसाधारण के जीवन का महाकाव्य है।" इस कथन के आधार पर उपन्यास के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

अर्नेस्ट ई० बेकर के अनुसार, "उपन्यास को हम गद्यमय कल्पित आख्यान के माध्यम से की गयी जीवन की व्याख्या कह सकते हैं।"

आर० बर्टर के अनुसार, "उपन्यास गद्य मे रचित कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है, जिसकी रचना लेखक समाज के उत्थान-पतन की भावना से अनुप्राणित होकर करता है। इसके लिए वह प्रेमतत्त्व को प्रधानतया ग्रहण करता है, क्योकि, अपने सामाजिक सम्बन्धो मे मानव परस्पर इसी से बँधे हुए हैं।

वेबस्टर महोदय ने उपन्यास की परिभाषा इन शब्दो मे निबद्ध की है—"उपन्यास एक ऐसा कल्पित विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है, जिसमे एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रो और उनके क्रियाकलापो का चित्रण रहता है।"

एडिथ व्हार्टन ने उपन्यास की परिभाषा करते हुए लिखा है—"उपन्यास एक ऐसा कल्पित आख्यान है जिसमे सुन्दर कथानक और भली प्रकार चित्रित पात्र होते हैं।"

उपन्यास की इन परिभाषाओ के अतिरिक्त भारतीय विद्वानो ने भी उपन्यास की परिभाषाएँ दी हैं। डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार, "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार, "मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके मूलरहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।"

उपन्यास का स्वरूप—उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव-जीवन का कल्पनापरक यथार्थ चित्रण है। यद्यपि यह मनुष्येतर पदार्थों का भी वर्णन करता है, किन्तु यह वर्णन भी मनुष्य से सम्बद्ध ही होता है। इसीलिए इसे मानव-जीवन का महाकाव्य कहते हैं। उपन्यास मानव-जीवन से सम्बद्ध होता है। यह यथार्थ रूप मे, घटनाओ को वास्तविक रूप में ग्रहण न करके उनको कल्पना की सहायता से नवीन रूप प्रदान करता है, परन्तु यह कल्पनापरक रूप भी होता वास्तविक ही है—ऐसी वास्तविकता जो यथार्थ तथा स्वाभाविक लगे। उपन्यासकार का कर्म बडा उत्तरदायित्वपूर्ण होता है, प्रकारान्तर से वह समाज को नवीन दिशा-बोध कराने वाला होता है, अत उसके लिए आवश्यक है कि वह तटस्थ दृष्टिकोण अपनाए और समस्त वादो तथा मतभेदो से दूर रहकर अपने निष्पक्ष

होता है कि अरस्तू और उससे पहले प्लेटो को कला के सम्बन्ध में अनुकरण सिद्धान्त के प्रति इतना आग्रह क्यों था तो हमे इस तथ्य से सहायता मिल सकती है कि जनसाधारण भाषा में कला के लिए 'रचना या करण' शब्द का प्रयोग होता था, जबकि स्पष्टतः यह प्रकृत अर्थ में रचना नही थी।" इसे स्पष्ट करते हुए **प्रो० मरे** लिखते है कि कवि शब्द के यूनानी पर्याय मे ही अनुकरण की धारणा निहित थी, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नही था।

आधुनिक टीकाकार पॉट्स ने अनुकरण का अर्थ ऐसे प्रभाव के उत्पादन से लिया है जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। जेम्स स्कॉट इसे जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय मानते है। एटकिंस के मत से अनुकरण '**सृजनात्मक दर्शन की क्रिया**' अथवा '**प्रायः पुनः सृजन**' का ही दूसरा नाम है।

अरस्तू द्वारा अनुकरण की व्याख्या—इन सब टीकाकारों की व्याख्याएँ भी अपने आप मे कम महत्त्वपूर्ण नही है, किन्तु साथ ही अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द की जो व्याख्या है, वह भी अधिक उपादेय है। अरस्तू ने काव्यकला को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखा और उसे दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीतिशास्त्र के वन्धन से मुक्त किया। अरस्तू **कला को प्रकृति की अनुकृति** मानते है। उनके ही शब्दो मे—"Art imitates nature."

प्रकृति से अरस्तू का अभिप्राय, पी० एस० शास्त्री के अनुसार, जगत् के, वाह्य, स्थूल और गोचररूप तथा साथ-साथ आन्तरिक रूप (क्रोध, काम कल्पना आदि) से था—

"His nature is not the visible physical universe, but the creative principle operating in it."

दूसरे, अरस्तू हूबहू नकल को भी अनुकरण नही मानते। उनके अनुसार, अनुकृति की प्रक्रिया मे प्रकृति के अनेक दोष व अभाव भी कला द्वारा पूरे किए जाते है—

"Generally, art partly completes what nature cannot bring to a finish and partly imitates her."

एवरक्रोम्बे अरस्तू के तर्क की व्याख्या करते हुए लिखते है, "अरस्तू का कहना था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती; तो वह हमे उससे

विपय-वस्तु किस प्रकार की है या किस विपय से सम्बंधित है। इस दृष्टि से प्रधानत नीचे लिखे वर्ग किए जा सकते हैं

(१) ऐतिहासिक उपन्यास (Historical)—ऐतिहासिक उपन्यासो की कथावस्तु इतिहास से ली जाती है। इनमे कल्पना का अश भी रहता है, परन्तु ऐतिहासिक वस्तु के सामजस्य मे ही। डा० वृन्दावनलाल वर्मा के 'माधवजी सिंधिया','महारानी दुर्गावती' और झांसी की रानी, आदि उपन्यास इसी वर्ग मे आते हैं।

(२) सास्कृतिक उपन्यास (Cultural)—सास्कृतिक उपन्यासो मे विपय-वस्तु की पृष्ठभूमि तो इतिहास की ही होती है, परन्तु उसमे ऐतिहासिकता के स्थान पर तत्कालीन सस्कृति का चित्रण ही प्रधान रहता है। इस दृष्टि से उसकी विपय-वस्तु का अधिकाश भाग कल्पित भी हो सकता है, परन्तु उस काल के सास्कृतिक गौरव की झांकी प्रस्तुत करना ही उसका मुख्य लक्ष्य रहता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगर वधू' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ सास्कृतिक उपन्यास कहा जा सकता है।

(३) सामाजिक उपन्यास (Social)—सामाजिक उपन्यासो का उद्देश्य समाज और उसकी समस्याओ का चित्रण रहता है। इनकी विपय-वस्तु का सम्बन्ध समाज के जन-जीवन से होता है। समाज मे व्याप्त परम्पराएँ, प्रथाएँ, रीतियाँ और सामान्य जन-जीवन ही इसका प्रमुख विपय होता है। जयशकर 'प्रसाद' और मुशी प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

(४) मनोरजनप्रधान उपन्यास—मनोरजनात्मक उपन्यास हिंदी के प्रारम्भिक उपन्यास-रचना-काल मे लिखे गए। तिलिस्म-ऐय्यारी के उपन्यास, जासूसी उपन्यास और प्रारम्भिक प्रेमाख्यान उपन्यास इसी वर्ग मे आएँगे। इनकी कथावस्तु नितान्त काल्पनिक और कौतूहल-प्रधान रहती है। बाबू देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी आदि के उपन्यास इसी वर्ग मे आयेंगे।

(५) प्राकृतवादी उपन्यास—प्राकृतवादी उपन्यासो की विपय-वस्तु का सम्बन्ध मनुष्य के प्रकृत व्यापारो—उनके अतिवास्तविक स्वरूप तथा वस्तु-परक स्थितियो से है। ये उपन्यास अतियथार्थ की भूमि पर आधारित रहते

विषय-वस्तु वाले उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास कहे जाएँगे। यों कभी कभी ऐतिहासिक उपन्यासो मे चरित्र की प्रधानता भी देखी जाती है।

(२) चरित्र-प्रधान उपन्यास—चरित्र-प्रधान उपन्यासो मे चरित्र-चित्रण पर लेखक का ध्यान कथा की अपेक्षा अधिक रहता है। सामाजिक उपन्यासो मे प्राय चरित्र की ही प्रधानता रहती है। मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास भी इसी प्रकार के हैं।

वातावरण या उद्देश्य की प्रधानता को लेकर भी उपन्यास के तत्व सम्बन्धी भेद किए जा सकते हैं। इस प्रकार के भेदो का प्रयोजन उस विशेष तत्व की प्रधानता बताना ही है।

रचना-शैली की दृष्टि से वर्गीकरण—रचना-शैली की दृष्टि से उपन्यासो को प्राय निम्नलिखित वर्गो मे रखा जाता है

(१) **वर्णनात्मक शैली के उपन्यास**—इस प्रकार के उपन्यासो मे लेखक स्वय कथ्य का वर्णन करता है, जैसे मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास।

(२) **आत्म-कथा शैली के उपन्यास**—इनमे कोई पात्र स्वय अपनी कहानी कहता है या अधिक पात्र अपनी-अपनी कहानी कहते हैं। जैसे भगवती प्रसाद बाजपेयी का 'चलते-फिरते' उपन्यास।

(३) **डायरी शैली के उपन्यास**—इस प्रकार के माध्यम से कथा का अधिक पात्रो की डायरियो से कथा का विकास होता है।

(४) **पत्रात्मक शैली के उपन्यास**—इनमे पात्रो के उपन्यासो मे एक नया विकास होता है। चन्द हसीनो के खतूत इसी प्रकार का उपन्यास है।

शैली की दृष्टि के सलाप-शैली जैसे कुछ और भी भेद बताए जाते हैं।

निष्कर्ष—उपन्यासो की उक्त परिभाषा और वर्गीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास एक अधुनातन साहित्य विधा है जो हिन्दी साहित्य के मानदडो मे निर्धारित रूपो को अभिव्यक्त करती है समग्रत उपन्यास आज के युग की यथार्थवादी सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। कारण, मानव-जीवन विविधतापरक है, इसलिए जीवन का यथार्थवादी चित्रण होने के कारण उपन्यास के भी अनेक भेद होते है। किन्तु वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक नही है कि एक उपन्यास मे एक ही रूप पाया जाए, एक ही उपन्यास अनेक प्रकारो को स्वय मे समाहित कर लेता है।

कार का लक्ष्य जीवनी की उन घटनाओं और क्रिया-कलापों का रजक वर्णन करना होता है, जो व्यक्ति विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी-से छोटी घरेलू बातों से सम्बन्धित होते हैं।" जीवनी से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन स यह स्पष्ट होता है कि जीवनी मे व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व और उसकी बारीकियो का ही उद्घाटन होता है, जबकि उपन्यास मे जिन व्यक्तियो का चित्रण होता है, वे विशिष्ट होते हुए भी विशिष्ट नही होते। उपन्यासो मे पात्र समाज के विभिन्न वर्गो का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे वग और उनके प्रतिनिधि विशिष्ट तो नही होते किन्तु एक दृष्टि से वे विशिष्ट भी होते हैं। उदाहरण के लिए मु शी प्रेमचन्द के उपन्यास का नायक होरी भारत के विपन्न और जर्जर कृषक वग का प्रतिनिधि है और उपन्यासकार ने उसको कल्पना का स्पर्श देकर अत्यन्त सजीव और यथार्थमय बना दिया है। यह ठीक है कि होरी एक कल्पित पात्र है किन्तु फिर भी उसे देखकर यह सहज ही विश्वास आ जाता है कि बहुत सम्भव है कि होरी नाम का कोई किसान रहा ही हो या किसी अन्य किसान को होरी का कल्पित नाम दे दिया गया हो। इस प्रकार 'होरी' भारत के कृषक वग का प्रतिनिधि है और इस दृष्टि से वह एक विशिष्ट व्यक्ति नही है किन्तु साथ ही 'होरी' को देखकर यह भी लगता है कि होरी नाम का कोई किसान अवश्य रहा होगा और इस दृष्टि से वह विशिष्ट भी है। अत स्पष्ट है कि व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व की बारीकियो के चित्रण की दृष्टि से उपन्यास और जीवनी प्राय एक-सी ही भूमिकाओं का ही निर्वाह करते है। मूल अतर केवल यही होता है कि जीवनी मे तथ्यात्मकता की प्रधानता होती है जबकि उपन्यास मे कल्पना का आश्रय भी लिया जाता है। उपन्यासकार अपनी अनुभूति और कल्पना के बल पर अपने पात्रो के चरित्रो का उद्घाटन करता है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "उपन्यासकार की महानता की एक कसौटी यह भी है कि वह अपनी कृतियो मे चरित्र की कितनी विविधता दे सका है, उसके चरित्र चित्रण की सीमाएँ क्या हैं, उनके पात्रों मे कितना विस्तार और कितनी गहराई है।" इसी प्रकार जीवनीकार भी अपने चरितनायक के चरित्र को पूरे वैविध्य और गहराई के साथ चित्रित करता है। दूसरा अन्तर यह भी है कि जीवनीकार केवल अपने चरितनायक के प्रति ही निष्ठावान होता है जबकि उपन्यासकार के समक्ष एक नही अनेक पात्र

अपितु इस बात मे है कि उसके साहित्य ने युग की साहित्यिक और सामाजिक आवश्यकताओ को किस सीमा तक पूरा किया है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्यिक आनन्द की दृष्टि से और साथ ही मनुष्य के आत्मविकास और समाज के उत्थान की दृष्टि से काव्य और उपन्यास म बहुत अधिक अन्तर नही है।

उपन्यास मे एक जीवन दर्शन उपलब्ध रहता है और विद्वानो न इस जीवन-दर्शन की परीक्षा के लिए दो कसौटियाँ निर्धारित की है—पहली तो यह कि वह किस सीमा तक सत्य के निकट है और दूसरी यह कि उसमे नैतिकता का समावेश कहाँ तक हो पाया है। इस प्रकार उपन्यास की परख मे दो आधार सामने आते है—सत्य और नीति। सत्य का आशय स्पष्टत यही है उसमे जीवन का चित्र कितना सच्चा है, अर्थात् उसमें जीवन का जो अश अथवा पक्ष चित्रित किया गया है, वह वास्तविक जीवन से कितना मेल खाता है। उसके पात्र, उसकी घटनाएँ जीवन के सच्चे धरातल का प्रतिनिधित्व करते ह। यद्यपि उपन्यासकार घटनाओ और पात्रो की योजना को कल्पना के सघष मे रोचक और आकर्षक रूप दे देता है फिर इस बात का बराबर ध्यान रखता है कि कल्पना का स्पश देकर भी वह जीवन के मूल सत्य से विचलित न हो। कदाचित् इसी कारण उपन्यासो के पात्र हमारे लिए जाने-पहचाने पात्र लगत ह और उपन्यासो मे अनुस्यूत घटना-चक्र भी हमारे लिए अनजाना और विचित्र नही प्रतीत होता। काव्य भी जीवन की अनुभूतियो को लेकर बनता है। और ये अनुभूतिया मानवीय भावनाओ के उस परम पावन धरातल की अनुभूतिया होती है जिसका रग न तो कभी बदला है और न कभी बदलेगा। जिस कवि की अनुभूतिया जितनी सच्ची और ईमानदार होगी, जिसने जीवन मे जितने गहरे जाकर जीवन को देखा होगा और समझा होगा, उसका काव्य भी उतना ही अधिक समर्थ होगा। काव्य मे उपन्यास की भाति ही जीवन और जीवन के विविध पक्षो का चित्रण होता है, अन्तर केवल यह होता है कि काव्य का भाव-सौदय सहज ही पकड मे नही आ पाता, जबकि उपन्यास मे यह भाव-सौदय क्रमबद्ध रूप मे विकसित होता चलता है। काव्य का आनन्द घनीभूत होता है, उपन्यास मे इस आनन्द का क्रमिक विकास होता है और अन्तत उसका प्रभाव सूत्रो को जोड देने से प्राप्त आनन्द सरीखा होता है।

साधारणत मौलिकता, रोचकता, घटनाओ का निर्माण-कौशल (वस्तु-विन्यास) और सम्बन्ध निर्वाह तथा सत्यता और स्वाभाविकता उपन्यास की कथावस्तु के गुण माने जाते हैं। मानव-जीवन की नानाविधि समस्याओ की व्याख्या और विश्लेपण, मानव-जीवन की विविध अवस्थाओ का चित्रण, अपने युग के समाज और जीवन की परिस्थितियो का प्रतिनिधित्व, जीवन-मूल्यों, आदर्शों और दृष्टिकोणों की व्याख्या और प्रतिष्ठा तथा चरित्र-विश्लेपण आदि बातें किसी उपन्यास की कथावस्तु की विशेपताएँ मानी जाती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास की कथावस्तु की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "कोई उपन्यास सफल है या नही इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहने वाले ने कहानी ठीक-ठीक सुनाई या नही—आवश्यक बातो को तूल तो नही दिया है, जहा कहानी मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहां वहां उसने उचित रीति मे सम्हाला है या नही, छोटी-छोटी बातो मे ही उलझकर तो नही रह गया, प्रसगवश आई हुई घटनाओ का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा जिससे पाठक का जी ही ऊब जाए और सौ बात की एक बात यह कि वह शुरू से अंत तक सुनने वाले की उत्सुकता जाग्रत रखने मे नाकामयाब तो नही रहा।

एक सफल उपन्यास मे निम्नलिखित विशेपताओ का होना आवश्यक माना जाता है—

१ मानव-जीवन की नाना-विधि समस्याओ की व्याख्या और विश्लेपण।
२ मानव-जीवन की विविध परिस्थितियो का प्रतिनिधित्व।
३ अपने युग के समाज और जीवन की परिस्थितियो का प्रतिनिधित्व।
४ जीवन-मूल्यो की व्याख्या और विश्लेपण।
५ मार्मिक प्रसगों की उद्भावना।

कथावस्तु का विकास उपन्यास मे किस रूप मे होता है, इस दृष्टि से कथा विकास की निम्नलिखित तीन पद्धतियां आलोचकों ने स्वीकार की हैं—

१ कथात्मक या वर्णनात्मक पद्धति।
२ सवादात्मक या नाटकीय पद्धति।
३ विश्लेपणात्मक पद्धति।
४ चमत्कारपूर्ण स्मृति विधान (फ्लैश बैक या पूर्व दीप्ति-पद्धति)।

(१) *विश्लेषणात्मक या वर्णनात्मक प्रणाली।*
(२) अभिनयात्मक, नाटकीय या संवाद-प्रणाली।
(३) मनोवैज्ञानिक पद्धति।
(४) पूर्ववृत्तात्मक पद्धति।

कथोपकथन अथवा संवाद—पात्रों का वार्त्तालाप कथोपकथन कहा जाता है। *उपन्यास में कथोपकथन का विशेष महत्त्व है।* साधारण जीवन में जिस प्रकार हमारे क्रिया-कलापों के साथ हमारा बोलना भी आवश्यक है, उसी प्रकार उपन्यास में पात्रों के क्रियाकलाप और उपन्यासकार द्वारा पात्रों के वर्णन के अतिरिक्त पात्रों का वार्त्तालाप भी आवश्यक है, क्योंकि, वार्त्तालाप द्वारा ही पात्रों में प्राण प्रतिष्ठा होती है।

उपन्यास में कथोपकथनों के चार उद्देश्य बताए जाते हैं—
(१) कथा-विकास में सहयोग देना या कथानक को विकसित करना।
(२) पात्रों के चरित्र चित्रण में सहायता सम्पादन करना।
(३) उपन्यासकार के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करना।
(४) वातावरण का सर्जन।

संवादों की सफलता के लिए *यह आवश्यक है* कि संवाद छोटे और चुस्त, व्यंजक और सार्थक, आकर्षक और चमत्कारपूर्ण, भावानुरूप, पात्रानुकूल और परिस्थिति के अनुरूप हों। साथ ही, उनमें लाक्षणिकता और हास्य-विनोद का समावेश भी अपेक्षित है।

देशकाल और वातावरण—जब उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र कहा जाता है, तो उसमें मानव का कोई एक चरित्र-पक्ष ही नहीं, उसका सम्पूर्ण जीवन ही आ जाता है। वास्तव में उपन्यास इसी व्यापक अर्थ में समाज और जन-जीवन की सम्पूर्णता का चित्र है। इस चित्र को स्वाभाविक, सजीव और पूर्ण बनाने के लिए चित्र की सारी रेखाओं, रंगों और साथ ही उसके उभार आदि को स्पष्ट रूप में चित्रित करना पड़ता है। समाज का बाह्य जीवन उसमें प्रचलित रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और कुरीतियाँ, रहन-सहन और ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि भी उपन्यास का विषय बन जाती हैं। प्रसंगों के अनुकूल वर्णनों की पूर्णता के लिए मानव-चरित्र के विश्लेषण और उसकी प्रवृत्तियों के उद्घाटन के लिए

(४) डायरी शैली—इस शैली के उपन्यासो मे कथा का विकास डायरी के रूप मे होता है। पत्रात्मक शैली की भाति डायरी शैली मे भी डायरी एक या अधिक पात्रो की हो सकती है।

(५) नाटकीय या सवाद शैली—कथानक मे रोचकता और स्वाभाविकता लाने के लिए इस शैली का प्रयोग किया जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्णनात्मक शैली का प्रयोग ही उपन्यास लेखको ने अधिक किया है। इसमे कथा की योजना, चरित्र-चित्रण तथा वातावरण-निर्माण मे विशेष सरलता रहती है और उपन्यास लेखक अधिक कथात्मकता से कथा कह सकता है।

उद्देश्य—प्रारम्भ मे उपन्यास को मनोरजन के साधन रूप मे ही ग्रहण किया जाता था। इसमे सन्देह नही कि उपन्यास उच्चकोटि का मनोरजन प्रदान करता है तो भी, कोई श्रेष्ठ लेखक केवल मनोरजन के लक्ष्य को लेकर ही उपन्यास की रचना नही करता। उसका एक निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य रहता है।

उपन्यास का लक्ष्य मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना है—यह सर्वमान्य है। मुन्शी प्रेमचन्द ने इस तथ्य को इसी रूप मे स्वीकार किया था—"मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्व है।" इस सम्बन्ध मे डा० श्यामसुन्दरदास ने अधिक स्पष्टता से विचार किया है। उनके विचारानुसार, उपन्यासो मे मुख्यत यही दिखलाया जाता है कि पुरुषो और स्त्रियो के विचार, भाव और सम्बन्ध कैसे है, वे किन-किन कारणो अथवा प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर कैसे-कैसे कार्य करते हैं, अपने प्रयत्नो मे व किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं और इन सबके फलस्वरूप उनमे कैसे-कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं। उपन्यास-लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अगो के साथ बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिए किसी-न-किसी रूप से यह प्रकट करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारो का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पडा है। कुछ विशेष सिद्धान्तो अथवा विचारो के प्रतिपादन के उद्देश्य से तो बहुत ही कम उपन्यास लिखे जाते हैं। पर अभी

"One must write about simple things how Peter Seminovitch married Maria Rome"

आर० एल० स्टीवेंसन ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार से की है—

"The short story is not a trancript of life but a simplification of some side of life it presents a single episode treated dramatically and producing on the reader an effect of totality, a unified impression of one situation or experience or event"

एडगर एलन पो ने कहानी की परिभाषा और भी सयत तथा सुगठित रूप मे दी है—

"A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression on the reader excluding all that dose not forward that impression complete and final in itself'

पो के अनुसार कहानी अत्यन्त सक्षिप्त आकार का वह आख्यान है जो इसलिए लिखा जाता है कि एक ही बैठक में पढ़ा जा सके तथा पाठकों पर अपना भावपूर्ण प्रभाव डाल सके। इसमे प्रभावोत्पादकता हो तथा स्वत पूर्ण हो।

इन परिभाषाओं की विविधता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहानी को किसी एक निश्चित स्वरूप मे नहीं बाँधा जा सकता। ऊपरी तौर पर उसकी सवेदना के दृष्टिकोण से उसकी परिभाषा की जा सकती है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का ऐसा सवेदनात्मक चित्रण है जिसे अनुभूत तो किया जा सकता है, किन्तु शब्दों मे नहीं बाँधा जा सकता।

भारतीय विद्वानों की कहानी-विषयक परिभाषाएँ—भारतीय हिन्दी आचार्यों ने भी कहानी के स्वरूप पर अपने ढग मे विचार किया है—यद्यपि प्रेरणा उन्होंने भी पाश्चात्य विद्वानों से ही ली है, फिर भी, उनकी परिभाषाएँ देशकाल के अनुसार निश्चय ही कुछ परिवर्तन लिए हुए हैं। मु शी प्रेमचन्द के अनुसार, "कहानी एक ऐसी रचना है, जिसमे जीवन के किसी एक अग या

उत्पन्न होती है कहानी में प्रवेग और प्रवाह जितना अधिक होगा, वह उतनी ही उत्तम होगी।

(४) सत्य का आधार—कहानी कपोल-कल्पना-मात्र न होकर जीवन के किसी व्यापक सत्य से प्रेरित होनी चाहिए। सत्यता के कारण ही कहानी मे प्राणवत्ता आती है और वह पाठक को प्रभावित करती है, अन्यथा उसकी कोई भी उपादेयता नही होती।

(५) मनोवैज्ञानिकता—मनोवैज्ञानिकता कहानी की एक प्रमुख विशेषता है। इसी से चरित्र और कथानक प्रभावशाली होता है और उसमे स्वाभाविकता आती है। मनोविज्ञान के कारण कहानी का स्वरूप अधिक उपादेय हो जाता है और वह पाठको पर अपना प्रभाव डालती है।

(६) सक्रियता—कहानी मे कही ठहराव न होकर सर्वत्र गति होनी चाहिए। इससे कहानी को सक्रियता प्राप्त होती है और इसके लिए कथाकार कभी तो घात-प्रतिघात से और कभी भावपूर्ण सक्षिप्त सवादो से कहानी को गति देता है।

वस्तुत कहानी एक लघु तथा तीव्रतम भावो से पूर्ण ऐसी विधा है, जिसका उद्देश्य पाठको के मन को झकझोरना है। इसलिए इसमे विषयान्तर के लिए कोई स्थान नही। कहानी के लिए आजकल यह भी आवश्यक नही कि उसमे घटना को स्थान दिया जाए। आज अनेक ऐसी कहानियाँ भी प्रकाश मे आ रही हैं जिनमे घटनाओ की अपेक्षा परिस्थितियो का चित्रण अधिक होता है। घटना अत्यन्त अमूर्त या सूक्ष्म होती है। इसकी सफलता की कसौटी यही है कि इसमे कही भी विशृंखलता न आने पाए।

कहानी का कथानक आरम्भ से ही तीव्र सघर्ष से पूर्ण होता है। चरमसीमा पर उसका अन्त हो जाता है। उपन्यास की तरह इसमे अत्यधिक विस्तार की आवश्यकता नही रहती। तीव्र द्वन्द्व की स्थिति ही विकसित होकर कहानी को चरमसीमा की ओर अग्रसर करती है। तभी तो इस प्रकार इसमे जीवन की अत्यन्त प्रभावकारी झलक दिखाई देती है। कहा गया है कि कहानी सतर्कता से नियोजित एक कलात्मक उपलब्धि है। इसका निश्चित लक्ष्य जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को अभिव्यक्त करना होता है।

निष्कर्ष—सक्षेप मे कहा जा सकता है कि कहानी सीमाबद्ध नही हो सकती। उसका मुख्य लक्षण लघु आकार एव प्रभावात्मकता है। ३१

वस्तु का समुचित विन्यास कहानीकार का लक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से कहानियों में तीन प्रकार का कथा-विकास देखा जाता है

(१) कथावस्तु का पूरा विकास, जिसमें कथा का प्रारम्भ, उसका उत्कर्ष और अन्त तीनों का विन्यास होता है। कथा सरल गति से आगे बढ़ती है और क्रमशः विकसित होती है। जयशंकर प्रसाद की 'आँधी' कहानी इसका उत्तम उदाहरण है।

(२) कथा-विकास के दूसरे रूप में प्रारम्भ, उत्कर्ष और अन्त का पूरा विकास न होकर प्रारम्भ से अन्त की ओर एकदम कहानी बढ़ती है।

(३) कथा-विकास का तीसरा रूप वह है, जिसमें कथा के विकास का पर्यवसान चरमसीमा पर ही पहुँचकर, अर्थात् अन्त में ही होता है। यह कथा विकास की चामत्कारिक प्रणाली कही जा सकती है।

समष्टि प्रभाव या प्रभावान्विति—कथानक का लक्ष्य यह होना चाहिए कि कथावस्तु प्रारम्भ से विकसित होकर अन्त में एक समष्टि प्रभाव की सृष्टि करे। सारी घटनाएँ सिमिटकर अन्त में मिल जानी चाहिए। यह समष्टि प्रभाव की कहानी का लक्ष्य है।

घटना-ऐक्य और सम्बन्ध-निर्वाह—कहानी में केवल एक ही घटना होनी चाहिए और उसमें समाविष्ट घटनाओं की एकता होनी चाहिए। एक परिस्थिति दूसरी परिस्थिति से घनिष्ठता से जुड़ी रहे, यह बहुत आवश्यक है। इसे ही 'एकता और अन्विति' कहा गया है। प्रत्येक दशा में कहानीकार का ध्यान इस बात की ओर विशेष रूप से रहता है कि कहीं घटनाओं की शृंखला टूट न जाए। सम्बन्ध निर्वाह का यही अर्थ है।

प्रारम्भ और अन्त—उत्तम कहानी का प्रारम्भ आकर्षक और अन्त प्रभावपूर्ण होता है। इन दोनों पर आधुनिक कहानियों में विशेष ध्यान दिया जाता है। एक अंग्रेजी आलोचक के अनुसार, 'कहानी घुड़दौड़ के समान है,' (The story is like a horse race)। इसमें सबसे अधिक महत्त्व प्रारम्भ और अन्त का है। प्रारम्भ और अन्त में भी अन्त का महत्त्व अधिक है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कथन है—"आदि और अन्त के तारतम्य में अन्त को अधिक महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि, मूलभाव के परिपाक का वही केन्द्र बिन्दु है। मध्य की उपेक्षा की जा सकती है, आरम्भ का दौर्बल्य सहन किया जा सकता है, पर अन्त बिगड़ा तो सब डूबा समझना चाहिए।"

इस प्रकार अरस्तू के अनुसार कवि मानव-जीवन के स्थायी तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु के सत्य का बलिदान भी कर सकता है और उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। केवल प्रणाली या मानव के कार्य ही नहीं, उसके भाव, विचार, चरित्र आदि भी अनुकरण की वस्तु है। अतः काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है, वह सामान्य मानव से अच्छा भी हो सकता है और उससे बुरा भी अथवा वैसा भी; और यह चित्रण काव्य मे आनन्द के दृष्टिकोण से किया जाता है। यह आनन्द सहृदय को होना चाहिए, पर सहृदय को आनन्द तभी होता है, जब कवि को भी हो। इससे स्पष्ट होता है कि अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में आत्म-तत्त्व निश्चित रूप से है।

विवेचन एवं निष्कर्ष—स्पष्ट है कि अरस्तू के अनुसार अनुकरण के विषय जीवन का बहिरंग पक्ष ही नही है, अपितु अन्तरंग पक्ष—विचार, अनुभूति कल्पना आदि भी है और इन दोनो में भी अन्तरंग पक्ष का प्राधान्य है, क्योंकि, अनुकरण यथार्थ रूप का ही नही, सम्भावित रूप का भी किया जाता है और इन्द्रियो पर उसके अंकित स्वरूप का अनुकरण किया जाता है। फिर अरस्तू काव्य के लिए 'वस्तु कैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु कैसी होनी चाहिए या हो सकती है, पर अधिक जोर देते है।

यह निर्विवाद है कि अरस्तू आत्मतत्त्व और कल्पनातत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तुतत्त्व को अधिक प्रधानता देते है। वह वस्तु को उद्दीपक निमित्त मात्र नहीं मानते, आधार-रूप भी मानते है। इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्ति-परम भावतत्त्व की अपेक्षा वस्तुपरक भावतत्त्व को विशेष महत्त्व देते है और इसी से वह काव्य के बहिरंग पक्ष का प्रत्याकन करते है।

अनुकरण-सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से भी विरोध है। क्रोचे के अनुसार, कला सहजानुभूति है जो अभिव्यक्ति से अभिन्न है। कला का मूलरूप कलाकार के मन मे घटित होता है। इस प्रकार अनुकरण-सिद्धान्त क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार कला-सर्जन के प्रसंग मे केवल आनुषंगिक प्रक्रिया-मात्र होकर रह जाता है।

फिर अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त की परिधि भी बड़ी संकुचित है। उस में कवि की अन्त:चेतना को उतना महत्त्व नही दिया गया जितना कि देना चाहिए था। कवि जीवन मे विभिन्न अनुभवों के बीच से गुजरता है और

(१) स्वयं कहानीकार द्वारा वर्णनों के माध्यम से चरित्र-चित्रण, जिसे प्रत्यक्ष प्रणाली कहा जाता है, (२) संकेतों द्वारा, जिसमें कहानीकार स्पष्ट चरित्रोद्घाटन न कर सांकेतिक प्रणाली का आश्रय लेता है, (३) पात्रों के पारस्परिक वार्त्तालाप द्वारा, जिसे नाटकीय प्रणाली कहा गया है और (४) घटना या कार्य-व्यापार द्वारा।

चरित्र-विश्लेषण की भी तीन पद्धतियाँ हैं—

(१) निरपेक्ष विश्लेषण—जिसमें एक पात्र दूसरे पात्र का विश्लेषण करता है।

(२) आत्म-विश्लेषण—जिसमें पात्र स्वयं अपना विश्लेषण करता है।

(३) मानसिक ऊहापोह द्वारा चरित्र-विश्लेषण।

संवाद—संवाद पात्रों की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले, इनका चरित्रोद्घाटन करने वाले कथा-विकास में सहायता करने वाले और कहानी के वातावरण एवं प्रभाव की सृष्टि करने वाले होते हैं। संवादों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संवाद छोटे और चुस्त, व्यंजक और सांकेतिक, आकर्षक और चमत्कारपूर्ण, भावानुरूप, पात्रानुकूल और परिस्थिति के अनुरूप होने चाहिए। उनमें लाक्षणिकता और हास्य-विनोद का समावेश भी अपेक्षित है।

वातावरण—कहानी में वातावरण-चित्रण का लक्ष्य स्थानीय विशेषताओं का समावेश और कथात्मक प्रभाव की सृष्टि रहता है। कहानीकार यही प्रकृति के रमणीय चित्र उपस्थित करता है, तो कहीं पात्रों की परिस्थितियों का बाह्य रूप अंकित करता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कहानी में वातावरण या स्थानीय चित्रण को विशेष महत्त्व दिया है। एम० ए० ग्लेन नामक विद्वान का विचार है कि स्थानीय चित्रण पाठक को विशेष रूप से प्रभावित करता है। वातावरण का चित्रण भावों को जाग्रत करने में भी विशेष सहायक होता है।

कहानी में वातावरण चित्रण के अनेक पक्ष हैं। इसके अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन, प्रकृति के वर्णनों द्वारा मानसिक स्थितियों का वैषम्य या साम्य कथन, कहानी के बीच-बीच में बाह्य वातावरण के संकेत और पात्रों की परिस्थितियों का चित्रण आता है। व्यापक अर्थ में परिस्थिति-योजना, प्रकृति-सज्जा और देशकाल-चित्रण—तीनों को वातावरण कहा जाता है।

भाषा-शैली—कहानी सामान्य मानव-जीवन की वस्तु है और उसके बहुत

अथवा

क्या छोटी कहानी को उपन्यास का लघु रूप अथवा उपन्यास की छोटी कहानी का बृहद्रूप माना जा सकता है ? अथवा ये दोनो साहित्य की दो विधाएँ हैं ? उपन्यास और कहानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए समझाइए।

उपन्यास और कहानी के तत्वो का अध्ययन करने से दोनो एक ही सी साहित्य-विधाएँ लगती हैं। दोनो का विकास भी आधुनिक युग की देन है, घटनाक्रम की दृष्टि से भी दोनो एक ही लगती हैं और साथ ही दोना विधाओ के प्रेरणा-स्रोत एक ही है। जिस प्रकार उपन्यासकार मानव-जीवन, प्रकृति तथा भौतिक-जगत् की मानव से सम्बन्धित घटनाओ से प्रेरणा लेकर उपन्यास की सजना करता है, उसी प्रकार कहानीकार भी इन्ही दृश्य-पदार्थों तथा मानवीय अनुभूतियो को अपना वर्ण्य-विषय बनाता है। अन्तर आकार का ही दिखाई देता है। उपन्यास मे सम्पूर्ण जीवन की झलक होती है और कहानी मे किसी घटना-विशेष की। पर यह भेद भी आज की नवीन कहानी उपन्यास मे समाप्त हो गया है—शैली की विविधता से उपन्यास मे भी अब जीवन के किसी पक्ष-विशेष का ही चित्रण होता है। सम्पूर्ण जीवन आज इतना विविधतापूर्ण है कि वह एक ही उपन्यास का लघुरूप और उपन्यास का कहानी का वृहद्रूप मानते हैं।

यह समानता केवल स्थूलरूप मे ही दिखायी देती है, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आकार की भिन्नता के अतिरिक्त प्रकार की भी, अनेक भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। न केवल शैली-भेद मे ही, अपितु प्रभावान्विति चरित्र चित्रण के विकास, व्याख्या और विकास वातावरण निर्माण आदि अनेक रूपो में कहानी और उपन्यास मे पर्याप्त अन्तर है और इसलिए कहानी और उपन्यास स्पष्टत दो स्वतन्त्र विधाएँ।

अब हम सक्षेप मे इन दोनो विधाओ के अन्तर का विवेचन प्रस्तुत करेंगे—

उपन्यास और कहानी का अन्तर—यद्यपि उपन्यास मे भी पात्रो का चरित्र-चित्रण होता है और कहानी मे भी—इसके लिए कथानक को आधार बनाया जाता है वह भी प्राय मानवीय जगत् से ही लिया गया होता है,

एकता भी आवश्यक है। इस प्रभावैक्य से कहानी मे संगठनात्मकता तथा वर्णन-वैचित्र्य भी बना रहता है, पर उपन्यास का प्रभाव उसकी विविधता से तथा घटनाओं के प्रस्तुतीकरण के ढंग से उत्पन्न होता है। यह एकता उपन्यास में नही रहती, उसमें विस्तार के कारण वैविध्य होता है। लेकिन इस विविधता मे भी एकता निहित होती है। प्रत्येक पृथक् घटना भी अन्त में मुख्य घटना को गति देती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक घात-प्रतिघात मुख्य कथा से सम्बद्ध होता है, पर कहानी में मुख्य कथा के अतिरिक्त और कोई कथा नही होती। इस सम्बन्ध मे एक आलोचक का कथन है—

"A good story differs from the novel chiefly in its essential unity which a novel can not have it"

(४) कल्पना की व्यापकता के आधार पर भी उपन्यास और कहानी में अन्तर किया जा सकता है। उपन्यासो मे कल्पना का व्यापक प्रयोग हो सकता है, वातावरण-निर्माण मे भी और पात्रो की सजना मे भी। लेकिन कहानी मे, क्षेत्र के सीमित होने के कारण कल्पना का प्रयोग होते हुए भी अत्यधिक नही होता, उस पर संयम रखना पड़ता है। अपने व्यापक परिवेश के कारण उपन्यास के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है।

(५) कहानी और उपन्यास—दोनो में ही रचयिता अपनी अनुभूतियों और विचारो को प्रस्तुत करता है, पर प्रस्तुतीकरण का दोनो मे पर्याप्त अन्तर है। कहानी मे विचारो की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप मे होती है। उपन्यास मे प्रत्यक्ष रूप से हो सकती है। कहानी मे रचयिता को अधिक विवेक से काम लेना पड़ता है। पात्रो को इतना अवसर नही रहता कि वे कहानीकार के विचारो को विशुद्धता से प्रस्तुत कर सके, अत उनमे संकेतमात्र होता है, जबकि उपन्यास के पात्र खुलकर उसके विचारो की अभिव्यक्ति करते हैं।

(६) अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण-कौशल भी कहानी और उपन्यास में अन्तर ला देता है। यद्यपि अनेक कहानियाँ ऐसी होती है जिनमें आरम्भ से अन्त तक अन्तर्द्वन्द्व-ही-अन्तर्द्वन्द्व होता है, तदपि यह अन्तर्द्वन्द्व पात्रो द्वारा अभिव्यक्त न होकर रचयिता द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत उपन्यास मे इसकी अभिव्यक्ति पात्रो के द्वारा भी हो सकती है। यह मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व कहानी मे सांकेतिक होता है, उपन्यास में इसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध नही

(११) कहानी और उपन्यास मे शैली-सम्बन्धी अन्तर भी होता है। कहानी मे वर्णन तथा विस्तार की अपेक्षा व्यजना और ध्वन्यात्मकता को अपनाया जाता है, उपन्यास मे विस्तारवादी शैली होती है। इसीलिए कहा जा सकता है, "व्यजकता और प्रतिध्वनि कहानी के जीवन की साँसें हैं।"

निष्कर्ष—सक्षेप मे, कहा जा सकता है कि कहानी और उपन्यास मे तत्वो की दृष्टि से भले ही समानता हो विचार तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति मे भी समानता हो पर वण्य-वैविध्य के कारण दोना मे पर्याप्त अन्तर है और यह अन्तर क्षेत्र या आकार का ही नही, प्रकार का भी है। इसलिए कहानी को उपन्यास का लघुरूप अथवा उपन्यास को कहानी का वृहद्रूप न कहकर स्वतन्त्र विधाएँ ही माना गया है।

प्रश्न ६४—"आज की कहानी भारतीय परिवेश की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।" मुन्शी प्रेमचन्द के बाद की कहानी को आधार बनाकर इस मत का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

कहानी की परिभाषा करते हुए मुन्शी प्रेमचन्द ने लिखा है, "कहानी एक ऐसी रचना है जिसमे जीवन के किसी एक अग या मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विकास—सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं। वह एक ऐसा गमला है जिसमे एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप मे दृष्टिगोचर होता है।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा, है "उत्तम कहानी वह है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो।"

प्रसिद्ध कहानीकार इलाचन्द्र जोशी ने भी कहानी को जीवन की अभिव्यक्ति माना है। वह लिखते है, "जीवन का चक्र नाना परिस्थितियो के सघर्ष से उल्टा-सीधा चलता रहता है। इस बडे चक्र की किसी एक विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने मे ही कहानी की विशेषता है।"

इन दोनो कहानीकारो की परिभाषाओ के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता कि वर्तमान कहानी मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है। मुन्शी प्रेमचन्द से पहले की कहानियो मे भले ही कल्पना तथा आदर्श का समन्वय रहा हो, किन्तु आज की कहानी भारतीय परिवेश की पूर्ण अभिव्यक्ति है। यशपाल, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', मोहन राकेश, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', राजेन्द्र यादव, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्रसिंह, कमलेश्वर,

उसके चारो ओर अपरिचित चेहरे ही दिखाई देते है, जिस पर एक तटस्थ उपेक्षा ही दिखलाई पड़ती है। मनुष्य का एक दूसरे के प्रति लगाव समाप्त हो गया है। वह केवल अपने मे ही जीवित है और अपने लिए ही जीवित है। सयुक्त परिवार-प्रथा नौकरी के कारण समाप्त हो गयी है और मनुष्य अकेला रहता है और अकेले ही सुखदुख भोगता है। आज की कहानी मे मनुष्य का यह जीवन विस्तृत रूप मे चित्रित हो रहा है।

यशपाल की कहानियाँ आर्थिक विषमताओ का चित्रण कर शोषितवर्ग के प्रति करुणा का भाव जाग्रत करती हैं। इनकी कहानियो मे यथार्थ का सुदर चित्रण हुआ है। जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक चित्रण के कुशल चितेरे है। मानव-मन के उद्वेलन और द्वन्द्व का उन्होंने सूक्ष्म चित्रण किया। अश्क जी की कहानियो मे सामाजिक यथार्थ का सुन्दर चित्रण हुआ है। उन्होंने गरीबो तथा शोषितो पर अपनी कलम चलाई है। इनकी कहानियो के भावो का रूप इनकी कहानी 'काकड़ा का तेली' मे देखा जा सकता है। इसमे दरिद्रवर्ग के एक व्यक्ति मौलू का यथार्थ तथा प्रभावकारी वर्णन किया गया है जो पाठको के मन पर गहरा प्रभाव डालता है। इस कहानी मे गाँवो की सड़को की दुर्दशा का भी सजीव चित्रण किया गया है। उदाहरण के लिए एक अश यहा द्रष्टव्य है—

"ईंट तो ईंट किसी कंकड़ तक का वहाँ निशान न मिलता था। इसलिए किसी विटप के तने पर रखकर ढेले से गाड़ने के बावजूद, जब मेख बार-बार बाहर निकल आती थी और एड़ी का घाव बढ़ता जाता था, जिससे उसके लिए चलना दूभर हो जाता था, तो आखिर तग आकर लहरा ने जूते हाथ मे उठा लिए। धूल धधकती राख की भाँति जल रही थी और प्राय गर्द मे टखनो तक पाँव धँस जाते तो समस्त शरीर में जलन की एक लहर दौड़ जाती थी, किन्तु मेख की चुभन से टीस की जो लहर दौड़ती थी, वह शायद इस लहर से अधिक कष्टदायक थी, इसलिए वह चली जा रही थी, किन्तु फिर भी वह सबसे पीछे थी।"

इस प्रकार विष्णु प्रभाकर की कहानी 'गृहस्थी' भारतीय नारी-जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। मोहन, राकेश वर्तमान भारतीय परिवेश की सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। इनकी कहानियो से मध्यवर्गीय नौकरी पेशेवर्ग की प्रवृत्तियो का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'परमात्मा का कुत्ता' इनकी एक

नाटक की उत्पत्ति—पश्चिम मे, नाटक, जिसे ड्रामा (Drama) कहते हैं, की उत्पत्ति के विषय मे अनेक मत है। यह निर्विवाद है कि इसका विकास यूनान मे हुआ और बाद मे सर्वत्र फैला। ग्रीक मे नाटक सक्रिया का वाचक समझा जाता है। अनेक विद्वान् इससे सहमत हैं कि नाटक की उत्पत्ति आरम्भ मे धर्म जादू-टोना और धार्मिक कर्मकाण्डो के फलस्वरूप हुई है। ग्रीक मे डायनोसिस देवता के समक्ष होने वाले उत्सवो व धार्मिक कर्मकाण्डो से इसका उद्भव हुआ तो ब्रिटेन मे ईस्टर के समारोहो को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इसका जन्म हुआ।

प्रो० कार्नो और हिलेब्रा के अनुसार नाटक की उत्पत्ति लौकिक स्वांगो से हुई है। प्राचीन लौकिक जीवन का उल्लास और क्रीडा ही नाटको की उत्पत्ति का कारण है।

डा० पिशेल के अनुसार नाटको की उत्पत्ति कठपुतलियो के खेल से हुई है, जैसे कठपुतलियाँ किसी एक सूत्रधार द्वारा सचालित होती हैं, उसी प्रकार नाटक के पात्र भी सूत्रधार द्वारा सचालित होते है। अन्तर केवल यही ह कि कठपुतलियाँ निर्जीव होती ह, जब कि पात्र सजीव—यद्यपि बोलते वे भी सूत्रधार की इच्छा से ही ह।

डा० रिजो मृतक वीरो की पूजा के आधार पर नाटको का आविर्भाव मानते हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक जाति अपने दिवगत महान् योद्धा वीरो की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए उनके वीरतापूर्ण कार्यों का अभिनयात्मक प्रदर्शन करती है। इसी प्रदर्शन का परिष्कृत रूप नाटक के रूप मे धीरे-धीरे विकसित हो गया है।

इन सब मतो से स्पष्ट है कि नाटक मे अनुकरण की भावना ही मूलत होती है। इसीलिए डा० रघुवश ने लिखा है "कि नाटक की उत्पत्ति मानव-जीवन की क्रीडात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्धित है और यह क्रीडात्मकता शारीरिक और मानसिक दोनो रूपो मे समझी जा सकती है।" इन्ही क्रीडाओ का सम्बन्ध अनुकरण से जोडते हुए हर्बर्ट स्पेंसर लिखते हैं, "अपने कार्यो का अनुकरण अथवा अपने से बडो के अनुकरणशील सचय के प्रवाह को ही सूचित करता है। इस प्रकार मानसिक अनुकरण मे कला की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

वस्तुत नृत्य और नाटक मे अभिनेता अपनी भावना की अनुकरणात्मक क्रीडा द्वारा सुख का अनुभव करता है और दर्शक भी उसकी अनुभूति से

रंगहीन। यह बहुत प्रसिद्ध है कि रंग और प्रकाश साधारण चमक में महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसलिए नाटक को केन्द्रित करने वाला दर्पण होना चाहिए जो उन रंगीन रश्मियों को निर्बल न करे, एकत्र करे जिसमें दीपशिखा और भी प्रज्वलित हो जाए—ऐसा कार्य करने वाला नाटक ही, नाटक कहलाने योग्य हो सकता है।"

इस प्रकार विक्टर ह्यूगो नाटक में रचनात्मक पक्ष के लिए कलात्मकता की प्रधानता मानते हैं। परन्तु उन्होंने अभिनयात्मक प्रदर्शन और जनता की रसात्मक प्रभावशीलता की पूर्ण उपेक्षा कर दी है। पर इन दोनों का डा० निकलसन ने समावेश किया है। वह लिखते हैं—"नाटक जीवन की अभिव्यंजना-कला है, जो इस प्रकार की हो कि अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सके और साथ ही उनके शब्दों को सुनने के लिए दर्शकों में अभिरुचि भी उत्पन्न कर सके।"

समग्रतः नाटक अनुकरण की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जो अपने कलात्मक उत्कर्ष के कारण तथा सहज स्वाभाविक चित्रण के कारण दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

नाटक के भेद—नाटक के अन्त की दृष्टि से उसके नीचे दिए गए तीन भेद किए जा सकते हैं—

(१) सुखान्त—जिसका अन्त सुखमय हो।

(२) दुःखान्त—जिसका अन्त दुःखमय हो।

(३) प्रसादान्त—जिसका अन्त न सुखमय हो और न दुःखमय, अपितु जिस ईप्सित फल के लिए नाटक की रचना हुई हो, उसकी पूर्ति हो।

प्रथम प्रकार के नाटकों को कामदी और दूसरे प्रकार के नाटकों को त्रासदी भी कहते हैं। पर यह वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। विषय तथा शैली के आधार पर भी नाटकों के वर्गीकरण किए हैं, अतः नाटकों के वर्गीकरण में अन्त पर अधिक ध्यान न देकर सम्पूर्ण कृति में छाये वातावरण या उसके अन्तिम सम्मिलित प्रभाव को ही दृष्टि में रखना चाहिए। इसी आधार पर हम नाटकों के निम्न भेद कर सकते हैं

(१) त्रासदी (Tragedy)—त्रासदी में जीवन का गम्भीर विवेचन होता है। इसकी घटनाएँ महत्वपूर्ण होती हैं। इसमें संघर्ष भी तीव्र और महत्वपूर्ण होता है, अनेक कष्टपूर्ण स्थितियों का चित्रण पाठक के मन में करुणा और भय का भाव जाग्रत कर देता है। इसमें तनावपूर्ण स्थिति आद्यन्त बनी रहती

(iii) Sentimental Comedy

(iv) Comedy of Character or Humeurs

(v) Low Conced or Farce

(५) विचार-प्रधान नाटक (The Drama of Ideas)—विचार-प्रधान नाटक की समस्या का हल खोजने के स्थान पर उसका स्वरूप प्रस्तुत कर छोड दिया जाता है। इसका लक्ष्य बौद्धिक आनन्द प्रदान करना होता है और वह हमारे हृदय अथवा भावो को कम स्पर्श करता है। वह प्रेक्षको को चिन्तन के लिए बाध्य करता है। समस्या का समाधान खोजने की नही, समस्या को समझने की वृत्ति ही इसकी विशेषता है। बर्नार्ड शॉ का 'Man and Super man' या 'The Apple cart' इसी कोटि के नाटक हैं।

(६) शिक्षाप्रद या प्रचारात्मक नाटक (Didactic or propaganda play)—इसमें नाटककार का प्रधान लक्ष्य दर्शको के मन पर कोई प्रभाव अकित करना अथवा किसी विचार को उनके मस्तिष्क पर जमाना होता है। प्राय यह समझा जाता है कि उपदेश प्रधान या प्रचारात्मक नाटको मे प्रचार की अतिशयता के कारण कलात्मक तत्त्व विनष्ट हो जाता है। आज भी 'सुधार' की भावना को लेकर ऐसे नाटको की रचना होती है। राजनीतिक वादो के प्रचार के लिए अथवा विद्यालयो मे नैतिक शिक्षा-प्रसार के लिए इस प्रकार के नाटक विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। गाल्सवर्दी का 'Justice' नाटक इसी प्रकार का है।

(७) ऐतिहासिक नाटक (Historical Drama)—यह विभाजन विषय-वस्तु के आधार पर किया गया है, क्योकि इसमे कामदी और त्रासदी दोनो प्रकार की रचनाएँ होती हैं। इसका विषय इतिहास या जीवनी पर आधारित होता है। इसके द्वारा लेखक वतमान समस्याओ का वणन करता है और उनकी आलोचना भी करता है या राष्ट्र को उद्बुद्ध कर सकता है। ऐतिहासिक कथानक का उपयोग नाटक मे तीव्र भावावेग, सार्वभौमिकता, काव्यात्मक भाषा और आकर्षक दृश्यावली लाने के लिए भी किया जा सकता है।

(८) ट्रैजी-कामेडी (दुःख-सुखान्त)—यद्यपि प्रत्येक नाटक मे त्रासद और कामद प्रभावो का मिश्रण होता है, पर इस नाटक मे यह मिश्रण प्रचुर मात्रा मे होता है। जीवन मे सुख और दुःख जुडे होते हैं। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख—यह क्रम निरन्तर चलता रहता है और नाटक मे भी ऐसा

उपर्युक्त भेदो के अतिरिक्त नृत्य-नाटक, भाव-नाटक, रेडियो-नाटक आदि की चर्चा भी अंग्रेजी-नाटक-साहित्य मे होती है।

प्रश्न ६६—नाटकीय तत्त्वों की समीक्षा कीजिए।

पाश्चात्य देशो मे यूनान सबमे पहला देश है, जिसमे नाट्यकला पर सूक्ष्मता से विचार किया था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने अपने 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ मे नाट्यकला का सुदर विवेचन प्रस्तुत किया है। उसने नाटक दो प्रकार के माने है—ट्रेजेडी और कॉमडी। इन दोनो के उसने पृथक्-पृथक् सिद्धात निर्धारित किए हैं, जिन पर आगे चलकर विस्तार से विवेचन हुआ। आजकल अंग्रेजी नाट्यशास्त्र मे जिन तत्त्वो का विवेचन मिलता है, उनके आधार ये ही नाटय-सिद्धात हैं। उन सब सिद्धान्तो को प्रकाश मे रखकर वतमान नाट्याचार्यो ने पाश्चात्य नाटक के निम्नलिखित छह तत्त्व बतलाए हैं—

(१) कथावस्तु (plot)
(२) चरित्र-चित्रण (Characterisation)
(३) सवाद अथवा कथोपकथन (Dialogue)
(४) देशकाल या वातावरण (Atmosphere)
(५) शैली (Style)
(६) उद्देश्य (Aim or purpose)

यहा सक्षेप मे इनका विवेचन प्रस्तुत है।

कथावस्तु—अरस्तू ने कथावस्तु को नाटक मे चरित्र-चित्रण से अधिक महत्त्व दिया है। कारण, कथावस्तु नाटक की आधार भूमि है। इसी पर रचना का भव्य प्रासाद निर्मित होता है। नाटक मे कथावस्तु दो प्रकार की मानी जाती है—मुख्यकथा (Main Plot) और गौणकथा (Sub-Plot)। मुख्य कथा का सम्बन्ध नाटक के मुख्य पात्र से होता है। इस मुख्य कथावस्तु से सम्बन्धित और प्रसगानुकुल सहायता पहुँचाने वाली कथा गौण अथवा प्रासगिक कथा कहलाती है। नाटक मे दोनो ही प्रकार की कथाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं। अरस्तू ने नाटक की कथावस्तु को मुख्य और गौण के स्थान पर विभाजित न करके सरल और जटिल रूप मे विभाजित किया है। सरल कथावस्तु का घटना-चक्र सीधा और इकहरा होता है। इसके विपरीत जटिल कथावस्तु मे वस्तु का क्रम टेढा, विपर्यस्त और दुहरा होता है। इतिवृत्त के मूलस्रोत की

ही समय में सम्भव न हो। घटना अथवा क्रिया-व्यापार की एकता का तात्पर्य है कि मुख्य क्रिया-व्यापार से असम्बद्ध कोई क्रिया-व्यापार नाटय में न आने पाए।

आजकल के नाटकों में सकलन-त्रय का पूरा-पूरा पालन न सम्भव ही है और न वह किया ही जा रहा है। आज के नाटकों की व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए इन पर अधिक जोर भी उचित नहीं प्रतीत होता है।

चरित्र-चित्रण—नाटक में वस्तु के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान नायक तथा उससे सम्बद्ध दूसरे पात्रों के चरित्र-चित्रण का है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक को विख्यात, समृद्ध और गुणसम्पन्न होना चाहिए। अरस्तू ने नायक में आदर्शत्व का समावेश आवश्यक माना है। डा० नगेन्द्र ने अरस्तू की चरित्र-विषयक धारणा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "एक तो इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य-परिवर्तन के क्रम में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति में पतन न दिखाया जाए—इससे न तो करुणा की उद्बुद्धि होगी और न त्रास की, इससे तो हमें आघात ही पहुँचेगा। साथ ही, उसमें किसी दुष्ट पात्र की विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण नहीं रहना चाहिए, क्योंकि, त्रास की आत्मा की इससे प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नहीं है। इसमें न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि ही। किसी खल पात्र का पतन दिखाना भी सगत नहीं है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि, करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जाग्रत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से। अब इन दो सीमान्तों के बीच चरित्र रह जाता है—ऐसा व्यक्ति जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नहीं है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं, वरन् अपनी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है, वह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एव समृद्ध होना चाहिए।" इस प्रकार पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में नायक का विख्यात व्यक्ति होना स्वीकार किया गया है।

नायक की ऐसी कल्पना अब स्वीकार्य नहीं है। आजकल नाटक का नायक सामान्य व्यक्ति भी हो सकता है। वह प्रत्येक स्थिति में अभिजात वर्ग का नहीं हो सकता, वह तो हमारे समाज का साधारण व्यक्ति होता है। इस

प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए किया है। अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने काव्य पर आक्षेप करते हुए कहा है, "**काव्य मानव-वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण एवं सिंचन करता है, अतः कवि, जिसका सत्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं, को देश को सुशासित रखने के लिए देश में रहने से निषेध कर दे, क्योंकि वह मानव के विवेक अंश का क्षय करता है।**"

अरस्तू द्वारा विरेचन का उल्लेख—अरस्तू ने यह तो स्वीकार किया कि काव्य मानवीय वासनाओं का दमन नहीं करता, वरन् पोषण ही करता है, परन्तु यह स्वीकार नही किया कि वह अनैतिक भावनाओं को उभारता है। त्रासदी का विवेचन करते हुए 'पोइटिक्स' में लिखते है—

"Tragedy, then, is an imitation of action that is serious, complete and of a magnitude. In language embellished with each kind of artistic ornament,, the several kinds being found in separate parts of the play, in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper katharsis or purgation of these emotions.

अर्थात् "ट्रेजेडी (त्रासदी) एक ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर है, स्वत: पूर्ण है और जिसका एक निश्चित आयाम है। यह अनुकरण एक ऐसी भाषा मे होता है जो कलात्मक अलंकारों से हर प्रकार से सुसज्जित रहती है। कलात्मक अलंकारो के ये विविध प्रकार के नाटक विभिन्न भागो मे पाए जाते है। यह अनुकरण कार्य के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, न कि वर्णनात्मक रूप में। यह अनुकरण करुण और भय के संचार के मनोभावों को उत्तेजित कर उसका उचित विरेचन या सम्मार्जन करता है।" इस प्रकार उन्होंने विरेचन का प्रयोग त्रासदी के कार्य बतलाने के संदर्भ में किया है।

'राजनीति' नामक ग्रन्थ मे वह संगीत का प्रभाव वर्णन करते हुए विरेचन का अर्थ स्पष्ट करते है, "संगीत का अध्ययन एक नही, अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए—(१) शिक्षा के लिये, (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए, (३) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है...धार्मिक रागों के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते है, मानो उसके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास

मे रहता हुआ भूतकाल का उद्घाटन करता है और यह सबसे अच्छा एव स्वाभाविक प्रकार है।

शैली—नाटक मे अभिव्यक्ति का माध्यम सवाद है, जिसकी सफलता अधिकाश मे सवादो के रूप पर ही निर्भर है। भाषा-शैली सवादो के रूप का महत्त्वपूर्ण अवयव है। नाटक मे भाषा के कुछ नाटकोचित गुणो का होना अपेक्षित है। ये गुण हैं—भावानुकूलता, रोचकता, प्रवाह और पात्रानुकूलता आदि। और, शैली नाटक का वह प्रधान अग है जिसके द्वारा साहित्य की अन्य विधाओ की तुलना मे नाटक की विशिष्टता का बोध होता है। नाटक मे उपन्यास के भी तत्त्व होते हैं और प्रबन्धकाव्य के भी, फिर भी, न तो वह उपन्यास होता है और न प्रबन्धकाव्य वरन् नाटक होता है, केवल अपनी शैली के कारण।

नाटक की शैली मे सबसे प्रधान गुण तो यही होना चाहिए कि उसका प्रत्येक तत्त्व नाटक को अभिनेय बनाने मे सहायक हो, उसमे आँखो की भी क्षुधा हो, कानो की भी और हृदय की भी। अत विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी नाटक की अभिनेयता मे किन गुणो की अपेक्षा होती है। सामान्य रूप से ये अपेक्षाएँ, निम्नलिखित हैं

(१) कार्य-व्यापार की तीव्रता और शृखलित गति।

(२) नाटकीय सवादो की अभिनयोपयुक्तता।

(i) सक्षिप्तता, चुस्ती या लाघव का गुण।

(ii) सजीवता, मार्मिकता और स्वाभाविकता।

(iii) भाषा की सरलता और स्वाभाविकता।

(iv) सवादो की प्रभावात्मकता।

(३) नाटकीय कथा-विकास मे कौतूहल का समावेश।

(४) उपयुक्त दृश्य-विधान और कौतूहल का समावेश।

(५) नाटक का प्रभावशाली प्रारम्भ और अन्त।

उद्देश्य—प्रत्येक नाटककार का अपना कुछ-न-कुछ उद्देश्य होता है, वह अपने नाटको द्वारा उन्ही उद्देश्यो को सफल बनाना चाहता है। नाटककार की सफलता इस बात मे निहित है कि वह अपने उद्देश्य को पाठको या दर्शको के सम्मुख किस कौशल से रखता है। इसमे वह जितना कौशल दिखलाएगा, उतना ही वह सफल नाटककार होगा। सेठ गोविन्ददास के मतानुसार, "नाटक

सम्बद्ध करती है, उनको गति देती है तथा अभिनय के लिए सामग्री देती है। बिना कथानक के पात्रो की कोई भी उपादेयता नही है। नाटककार पहले अपने मन मे किसी कथानक की कल्पना करता है और फिर उस कथानक के अनुरूप पात्रो का चयन करता है और उनके अभिनय को मूर्तता प्रदान करता है।

यद्यपि यह सत्य है कि पात्र ही एक ऐसा तत्व है जो अभिनय होने के कारण नाटक को अन्य कथात्मक साहित्य-विधाओ से पृथक् करता है और उसके स्वरूप को विशिष्ट आकार में सँवरता है, यदि अभिनेता न हो तो नाटक और उपन्यास में कोई अन्तर ही नही है। परन्तु प्रश्न यह है कि पात्र अभिनय किसका करेंगे ? अभिनय के लिए किसी कथावस्तु की आवश्यकता होती है। इसलिए बोल्टन ने लिखा है—"Drama, at its best, is an exercise of the imagination not only for writer, producer and actors but also for the audience"

इसलिए कल्पना द्वारा प्रस्तुत कथा का ही अभिनेता अथवा पात्र अभिनय करते हैं। दर्शक भी कल्पना के माध्यम से उस कथानक को अभिनीत होता देखकर आनन्द का अनुभव करता है। अरस्तू ने इसी को 'विरेचन' कहा है।

नाटक अनुकरणात्मक होता है और यह अनुकरण जीवन की विविध घटनाओ तथा अनुभूतियो का होता है। नाटक का आधार कथावस्तु है, क्योकि इसी के माध्यम से नाटक के अन्य तत्वो का विकास होता है और यह कथानक जीवन के विविध पक्षो से ग्रहण किया जाता है, किन्तु कथानक मे विस्तार न होकर एकात्मकता होती है। उसमे प्रवाह, कुतूहल तथा जिज्ञासा का समन्वय आवश्यक है। यह कथानक ही वह कारण है जिसके कारण उपन्यास का भी रूपान्तर नाटक मे हो सकता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' तथा मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' के रेडियो-नाट्य-रूपातर अत्यन्त सफल रहे हैं।

त्रासदी और कामदी का अन्तर भी कथानक के आधार पर ही किया जाता है। जिसमे संघर्ष की आरम्भ से ही तीव्रता लिए और अंत दुःखमय हो, वह त्रासदी तथा सुखान्त को कामदी कहा गया है। यद्यपि पात्र दोनो ही प्रकार के नाटको मे अभिनय करते हैं, पर कथानक-भेद से ही नाटक के अनेक

शरण अवस्थी आदि हैं और दूसरे वर्ग के विचारकों में प्रो० अमरनाथ गुप्त प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० एस० पी० खत्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

एकांकी नाटक, नाटक का ही संक्षिप्त रूप नहीं माना जा सकता। इसकी शिल्प-विधि अन्य नाटकों से पृथक् होती है। इसमें किसी घटना, स्थिति, विचार, परिस्थिति के किसी विशिष्ट क्षण अथवा प्रसंग की मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। इसमें जीवन की समग्रता का नहीं, जीवन के विशिष्ट क्षण का प्रभावपूर्ण वर्णन होता है।

एकांकी एक अंक में पूर्ण हो जाने वाला नाटक है—ऐसा नाटक जो रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष प्रदर्शित हो सके।

अब प्रश्न यह उठता है कि अंक से क्या आशय है। अंक की परिभाषा साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने विस्तार से दी है। अंक रूपकों के अवच्छेद अथवा अन्त खण्ड का नाम है। नाट्यदर्पणकार का भी यही कथन है। पाश्चात्य विद्वानों की अंक सम्बन्धी जो परिभाषाएँ हैं, वे भी भारतीयों से काफी मिलती-जुलती हैं। अंग्रेजी में अंक को Act कहते हैं 'दि आक्सफोर्ड कम्पेनियन टु दी थियेटर' में अंक (Act) की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि नाटक के विभागों को एक्ट कहते हैं, जिनमें प्रत्येक में एक या अनेक दृश्य हो सकते हैं।

ओ हारा और हार्मन ग्रो ने भी कहा है कि (Act) कथा का वह निश्चित विकास है जिसमें रुचि और स्थापत्य की इकाई होती है।

इन परिभाषाओं से अंक क्या है, यह स्पष्ट हो जाता है। इस कारण अब एकांकी के स्वरूप पर विचार करना सुलभ हो जाता है। एकांकी के स्वरूप पर विचार करते समय सबसे पहले इस पर विचार करना आवश्यक है कि हिन्दी में यह विधा कहाँ से आई। कुछ विद्वान इसे संस्कृत नाटकों से उद्भूत मानते हैं, उनमें और कुछ पश्चिम की देन। जो इसका उद्भव संस्कृत-नाटकों से मानते हैं, उनमें डा० सत्नाम सिंह शर्मा का विचार है, "यह मानना नितान्त भ्रामक होगा कि हिन्दी एकांकी के सामने कोई भारतीय आदर्श ही न था।" इसी प्रकार प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी लिखते हैं, "यह न समझना चाहिए कि भारत में एकांकी थे ही नहीं।"

किन्तु जो एकांकी को पश्चिमी साहित्य से आगत, हिन्दी में नवीन विधा मानते हैं, उनमें से प्रो० अमरनाथ गुप्त का कथन है, "एकांकी नाटक हिन्दी

रगमच सकेत प्रकाश सकेत तथा छाया को भी यथोचित स्थान देते हैं। इस प्रकार उनकी एकाकी-विषयक परिभाषा उसके कलापक्ष से सम्बद्ध है।

डा० नगेन्द्र की एकाकी-विषयक परिभाषा अपने से पूववर्ती परिभाषाओ का निष्कर्ष ही है। एकाकी मे एक अक विस्तार की सीमा कहानी,—जैसे जीवन का एक पहलू महत्त्वपूण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण, एकता, समग्रता और आकस्मिकता की अनिवार्यता, सकलन-त्रय का साधारण रूप से पालन, प्रभाव तथा वस्तु का ऐक्य आवश्यक माना है।

पाश्चात्य विचारको की एकाकी परिभाषा—भारतीय विचारको की तरह पाश्चात्य विचारको ने भी एकाकी के स्वरूप पर विचार करते समय विभिन्न दृष्टियो से विचार किया है। पर्सिवल वाइल्ड का विचार है कि नाटक (एकाकी) जीवन का ऐसा सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण है जो दर्शको मे सवेग उपस्थित करता है। एकाकी नाटक की विशेषता उच्चकोटि की मितव्ययिता और अन्विति मे है। यह अपेक्षाकृत कम अवधि मे अभिनीत होता है।

एकाकी की परिभाषाओ मे से कोई भी अपने आप मे पूण नही है। प्रत्येक विद्वान् न उसके किसी एक पक्ष पर ही विचार किया है। उदाहरणाथ, वाटर प्रिचड एटन (Water prichard Eaton) का कथन है।

"The one act play, to its nature and the rigid restriction of medium, has to confine itself to a single episode or situation and this situation, in turn, has to grow and develop out of itself"

अर्थात् एकाकी नाटक मे एक ही घटना अथवा प्रसग फैलाकर दर्शको के मन पर एक विशेष प्रभाव डालता है। उनके अनुसार एकाकी जीवन अथवा समाज के किसी एक पहलू घटना या क्षण को प्रस्तुत करता है।

सिडनी बॉक्स (Sydney Box) ने भी उनका समथन करते हुए कहा है—

"It should aim at making a single impression, should possess singleness of stiuatinon and should concentrate its interest on a single character or group of characters"

अथात् एकाकी का लक्ष्य यह है कि वह एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करे, उसमे एक स्थिति होनी चाहिए और उसका ध्यान किसी एक पात्र अथवा

२ लेखक अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति मे समन्वय रखे। सम्पूण एकाकी मे एकता का होना आवश्यक है।

३ एकाकी का सक्षिप्त होना आवश्यक है। इसे आधा घण्टे के आसपास समाप्त हो जाना चाहिए।

४ सकलन-त्रय का भी उसमे ध्यान रखना चाहिए और पात्रो, घटनाओ तथा प्रसगो का बाहुल्य न होकर प्रमुख पात्र, घटना अथवा स्थिति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

निष्कर्ष—निष्पपत कहा जा सकता है कि एकाकी वह नाट्य-विधा है जो किसी मूल विचार, भावना अथवा घटना से सम्बद्ध अभिनेय कथा होती है। उसमे सक्षिप्तता तथा सकलन त्रय पर विशेप ध्यान दिया जाता है और रचयिता की दृष्टि प्रमुख पात्र अथवा घटना पर ही रहती है।

प्रश्न ६९—पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो द्वारा निर्दे शिक एकाकी के तत्त्वों का सम्यक् विवेचन कोजिए।

एकाकी नाटक के तत्वो पर हिन्दी विद्वानो और पाश्चात्य विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया ह और उसके नित्य परिवर्तित स्वरूप के अनुसार नवीन-नवीन तत्त्वो का उसमे समावेश किया गया है और इससे वे परस्पर उलझ गए हैं। उन्होने तत्वो तथा विशेपताओ को एक साथ मिलाकर और अधिक उलझा दिया है, कही विशेपताओ को तत्वो मे गिन लिया है और कही तत्वो को विशेपताओ मे ले लिया है। कुछ विद्वानो ने सक्षिप्तता, एकता, प्रभाव तथा सकलन-त्रय आदि को एकाकी के तत्व माना है, पर ये तत्व न होकर उसकी विशेपताएँ हैं। तत्व तो वे होते हैं, जिनके बिना एकाकी का स्वरूप बन ही नही सकता, एकाकी अपूण रह जाएगा पर इनके उसका आकार तो बन ही जाएगा, पर वह सुन्दर नही बनेगा, अत ये उसकी विशेपताएँ है।

सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने नाटक के तीन मूलतत्व माने हैं—वस्तु, नेता और रस। लेकिन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो ने इन तत्वो की सख्या ६ मानी है—कथानक, पात्र, सवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। परन्तु डा० राम-गोपाल सिंह चौहान ने इस परम्परा का खण्डन करके एकाकी के तीन ही मूल तत्व माने है और शेष तत्वो को इन्ही मे समाविष्ट माना है। उन्होने अभिनय को मूल तत्व माना है। अत तीन तत्व है (१) कथानक, (२) सवाद और (३) दृश्य-विधान। कथानक के अन्तर्गत वह चरित्र चित्रण तथा उद्देश्य

भवन खडा होता है। एकांकीकार अपना कथानक कहीं से भी ग्रहण कर सकता है, पर उसे इसका ध्यान रखना चाहिए कि उसमें जीवन की वास्तविकता बनी रहे—वह कपाल-कल्पित ज्ञात न हो, उसमें विश्वसनीयता का होना आवश्यक है।

कथानक के लिए आवश्यक है कि वह आरम्भ में संक्षिप्त हो, अर्थात् एकांकी के कथानक का आरम्भ मध्य से होना चाहिए जिससे दर्शक अथवा पाठकों में जिज्ञासा व कौतूहल बना रहे। बीती हुई घटनाओं का वर्णन करके एकांकीकार क्षिप्र गति से अपने लक्ष्य की ओर आगे बढता है, अत रोचकता उसका मुख्य गुण है। साथ ही, प्रगतिशीलता भी कथानक का मुख्य गुण है। मुख्य कथा जब चरम बिंदु की ओर तीव्रता से बढती है, तभी एकांकी सुन्दर होता है और इसके लिए दो साधन हैं—(१) संघर्ष और (२) विकास। यह संघर्ष या तो व्यक्तियों, नायक और खलनायक में अथवा दो विरोधी भावों में हो सकता है। अत संघर्ष वाले एकांकी आज अधिक सफल होते हैं।

एकांकी में कार्य-व्यापार की एकता का होना भी आवश्यक है। डा० नगेन्द्र का मत है कि बिना चरमसीमा वाले एकांकी भी सफल हो सकते हैं, यदि उनमें कार्य-व्यापार की एकता बनी रहे। सभी घटनाएँ, यदि विभिन्न दिशाओं में न बिखर कर एक निश्चित दिशा की ओर गतिशील रहें तो एकांकी सफल रहता है।

समग्रत एकांकी के कथानक के तीन तत्त्व हैं—एकता, एकाग्रता तथा विस्मय। इनमें विस्मय अथवा कौतूहल का महत्वपूर्ण स्थान है। पर, यह रोचकता अथवा कौतूहल स्वाभाविकता के धरातल पर ही अवस्थित होना चाहिए।

पात्र और चरित्र-चित्रण—यद्यपि नाटक अथवा एकांकी का प्राथमिक तत्त्व कथानक है, पर वह तब तक अभिव्यक्त नहीं हो सकता, जब तक कि चरित्र-चित्रण का ना तत्त्व न हो। पात्रों के द्वारा ही कहानी गतिशील होती है। दूसरे, चरित्र-चित्रण कथानक से भी ऊँचा कार्य है। एकांकी अभिनेय होता है और रंगमंच पर कहानी को अभिव्यक्त करने के माध्यम पात्र ही होते हैं। अत पात्रों का एकांकी में मूल स्थान है। जार्ज सांतायना का विचार है कि कथानक के निर्माण को हम आविष्कार कहते हैं, पर चरित्र के निर्माण को हम सृष्टि कहकर गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

हो। उसमे स्वाभाविकता, सक्षिप्तता, सजीवता एव रोचकता आदि गुण होने आवश्यक हैं। इनके साथ ही, उसका मर्मस्पर्शी तथा वाग्वैदग्ध्यपूर्ण होना भी आवश्यक है। एकाकी की सीमा एव समयाभाव के कारण दीर्घ सवाद उसकी गतिशीलता के लिए हानिकारक होते हैं। इसीलिए वाल्टर प्रिचर्ड एटन का कथन है, "You have a painfully small number of words with which to accomplish a large effect, for events must in general be large on the stage Therefore every word must count' अर्थात् तुम्हारे पास बहुत कम शब्द हैं, जिनसे तुम्हे बहुत बडा प्रभाव उत्पन्न करना है—क्योकि रगमच पर प्रभाव बडा होना ही चाहिए। अत प्रत्येक शब्द को सार्थक होना चाहिए। प्रत्येक शब्द की कीमत आकनी चाहिए।

देशकाल अथवा वातावरण—इसमे तात्पर्य स्थान और समय से है। इसमे अभिनेय कथानक मे आए पात्रो के रहन-सहन, वेशभूषा, चाल-ढाल आचार-विचार सस्कृति और सभ्यता, जीवन-पद्धति आदि पर प्रकाश डाला जाता है। यह तत्त्व किसी विशेष स्थान पर न होकर एकाकी मे सर्वत्र व्याप्त होता है और प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होता है।

भाषा-शैली—पात्रो के सवाद एक विशिष्ट कथा-शैली मे ढले होते हैं। मूक एकाकियो मे भाषा का प्रयोग पात्रो के अग-सचालन, वेश-विन्यास आदि से दर्शक के मस्तिष्क मे होता है और सवाद-युक्त एकाकियो मे पात्रो की बोल चाल के ढग से भाषा-शैली का ज्ञान होता है। चूँकि नाटक अथवा एकाकी प्रत्यक्ष दर्शन का साहित्य है, इसलिए उसकी भाषा-शैली सरल तथा सुबोध होनी चाहिए। सहज और बोधगम्य भाषा ही दर्शको को आह्लादित कर सकेगी। फिर, उसका पात्रानुकूल होना भी आवश्यक है। एक बच्चा न तो प्रौढ भाषा बोले और न एक अशिक्षित साहित्यिक भाषा अथवा विदेशी भाषा। भाषा के माध्यम से पात्रो का चरित्र-चित्रण भी होता है, क्योकि बोल-चाल से ही किसी का व्यक्तित्व भली प्रकार आँका जा सकता है।

उद्देश्य—कोई भी साहित्य बिना उद्देश्य के नही हो सकता। एकाकी की रचना के पीछे भी उसके सर्जक का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य निहित होता है। पर उद्देश्य इसमे अप्रत्यक्ष होता है, एकाकीकार जो कुछ भी कहना चाहता है वह पात्रो के माध्यम से ही कहता है। वह स्वय कुछ नही कहता। एक आलोचक का इस सम्बन्ध मे कहना है कि वाद्य सगीत की तरह एकाकी भी

राजनीतिक एकाकी—जिन एकाकियो का कथानक राजनीतिक गतिविधियो, युद्धो के समय देशो मे सघर्षो, जासूसी, राजनीतिक वार्त्ताओ, नेताओ की मनोवृत्तियो आदि से सम्बधित हो वे एकाकी राजनीतिक एकाकी कहलाते हैं।

ऐतिहासिक एकाकी—विगत की घटनाओ, ऐतिहासिक तथ्यो तथा चरित्रो पर आधारित एकाकी ऐतिहासिक एकाकी कहलाते हैं। इनमे वर्तमान परिस्थिति अथवा पृष्ठभूमि न होकर उस युग की पृष्ठभूमि होती है, जिस काल का कथानक लिया जाता है। भाषा और पात्रो की वेशभूषा तत्कालीन समाज से ही सम्बद्ध होती है। डा० रामकुमार वर्मा का औरगजेब की आखरी रात' एकाकी इसी प्रकार का ऐतिहासिक एकाकी है।

चारित्रिक एकाकी—किसी विशेष अथवा प्रसिद्ध चरित्र पर आधारित एकाकी को चारित्रिक एकाकी कहते है। इस प्रकार के एकाकी मे चरित्रगत विशेषताओ का वर्णन किया जाता है और यह ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक क्रियाकलाप मे आलोच्य पात्र की चरित्रगत विशेषताओ का उल्लेख हो।

व्यग्यात्मक एकाकी—व्यग्यात्मक कहानियो की तरह व्यग्यात्मक एकाकी भी होते हैं। किसी प्रसिद्ध नेता, व्यक्ति अथवा स्थिति के कार्यों से असन्तुष्ट होने के कारण, उस पर व्यग्य कसा जाता है। इसमे दर्द-भरा व्यग्य होता है जिसमे एक टीस होती है—एक चुभन होती है और व्यग्य का कारण होता है, आलोच्य व्यक्ति के कार्यो के प्रति असन्तोष। स्टेनली ह्वाटन का एकाकी 'The masters of the House' इसी प्रकार का एक व्यग्यात्मकता एकाकी है।

समस्यामूलक एकाकी—किसी समस्या को लेकर जिन एकाकियो का निर्माण होता है, वे समस्यामूलक एकाकी कहलाते हैं। इन्हे समस्या-एकाकी भी कहते हैं। इन एकाकियो मे किसी एक समस्या को उठाया जाता है और उसका पूर्ण रूप प्रस्तुत कर दिया जाता है, परन्तु समस्या का निदान नहीं दिया जाता। 'विशप कैंण्डिलस्टिक्स' इसी प्रकार की एक सफल एकाकी रचना है।

हास्य एकाकी—हिन्दी मे इन्हें प्रहसन भी कहते हैं। इन एकाकियो का उद्देश्य मनोरजन तथा हास्य की सृष्टि करना होता है। किसी स्थिति पर छींटा-कसी करके अथवा थोथे दम्भ आदि का प्रदर्शन करके अथवा विकृत हाव-भाव द्वारा किसी अन्धविश्वास आदि पर कटाक्ष करना इनका लक्ष्य रहता है। सुधार करना इनका मुख्य लक्ष्य है।

प्रकार के एकाकी एक दृश्य वाले और अनेक दृश्य वाले—दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं।

(४) प्रवक्तायुक्त एकाकी—आज के प्रयोगवादी युग मे कुछ एकाकीकार ऐसे कथानक का चयन करते हैं जो अनेक विभिन्न समयो और स्थानो मे फैला हुआ हो और उनका परस्पर कोई सम्बन्ध न हो। इन घटना-व्यापारो की परस्पर शृखला जोडने के लिए एकाकीकार प्रवक्ता अथवा 'नैरेटर' का उपयोग करता है। प्रवक्ता विशृखलित सूत्रो को परस्पर सम्बद्ध करने के लिए नेपथ्य से सूचना देता है, अवशिष्ट कथा कहता है। यह काय वह नेपथ्य से भी कर सकता है और रगमच पर प्रकट होकर भी। रगमच पर यदि वह प्रकट होता है तो वह एकाकी का एक पात्र होता है, जो सम्बद्ध घटनाओ की सूचना देता है।

(५) एकपात्रीय एकाकी—इस प्रकार के एकाकी को अग्रेजी मे 'मोनोड्रामा' कहते हैं। हिन्दी मे इसे 'स्वगत नाट्य' भी कहते हैं। इसमे आदि से अन्त तक एक ही पात्र रहता है और वह अपनी विभिन्न मुद्राओ, हाव-भावो और सवादो से अन्त तक अभिनय करता है।

(६) रगमच से सम्बन्धित एकाकी—आज विज्ञान द्वारा मनोरजन के अनेक समुन्नत साधन बढ जाने से रगमच-कला मे भी पर्याप्त विकास हो गया है और इसलिए अब नाटक अथवा एकाकी के लिए यह आवश्यक नही है कि वह प्रत्यक्ष रगमच पर ही अभिनीत हो। रेडियो, टेलीविजन आदि के प्रादुर्भाव से एकाकियो के रूप भी बदले हैं। अत प्रत्येक की रचना-प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। रगमच से सम्बन्धित इन एकाकियो को निम्न रूपो मे देखा जा सकता है—

(क) रग-एकाकी—वे एकाकी जो रगमच पर अभिनीत होते है, रग-एकाकी कहे जाते हैं। ये एकाकी उपर्युक्त प्रकारो मे से किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। रगमच पर अभिनीत होने के कारण इनकी कुछ सीमाएँ होती है। इनमे वही दृश्य दिखाए जा सकते है जो मच पर सरलता से अभिनीत हो सकें। साथ ही, दृश्यो की लम्बाई और विस्तार आदि पर भी ध्यान देना पडता है। युद्ध आदि के दृश्य इसमे वर्जित होते है, और मच पर ट्रेन भी नहीं दिखायी जा सकती। अत उसकी सूचना ही दी जा सकती है, दृश्य करके नही दिखाया जा सकता।

रसो के आधार पर किया जाए तो यह भी पिष्टपेषण मात्र होगा। एकांकिया का वैज्ञानिक-वर्गीकरण तो रचना-पद्धति और विषय के अनुसार हो ही सकता है सब वर्गीकरण इसी मे आ जाते हैं।

प्रश्न ७१—निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

(१) रोमानी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ,
(२) कला और नीति,
(३) रेडियो रूपक,
(४) क्या समीक्षा सजन है,
(५) गद्य पद्य की भाषा में न कोई अन्तर है और न हो सकता है,
(६) काव्यमूलक,
(७) जीवनी,
(८) रेखाचित्र,
(९) सस्मरण,
(१०) रिपोर्ताज।

(१) रोमानी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रत्येक भाषा के साहित्य-पथ का हरेक मोड किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो की प्रतिक्रिया के रूप मे समझा जा सकता है। पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र मे रोमानी आलोचना का प्रादुर्भाव भी किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो के कारण हुआ था। पाश्चात्य साहित्य जगत् मे नव्यशास्त्र की प्रतिक्रिया के रूप मे जो एक नयी साहित्यिक दृष्टि उभर कर आई, उसे काव्यशास्त्रियो ने स्वच्छन्दतावाद अथवा रोमानी साहित्यिक धारा की सज्ञा दी। नव्यशास्त्रवाद मे प्राचीन परम्पराओ एव परम्परागत आदर्शों के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव सुस्पष्ट था किन्तु यह साहित्यिक धारा अधिक समय तक नही चल सकी। स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमानी साहित्यिक दृष्टि के जन्म के लिए उत्तरदायी परिस्थितियो का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते है, "समाज जब पुराने आदर्शों को जीने के लिए इन्कार कर देता है, जब वस्तुस्थितियाँ ही उन आदर्शो को जीवित रखने के लिए उपयुक्त जलवायु का प्रावधान नही कर पाती तब स्वभावत ही साहित्यकार की चेतना भी उन पुराने जीवन मूल्यो को स्वीकार करने मे अपने आपको अक्षम मानती है। इन समस्त क्रान्तिकारी परिवर्तनो और नए जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा को जिन नए रूपो मे साहित्य के

सकता है कि अरस्तू ने विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया। इसका अर्थ है —**बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।**

(२) **नीतिपरक अर्थ**—जर्मन विद्वान् बारनेज ने मानव-मन के मनोद्‌गारों के आधार पर इसका अर्थ किया है। मानव-मन के अनेक मनोद्‌गारों में, जिनसे मनुष्य आक्रान्त रहता है, करुणा और भय—दुःखद है। त्रासदी इनके वंश का निराकरण करके सामंजस्य स्थापित करती है। अतः विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ—"**विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अन्तर्वृत्तियों का समंजन अथवा मन की शान्ति एवं परिष्कृति—मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।**"

(३) **कलापरक अर्थ**—इसके संकेत हमे गेटे तथा अन्य अंग्रेज स्वच्छन्दता वादी कवि आलोचको मे मिलते है। प्रो० वुचर ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे कलापरक सिद्धान्त कहा है। 'यह (विरेचन) केवल सिद्धान्त मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला सिद्धान्त का अभिव्यंजक है.... त्रासदी का कर्त्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नही है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोप प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम मे ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है। इस तरह, भावो के एक विशेप कलात्मक उन्नयन से एक परितोप प्राप्त होता है, यही विरेचन है।

अरस्तू का अभिप्राय—अरस्तू ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देते हुए किया है। अरस्तू ने स्पप्ट कहा—"**करुणा और त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।**"

डा० नगेन्द्र उक्त तीनों अर्थो को व्यर्थ का विषय-विस्तार मानकर अरस्तू विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देने के पक्ष मे नही है। उन्होंने 'अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारो के उद्रेक और उसके शमन से उत्पन्न मन:शान्ति तक ही सीमित' माना है।

विरेचन और आनन्द—अरस्तू विरेचन सिद्धान्त के द्वारा त्रासदी के **आस्वाद** की समस्या का समाधान करते है वह मानसिक विरेचन की प्रक्रिया **द्वारा** करुण (शोक) और त्रास में निहित अनिष्ट भावना से दंश का नाश मानते

महाराजाओ, साम्राज्ञियो और महारानियो के स्थान पर या तो ऐसे ऐतिहासिक पात्रो की अवतारणा की जो समाज मे निर्लिप्त, उससे टूटे-फूटे एकाकी जीवन लेकर किसी महासत्य के साधन मे व्यस्त हो अथवा वह ग्राम्य जीवन के निसगत चित्रण की ओर आकृष्ट हुआ जिसमे स्वाभाविक जीवन के आह्लाद से लसित कृषक-किशोरियो, ग्रामवालाओ, मोटी हड्डी वाले किसान और दूर तक फैली हुई उन्मुक्त प्रकृति के हृदयहारी दृश्य आदि की प्रमुखता थी।"

रोमानी आलोचना मे साहित्य के मूल्यो को लेकर भी एक नितान्त नई जीवन-दृष्टि का परिचय मिलता है। इस युग के आलोचको ने रागतत्व को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की। दो शब्दो मे कहा जा सकता है कि इस युग के आलोचको के मतानुसार, "सत्य स्वाभाविक मनोवेगो की अभिव्यक्ति है। मनुष्य अपने प्रकृत रूप से शिव है और सत्य के माध्यम से इसकी प्राप्ति ही उसका इष्ट है।

रोमानी आलोचना मे कल्पना को भी अत्यधिक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। कदाचित् इसी कारण इस युग के आलोचको ने प्रकृति को नानाविध रूपो मे देखा और समझा। रोमानी आलोचक के समक्ष इन्द्रधनुष केवल प्रकृति का हृदयहारी पुज नही था अपितु वह जीवन की नई प्रेरणा और स्फूर्ति भी था। प्रकृति मे रहस्यवादी प्रवृत्ति को ढूँढना, सर्वत्र सौन्दर्य के प्रति एक जिज्ञासापूर्ण दृष्टि रखना, व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा करके काव्य को सभी प्रकार की कृत्रिमताओ से मुक्त करना और कल्पना के विस्तार मे जीवन के नए मूल्यो को देखना—रोमानी आलोचना की यही कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

(२) कला और नीति

पाश्चात्य साहित्यजगत् मे कला के उद्देश्यो को लेकर पर्याप्त विचार-विश्लेषण हुआ है। मुख्यत कला के तीन उद्देश्य माने जा सकते हैं—मनोरजन के लिए, सत्य और नैतिकता का उपदेश देन के लिए तथा सौन्दय की अनुभूति के लिए। कला और नीति का परस्पर सम्बन्ध मूलत कला के उद्देश्य की ही व्याख्या करता है। इस सम्बन्ध मे सवप्रथम प्लेटो का नाम उल्लेख्य है जिसन साहित्य को अनैतिक और असत्य का पचारक सिद्ध किया और कदाचित् इसी कारण उसने साहित्य को स्थूलत दो भेदो मे रखा—सद्साहित्य और असद्साहित्य। प्लेटो के एतद्विषयक विश्लेषण को प्रस्तुत करते हुए एक

के साथ व्यक्त करे। नीतिकार पाठको को उद्बुद्ध कर सकता है, पर कलाकार का काय केवल जीवन को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करना और पाठको मे उसे ठीक-ठीक देखने की वृत्ति जगाना है।

इसके विपरीत आलोचको का एक ऐसा वर्ग भी रहा है जो कि कला की स्वतन्त्र सत्ता का प्रबल समर्थक कहा जा सकता है। आलोचको के इस वग मे ह्विसलर, क्रोचे, स्पिनगान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्पिनगान ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे कहा, "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढना ऐसा ही है जैसे रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूण।" इस वर्ग के आलोचको की मूल दृष्टि यही रही है कि विशुद्ध कला नीति, सदाचार, मर्यादा आदि के प्रति उदासीन होती है। इस प्रकार आलोचको का यह वग यह मानकर चलता है कि कला का उद्देश्य न तो नैतिक उपदेश देना है और न किन्ही महान सामाजिक, नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा करना ही है। कला के प्रति इस दृष्टिकोण को शास्त्रीय भाषा मे 'कला के लिए कला' नामक सिद्धान्त के रूप मे समझा जा सकता है।

इन सभी तर्क-वितर्कों के रहते हुए भी इस सम्बन्ध मे कोई विवाद नही उठाया जा सकता है कि कलाकार अपनी कलाकृति मे जीवन और उसकी समस्याओ को व्यक्त करता है और जीवन अपनी समग्रता मे नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक इन सभी जीवन-दृष्टियो से मिल-जुल कर बनता है। अतएव नैतिकता से नितान्त अविच्छिन्न जीवन की कल्पना भी नही की जा सकती। सचाई यह है कि कला नीति-उपदेशक नही बन सकती। यदि कलाकार नैतिकता के उपदेश देने की बात सोचता है, तो वह कलाकार के गौरव मे च्युत हो जाता है। दो शब्दो मे, कहा जा सकता है, "कला तो जीवन और प्रकृति के दृश्यों, घटनाओ और उनके सम्भाव्यो को कलात्मक रूप देकर पुनरुपस्थित करती है। इससे परे उसका कोई कार्य नही। यदि कला मे नैतिकता और सत्य आता है तो दृश्यो और घटनाओ की विशेषता से। कला सीधे न तो नैतिकता का उपदेश देती है और न सत्य का। कलाकार को नैतिकता और सत्य मे सुन्दर की अनुभूति उपस्थिति करनी चाहिए, उनका उपदेश या प्रचार नही करना चाहिए।"

उस बातचीत को रिकार्डबद्ध करता रहता है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "रेडियो रूपको मे सब प्रकार की वास्तविकताओ का नाटकीकृत रूप उपस्थित किया जाता है। जिस प्रकार वास्तविकताओ की कोई सीमा नही है, उसी प्रकार रूपको की भी कोई सीमा नही है।" रेडियो रूपको के सन्दभ मे अग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार मेकनीस का नाम उल्लेखनीय है। मेकनीस ने रेडियो रूपको को एक स्वतन्त्र कला के रूप मे स्वीकार किया है और उनके मतानुसार वास्तविकताओ का नाटकीकृत रूप ही रेडियो रूपको में व्यक्त होता है। बी० बी० सी० मे रेडियो रूपक अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुए है। और केवल रेडियो रूपको के लिए ही वहाँ एक अलग विभाग विद्यमान है।

जहाँ तक हिन्दी मे रेडियो रूपको के विकास का प्रश्न है, इस दिशा मे कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नही हुई है। यद्यपि हिन्दी रेडियो पर भी तथ्य-प्रधान रूपको का प्रसारण किया जाता है, फिर भी, उन्हें विशुद्ध रूप मे रेडियो रूपक नही कहा जा सकता, क्योकि, इन रूपको मे रिकार्डों का प्रयोग नही किया जाता। इस प्रकार की तथ्यप्रधान रचनाओ को भी अन्य किसी उपयुक्त नाम-करण के अभाव मे रेडियो रूपक ही कह दिया जाता है। जिन तथ्यप्रधान रचनाओ मे रिकार्डों का प्रयोग किया जाता है उन्हे रेडियो-फीचर अथवा रेडियो डाकूमेण्ट्री के नाम दिये जाते हैं। निष्कपत कहा जा सकता है कि रेडियो रूपक मूलत रेडियो नाटको का ही एक भेद है। रेडियो रूपक मे वास्तविकताओ को नाटकीकृत रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। विशिष्ट दृश्यो, घटनाओ के रिकार्ड तैयार करके रेडियो रूपककार उन्हे अत्यन्त सजीव और रोचक ढग से प्रस्तुत करता है।

(४) क्या समीक्षा सजन है ?

पाश्चात्य आलोचना जगत् मे समीक्षा के महत्व को लेकर विद्वानो ने समय-समय पर विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। इस दृष्टि से पाश्चात्य आलोचको को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है। आलोचको के एक वग के अनुसार समीक्षा शक्ति अत्यधिक निम्नकोटि की शक्ति होती है, जबकि आलोचको ने एक अन्य वग के अनुसार समीक्षा शक्ति सर्जनात्मक शक्ति से भी अधिक महत्वपूण होती है। सचाई यह है कि पाश्चात्य आलोचना जगत मे मानवीय शक्ति के मुख्यत दो ही रूप सामने आते हैं—सजनात्मक शक्ति और समीक्षा शक्ति। अग्रेजी के महान आलोचक मैथ्यू आनल्ड के मतानुसार समीक्षा शक्ति

पूँजी जुटाता है जिस पर कवि सृजनात्मक साहित्य की नींव धरता है और साहित्य सृजन करता है। कवि की तुलना में आलोचक की महत्ता प्रतिपादित करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते है—"कवि का कार्य केवल आलोचक द्वारा खोजे गए और प्रतिपादित किए गए विचारो का सश्लेषण करना है। शक्तिशाली आलोचक सृजनात्मक साहित्य के लिए उपजाऊ भूमि तैयार करता है, विचारो का अनुसन्धान एव उनका प्रतिपादन करता है।"

समीक्षात्मक शक्ति के उद्देश्य का विश्लेपण करते हुए यह कहा जाता है कि आलोचक का कार्य केवल सृजनात्मक साहित्य के लिए उपयुक्त आधारभूमि तैयार करना है। सृजनात्मक साहित्य का मूलाधार ससार की सर्वोत्कृष्ट बातें, विचार और मानवीय भाव होते है और आलोचक इन्ही भावो आदि को जुटाता है। इस प्रकार आलोचना का उद्देश्य केवल यही है कि साहित्य सृजन के लिए उपयुक्त आधारभूमि तयार की जाए। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सृजनात्मक शक्ति के मूल तन्तु समीक्षात्मक शक्ति मे छिपे होते हैं और कदाचित् इसलिए समीक्षात्मक शक्ति को भी सृजनात्यक शक्ति से भी अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसी बात को इस ढग से भी कहा जा सकता है कि समीक्षा भी एक प्रकार का सजन है, क्योकि, सृजनात्मक साहित्य मे जो उत्कृष्ट और नूतन विचार दीखते हैं और जो समाज का स्पर्श करते हैं, उनका मूल कवि अथवा लेखक मे नही, आलोचक की समीक्षात्मक शक्ति मे होता है। अत समीक्षा भी एक प्रकार का सजन है।

(५) गद्य-पद्य की भाषा मे न कोई अन्तर है और न हो सकता है

पाश्चात्य साहित्य जगत् मे काव्य विषयो पर विवेचन करते हुए अधिकाश आलोचको ने काव्य की भाषा शैली पर भी विचार किया है। "गद्य-पद्य की भाषा मे कोई अन्तर है न हो सकता है।" यह उक्ति भी अग्रेजी के एक महान कवि और समर्थ आलोचक विलियम वर्ड्सवर्थ की है। वर्ड्सवर्थ से पूर्व नव्यशास्त्रवादी युग मे भाषा को केवल विचारो और भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम समझा जाता था और उस युग मे भाषा का नही, उससे व्यक्त भावो और विचारो का अधिक महत्त्व होता था। नव्यशास्त्रवाद के महान् आलोचक दाते की मान्यता यह थी कि काव्य मे मानवीय भावो का सहज उच्छलन नही होता अपितु श्रम और निरन्तर अभ्यास से ही काव्य का सृजन

सम्बन्ध मे लिखा था कि वह जनसाधारण की भाषा हो और छन्दबद्ध रचना तथा गद्य की भाषा मे न कोई तात्त्विक अन्तर होता है और न हो सकता है।" अपनी इस मान्यता के समर्थन मे वर्ड्सवर्थ यह कहना है कि गद्य की भाषा हो चाहे पद्य की भाषा, दोनो प्रकार की भाषाओ की अभिव्यजना तथा ग्रहण करने की इन्द्रियाँ एक ही होती है अत दोनो भाषाओ मे कोई तात्त्विक अन्तर नही होता, तथापि जब वर्ड्सवर्थ जनसाधारण की भाषा की बात कहता है तो उसका मूल आशय एकदम वही नही है जो कि 'जनसाधारण की भाषा —शब्दो से भासित होता है।

कालान्तर मे वर्ड्सवर्थ ने यह स्पष्ट किया है, "जनसाधारण की भाषा से उसका आशय ग्राम्य भाषा से नही है।" बाद मे वर्ड्सवर्थ ने स्वय ही यह कहा है कि काव्य की भाषा का चुनाव मानव-समाज की वास्तविक भाषा मे से किया जाना चाहिए। स्पष्टत वह यह नही चाहता कि मनुष्यो की सामान्य अथवा ग्राम्य भाषा को यथावत ग्रहण कर लिया जाए अपितु वह भाषा के चुनाव पर बल देता है। यह स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते है, "वह चाहता है कि अभिव्यक्ति सरल, सीधी और आडम्बरहीन होनी चाहिए और वह पाठक के हृदय मे अरुचि और वितृष्णा पैदा न करे। इसी के लिए वह भाषा मे चुनाव की बात कहता है क्योकि इसी विधि द्वारा कवि ग्राम्यत्व, तुच्छता तथा सामान्यता के दोष से बच सकता है।" वर्ड्सवर्थ वस्तुत यह चाहता था कि कवि की भाषा इस प्रकार की होनी चाहिए कि न तो उसमे दुर्बोधता हो और न आडम्बर अथवा कृत्रिमता। काव्य की भाषा काव्य की भाति सहज और स्वत स्फूर्त होनी चाहिए। गम्भीर चिन्तन अथवा मनन के कारण परिष्कृत और परिमार्जित भाषा, काव्य की आदर्श भाषा नही हो सकती। इस प्रकार जब वर्ड्सवर्थ जनसाधारण की भाषा के प्रयोग पर बल देता है तो उसका वास्तविक उद्देश्य यही है कि काव्य भाषा ऐसी होनी चाहिए जो कि हृदय से स्वत निकली हुई हो।

(६) काव्यमूल्य

साहित्य अथवा काव्य के क्षेत्र मे मूल्य का आशय अंग्रेजी के 'वैल्यू' (value) शब्द से होता है। जीवन के विविध क्षेत्रो मे बहुविधि मूल्यो की बात कही जाती है। साहित्य मे मूल्य का आशय केवल नैतिक अथवा सामाजिक मूल्यो से ही नही होता और यदि कही ऐसा हो जाता तो ससार भर के नैतिक ग्रन्थ

व्यक्ति के ये मूल्य समाज, मोहल्ले, देश, राष्ट्र और विश्व के मूल्यो से टकराते हैं और इस प्रकार मूल्यों का द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है। इन मूल्यो से सघर्ष मे व्यक्ति बनता भी है, बिगडता भी है। इन विविध मूल्यो के परस्पर सघर्ष के अन्त मे केवल एक ही मूल्य बच रहता है और वह है मानवीय मूल्य। मानवीय मूल्य ही सबसे सार्थक और सारवान मूल्य होत हैं। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "यद्यपि मानवतावाद को भी विशेषणो से परिभाषित किया गया है, यथा—वैज्ञानिक, क्रान्तिकारी आदि, मानवीय मूल्य ही अन्तत साहित्य मे विवेक के बढाने की दिशा मे सहायक हो सकते हैं।' इस प्रकार का काव्य अथवा साहित्य के क्षेत्र मे सर्वाधिक सारवान मूल्य यहाँ मानवीय मूल्य होत हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों मे काव्य मूल्यो की चर्चा सबसे पहले आई० ए० रिचर्ड् स ने की थी। उसके मतानुसार समय के साथ-साथ सामाजिक और नैतिक मूल्य बराबर बदलते रहते हैं। शिव की परिभाषा देते हुए रिचर्ड्स कहता है, "हमारे आवेगो का आयाम और हमारी अभिलाषाओ की तृप्ति को ही शिव अथवा मूल्यवान कहना चाहिए।' रिचर्ड् स के अनुसार साहित्य अथवा काव्य मे ऐसे मूल्य निहित होते हैं जो कि मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य की ठीक उसी प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार कोई चिकित्सक मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करता है। रिचर्ड् स ने श्रेष्ठ काव्य की विशेषताओ का वर्णन करते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे यह स्थापित किया है कि वही काव्य अथवा साहित्य मूल्यवान होता है जो मनुष्य के परस्पर विरोधी भावावेगो मे एक प्रकार का समतोलन स्थापित कर सके। एक विद्वान के शब्दो मे, 'रिचर्ड् स का मत है कि कला मूल्यवान अनुभव प्रदान करती है और मूल्यवान अनुभव वह है जिसमे विभिन्न अगभूत प्रेरणाओ की इस प्रकार तुष्टि होती है कि यह तुष्टि किन्ही अधिक महत्त्वपूण प्रेरणाओ की तुष्टि मे बाधक नही होती और जिससे जीवन की व्यर्थता मे कमी होती है।" इसी क्रम मे रिचर्डस कवि और उसके कवि कर्म का भी विश्लेषण करत हैं। कवि अपनी अनुभूतियों को इस खूबी के साथ अकित करता है कि वे अनुभूतिया चिरस्थायी बन जाती हैं और साहित्य मे सबसे अधिक मूल्य इन्ही अनुभूतिया का होता है। तथापि रिचर्ड् स के अनुसार साहित्य मे नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा मनोवैज्ञानिक रूप मे ही होनी चाहिए रिचर्ड् स क अनुसार, "अच्छा वही है जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वह है जो

मे महान् ऐतिहासिक व्यक्तियो की जीवनियां लिखी गयी और निस्सन्देह इन जीवनियो मे इन महान व्यक्तियो के जीवन के ब्यौरे लिपिवद्ध किए गए। सुधार युग मे जीवनियो की वाढ-सी आ गई, क्योकि इस युग म यह धारणा बहुत वलवती हो गयी थी कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व होता है जिसकी विशिष्टता ही उसे अ य व्यक्तियो से अलग करती है।

जीवनी लेखक का काय अत्य त दुष्कर होता है, विशेप रूप से प्राचीन और मृत व्यक्तियो से सम्वधित जीवनियो के बारे मे, क्योकि, उनके सम्ब ध मे प्रामाणिक तथ्यो और घटनाओ का प्राय अभाव रहता है और यदि वे उपलब्ध भी होते है ता उनमे लेखक का पक्षपातपूण एव पूर्वाग्रह युक्त दृष्टिकोण मिलता है। अधिकाशत इन जीवनियो मे केवल गुणो और विशेपताओ की भरमार होती है, व्यक्ति का निष्पक्ष मूल्याकन नही होता है। जीवनी लिखने के लिए अपेक्षित सामग्री का चयन कई स्रोतो से किया जा सकता है। अग्रेजी के महान् आलोचक कैसल ने मुख्यत छह स्रोत गिनाए है—

(क) समकालीन व्यक्तियो के सस्मरण, (ख) यदि जीवनी-लेखक स्वय चरित-नायक व्यक्ति का समकालीन हो तो उसके अपने सस्मरण, (ग) डायरी, अधिकृत और प्रामाणिक पत्र, कागजात आदि (घ) यदि चरितनायक बहुत पहले का नही है तो उसके सम्व ध मे जीवित व्यक्तियो के सस्मरण और स्मृतिया, (ड) उसी चरितनायक अथवा विपय पर पहले से लिखी गई पुस्तके तथा अ य प्रकाशित सामग्री, और (च) चरितनायक से सम्बधित महत्वपूण स्थानो का भ्रमण करना और वहाँ से अपेक्षित प्रमाण आदि का चयन।

इस सम्व ध मे यह भी दृष्टव्य है कि जावनी, चरितनायक के जीवन का लेखा-जोखा होते हुए भी इतिहास नही होती। जीवनी और इतिहास निश्चित ही दो पृथक् अवधारणाएँ है। जीवनी मे चरितनायक के जीवन से सम्वधित ब्यौरे, उसके जीवन-मरण की तिथियाँ, उसके महान कृत्यो आदि का समावेश हाता है कि तु ये सव ब्यौरे आदि इस कौशल के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं कि वे इतिहास के नीरस ब्योरो और विवरणो से कही अधिक आकर्पक, सुरुचिपूण और हृदयस्पर्शी वन जाते है। इस स्थिति के मूल मे जीवनी लेखन और इतिहासवेत्ता के अलग-अलग काय क्षेत्र है। इतिहासवेत्ता का उद्देश्य एक वैज्ञानिक की भाति तथ्यो का सकलन और प्रस्तुतीकरण करना होता है। उसे इस बात की चि ता होती कि उसकी भापा-शैली कैसी होती है। इसके

सम्मुख वह व्यक्ति, वातावरण या प्रसग साकार हो उठता है। गद्य में लिखे गए इसी चित्र को रेखाचित्र कहते है।" वस्तुत रेखाचित्र लिखने वाला चरितनायक के जीवन की कतिपय स्मृतियो और अनुभूतियो को कला का सस्पश देकर उभारता है। रेखाचित्र जीवन की रेखाओ का ऐसा चित्र होता है जिसमे साकेतिक अधिक होती हैं। उसमे मूर्तता और रूप-रग का अभाव होता है। उसके कथानक मे बिखरे हुए सूत्र होते हैं, कोई सघर्ष नही होता। रेखाचित्र मे गहराई होती है, व्यापकता नही। उसका कैनवास भी अपेक्षतया छोटा होता है अत उसमे जीवन के तथ्यात्मक ब्यौरो के लिए अधिक अवकाश नही होता। रेखाचित्र की एक अन्य विशेषता उसकी स्थिरता है। वह एक चित्र की भांति स्थिर होता है, उसमे जीवन का सघर्ष अथवा उतार-चढाव नही होता। होता यह है कि रेखाचित्र लिखने वाला अपने चरितनायक के जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर चलता है और उस पक्ष को इतनी कुशलता के साथ वर्णित करता है कि पाठक को उसके जीवन का केवल वही पक्ष दीखता है, शेष पक्ष उभर कर नही आ पाते। रेखाचित्र लिखने वाले व्यक्ति को विश्लेषण-पद्धति के बल पर अपने चरितनायक के जीवन के ब्यौरो को प्रस्तुत करना होता है। विश्लेषणात्मक बुद्धि के अभाव मे रेखाचित्र का सृजन ही सम्भव नही है। रेखाचित्रकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने चरितनायक के जीवन की अनुभूतियो और घटनाओ का विश्लेषण करे और फिर उन्हें स्वानुभूति का सस्पर्श देकर प्रस्तुत करे। रेखाचित्र की एक अन्य विशेषता यह होती है कि उसमे एक ही व्यक्ति का खाका होता है। यही नही उस व्यक्ति के जीवन की भी पूरी तसवीर नही उतारी जाती, वरन् उसमे जीवन के किसी पक्ष-विशेष को उद्घाटित किया जाता है। इतना अवश्य है कि रेखाचित्र मे व्यक्ति के जीवन का जो पक्ष उद्घाटित होता है, वह पूरे कौशल और बारीकियो के साथ होता है। रेखाचित्र मे व्यक्ति अथवा उसका व्यक्तित्व ही उभारा जाता है। व्यक्ति का चित्रण एक नितान्त स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप म किया जाता है। अत स्वभावत रेखाचित्र मे वैयक्तिक सम्पर्क की ऊष्मा बनी रहती है और समूचे चित्र मे एक प्रकार की विश्वासनीयता एव सहजता व्याप्त रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से रेखाचित्र के आन्तरिक पक्षो का सम्यक् उद्घाटन हो जाता है। रेखाचित्र की शैली और भाषा आदि से सम्बन्ध मे भी विचार

सम्मरण अधिकाशत मृत व्यक्तियों को लेकर जाते है। कई बार स्वय लेखक ही अपने जीवन के सस्मरण प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति मे स्वय लेखक द्वारा लिखे गए सस्मरण आत्मकथा के बहुत निकट समझे जा सकते हैं।

सस्मरण के सही रूप को समझने के लिए सस्मरण और रेखाचित्र के बीच के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। रेखाचित्रो मे वर्णनात्मकता की बहुलता होती है, जबकि सस्मरण मे विवरणो की प्रधानता होती है जो कि पाठक के मन पर एक गहरी छाप छोड जाती है। रेखाचित्रो मे कल्पना का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है और इतिहास का आश्रय कम से कम लिया जाता है। इसके विपरीत सस्मरणो मे कल्पना का प्रयोग कम रहता है और उनमे इतिहास तत्त्व की प्रधानता रहती है। रेखाचित्रो मे चरितनायक का अपेक्षयता अधिक सजीव और स्वच्छन्द चित्रण होता है, जबकि स्मरण मे चरितनायक के व्यक्तित्व की केवल वही विशेषताएँ उभर पाती हैं जो कि सस्मरण के लेखक ने स्वय अनुभव की हैं। इस प्रकार जहाँ तक लेखक और चरितनायक के परस्पर सम्बन्धो का प्रश्न है, यह सम्बन्ध सस्मरणो मे अधिक निकट और अविच्छिन्न होता है। रेखाचित्रो मे लेखक का व्यक्तित्व फिर भी बहुत कुछ दबा हुआ रहता है।

(१०) रिपोर्ताज

हिन्दी मे रिपोर्ताज शब्द अग्रेजी के 'रिपोर्ट' शब्द के बहुत निकट है। अन्तर केवल यही है कि रिपोर्ट का लेखक समाचार पत्रो का सवाददाता होता है, जबकि रिपोर्ताजो का लेखक विशुद्ध रूप से एक साहित्यकार होता है। रिपोर्ट पत्रकारिता का विषय है तो रिपोर्ताज साहित्य की एक विधा है। साहित्य की यह विधा लगभग तीन दशक ही पुरानी है और इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि रिपोर्ताज मे तथ्यात्मकता के साथ साथ साहित्योचित सवेदनशीलता भावुकता एव कलात्मकता बराबर बनी रहती है। रिपोर्ताज की एक अन्य विशेषता यह होती है कि उसमे वास्तविक घटनाओ का समावेश होता है। तथापि घटनाओ का प्रस्तुतीकरण रोचक कथात्मक शैली मे किया जाता है ताकि वह केवल घटनाओ एव तथ्यो का सकलन मात्र न रह जाए। स्वभावत रिपोर्ताज मे लेखक के लिए कोरी कल्पनाओ का जाल बिछाने के लिए अधिक अवकाश नही रहता। रिपोर्ताज की एक अन्य विशेषता

बिना त्रास के भी हो सकती है। अरस्तू त्रासहीन करुण को आदर्श नहीं मानते। इसलिए अरस्तू का आनन्द अभावात्मक है और भारतीयों का भावात्मक।

करुण रस का आस्वाद और विरेचन-सिद्धान्त—अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भारत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नही है। प्रकारान्तर से वह रस-सिद्धान्त में अन्तर्भूत है। क्योकि, रस-विरेचन के दो अग है—(१) अतिशय उत्तेजन द्वारा मनोवेगों का शमन तथा (२) तज्जन्य मनःशान्ति। मनोवेगो की अत्यधिक उत्तेजना स्थायीभावों के चरमोत्कर्ष के समान ही है और मनः-शान्ति रस-सिद्धान्त की 'समाहिति' की अवस्था है। इस 'समाहिति' की अवस्था में पाठक या श्रोता का मन काव्यानन्द के आस्वाद में तत्पर हो जाता है। अतः त्रासदी का आनन्द या तो मनःशान्ति की स्थिति मात्र है या वह कला के आनन्द से एकात्म है।

पर करुण रस के आस्वाद मे और उक्त आस्वाद में अन्तर भी है। क्योंकि करुण रस उद्वेग का शमन मात्र न होकर उसका भोग है। यद्यपि इसमे भी भावो का परिष्कार होता है, पर रस उससे अलग है—वह तो राग-द्वेष से मुक्त है। इसके लिए तो आत्मा मे सत्त्व का उद्रेक होना आवश्यक है। भारतीय आचार्यो ने आनन्द के विषय मे भावात्मक और अभावात्मक—दोनों सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

इस सन्दर्भ में डा० नगेन्द्र का मत उद्घृत करना समीचीन होगा। उन्होंने भारतीय करुण रस के आस्वाद को विरेचन मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका सुन्दर निदर्शन किया है। वह त्रासदी के आस्वाद की समस्या के ऊपर 'रस-सिंद्धान्तों' मे विचार करते है। अरस्तू ने विरेचन के सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखा है. "त्रासदी किसी गम्भीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य को अनुकृति का नाम है "जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।" अर्थात् त्रासदी में शोक व त्रास अतिरंजित रूप में दिखाए जाते है—बाह्य उत्तेजना से प्रेक्षक के भाव व मनोविकार सहसा उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो उठते है और इस तरह उनके दंश का निराकरण हो जाता है। मनुष्य के मन मे नाना प्रकार के भाव उमड़ते-घुमड़ते रहते है। इनसे मुक्ति के दो उपाय डा० नगेन्द्र ने बताए है—

प्रश्न ५—आधुनिक पाश्चात्य आलोचना की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित कथन की व्याख्या कीजिए—

"अरस्तू आलोचना का गणितज्ञ है तो कॉलरिज उसका प्रथम पुरोहित।"

पाश्चात्य आलोचना की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। जिसका आरम्भ यूनान के आद्याचार्य प्लेटो, अरस्तू आदि से माना जाता है। प्राचीन यूनानी परम्परा के पश्चात् ड्राइडन और डा० जान्सन आदि मध्ययुगीन काव्यशास्त्री आते है जिन्होंने "एक ओर बुद्धि को कल्पना से अधिक महत्व दिया तथा साहित्य मे सुगमता, सरलता और स्पष्टता पर बल दिया, दूसरी ओर कल्पना के सौन्दर्य एवं गौरव की व्याख्या की गई।" आधुनिक पाश्चात्य आलोचना का स्वरूप एकदम बदला हुआ था। अँग्रेजी साहित्य मे आधुनिक पाश्चात्य आलोचना का जन्म सन् १७९८ में विलियम वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रकाशित 'लिरीकल बैलड्स' के साथ माना जाता है। आधुनिक पाश्चात्य आलोचना की परम्परा मे कॉलरिज, शैली, कीट्स आदि महान कवियो का अभूतपूर्व योगदान रहा। इस युग की आलोचनापद्धति को शास्त्रीय भाषा मे स्वच्छन्दतावाद की संज्ञा दी गई। इस युग की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताएँ थी जिनका विवेचन निम्नानुसार है।

स्वच्छन्दतावादी धारा की सबसे पहली विशेषता यह है कि उस युग के कवियों ने साहित्य मे व्याप्त सभी प्रकार की कृत्रिमता और आडम्बरो से मुक्त होने का अनथक प्रयास किया। एक विद्वान के शब्दो मे, "**इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप स्वच्छन्दतावाद ने कृत्रिमता के अत्याचार से मुक्त होने का आन्दोलन आरम्भ कर कविता में जन-सामान्य की भाषा को अपनाने की बात पर बल दिया, जो अधिक सफल तो नहीं हुई, पर कम से कम अनावश्यक आडम्बर, कृत्रिमता, बाह्य-सज्जा को हटाने में सफल हुई।**" इस साहित्यिक धारा मे एक प्रकार के विद्रोह की प्रवृत्ति भी सर्वत्र मिलती है। विद्रोह की इस प्रवृत्ति के मूल मे फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का उल्लेख किया जा सकता है। अतः स्वच्छन्दतावादी धारा मे स्वभावतः भौतिक शक्तियो के अत्याचार के प्रति एक तीव्र विद्रोहात्मक स्वर सुनाई पड़ता है। विद्रोह की यह प्रवृत्ति अपने आप मे बहुत व्यापक थी। भौतिक शक्तियो के अत्याचार के विरुद्ध ही नही, अपितु शास्त्रीय एवं साहित्यिक परम्पराओं के विरुद्ध भी एक विद्रोह का सशक्त भाव मिलता है। इस युग के कवियों ने नए-नए साहित्यिक प्रयोग किए और काव्य

समाज के प्रति विद्रोह करता है तथा तथ्यो और कर्तव्यो के जगत को स्वप्नो और भावोन्माद की वेदी पर बलिदान कर देता है। इस सबसे स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी का मन शिशु एवं असंस्कृत, मुक्त वनवासी के समान होता है जो केवल अभियन्त्रित भावो के जगत् मे विहार करता है।" स्वच्छन्दतावादी धारा से सम्बन्धित इस विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा की इस स्वच्छन्दतावादी पद्धति की बहुविध विशेपताओं मे जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति उभर कर आती है, वह है 'उदारवाद'। कदाचित् इसी कारण स्वच्छन्दतावाद को साहित्यिक उदारवाद की संज्ञा दी गई है। इस साहित्यिक धारा के नियमों और परम्पराओ के प्रति खुला विद्रोह और सहजता एवं स्वच्छन्दता की प्रतिष्ठा है। साहित्य को शास्त्रीय परम्पराओं और नियमों को जकड़ से मुक्त करके उसे कल्पना और सौन्दर्य, भावना और आनन्द के आलोक मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय स्वच्छन्दतावाद को ही दिया जा सकता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्पराओं में अरस्तू को आद्याचार्य होने का गौरव प्राप्त है। अरस्तू ने ही सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय विपयों पर व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप मे विवेचन किया। उनके काव्यशास्त्रीय विवेचन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी स्पष्टता और निर्भ्रान्त प्रवृत्ति है। अरस्तू की मूल दृष्टि वस्तुपरक रही है और निस्सन्देह इसी कारण उन्होने काव्य के रचना-विधान पर तो बहुत बल दिया है जिसके कारण उसका आत्मतत्त्व उपेक्षित ही बना रहा। यह निर्विवाद है कि काव्य मूलतः हृदय का व्यापार होता है और अरस्तू ने केवल वस्तु-दृष्टि के बल पर ही काव्य को समझने का प्रयास किया है। उनके काव्य सम्बन्धी विवेचन को पढ़कर ऐसा सहज ही विश्वास आ जाता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित रचना-विधान का अनुसरण करने से श्रेष्ठ साहित्य का सृजन स्वतः ही हो जाएगा। इसी कारण अरस्तू के काव्यशास्त्रीय विवेचन के सम्बन्ध मे एक विद्वान कहते है कि "उनका विवेचन आरम्भ से अन्त तक तर्क-पुष्ट और विवेक-संगत है—एक रस होकर निर्विकार मन से विवेचना करते जाते है जैसे कोई वैज्ञानिक विश्लेषण करता है, कही भी उनके मन में तरंग नही आती, मानो काव्य का सर्जन और रसन कोई निष्प्राण प्रक्रिया हो। इसी कारण अरस्तू की आलोचना कही रसार्द्र नही होती—उसका आस्वाद-पक्ष सदा निर्बल रहता है। यह एक विचित्र संयोग है कि प्लेटो काव्य के शत्रु

और काव्य के मध्य अविच्छिन्न सम्बन्ध माना है। उनके मतानुसार, "संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय अथवा विचार है और जगत् विषयीकृत ब्रह्म है।" उन्होने संसार को ही ब्रह्म की कला के रूप मे और मानव-मन को स्रष्टा का प्रतिबिम्ब माना है। दूसरे शब्दों मे, यह संसार ब्रह्मा का आत्मज्ञान है और इसी प्रकार मानव जगत् मनुष्य का आत्मज्ञान है। **कॉलरिज** के मतानुसार, "जैसे ब्रह्म कल्पना बाह्य-प्रवृत्ति को ब्रह्म-मन के सम्मुख उपस्थित करती है, वैसे ही मानव-कल्पना प्रवृत्ति के उस क्षेत्र को, जिसमे मानव-मन के समक्ष लाती है।" मनुष्य के आत्मज्ञान की कुँजी कल्पना है जिसके माध्यम से वह अपना जगत् संजोता है। कॉलरिज के इसी तत्त्वेत्ता रूप को लेकर उसे पुरोहित की संज्ञा दी जाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य के प्रति अरस्तू की मूल दृष्टि एक वैज्ञानिक अथवा गणितज्ञ की वस्तुपरक दृष्टि रही है और यही कारण है कि वह काव्य के केवल रचना-विधान को ही देख और समझ सका है। अरस्तू की दृष्टि मे काव्य का आत्मतत्व उपेक्षित ही रहा। इसके विपरीत कॉलरिज सहित स्वच्छन्दतावादी कवियो और साहित्यमर्मज्ञो ने काव्य के आत्मतत्व की प्रतिष्ठा की और कल्पना को महिमान्वित किया। कल्पना सम्बन्धी विवेचन मे कॉलरिज ने एक तत्ववेत्ता की भाँति गम्भीर और मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। कदाचित् इसीलिए अरस्तू को एक गणितज्ञ और कॉलरिज को पुरोहित कहा जाता है।

प्रश्न ६—मैथ्यू आर्नाल्ड के पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में दिए गए योगदान का उल्लेख कीजिए।

उन्नीसवी शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षको मैथ्यू आर्नाल्ड का विशेष स्थान है। वह काव्य को जीवन की व्याख्या करने वाला एक माध्यम मानते थे। वह काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता तथा आवश्यकता पर बल देते है और मानते है कि साहित्य तथा उसकी समस्याएँ जीवन की समस्याओ से पूर्णतः अविच्छिन्न हैं। अतः साहित्य का मूल्यांकन भी जीवन के संदर्भ मे ही होना चाहिए जो साहित्य जीवन से असम्बद्ध है, वह व्यर्थ है और उसकी मीमांसा की भी कोई उपादेयता नही है। यही कारण है कि वह 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति का साधन है', मानने की अपेक्षा 'साहित्य को जीवन की आलोचना' मानते है।

आर्नाल्ड ने काव्य को लोकमंगल अथवा शिव की दृष्टि से देखा है, अतः

उनका विचार था कि काव्य में वाह्य तत्त्वो की अपेक्षा आन्तरिक तत्त्वो का अधिक महत्त्व है। यह आन्तरिक पक्ष सूक्ष्मता से चित्रित होना चाहिए और तभी काव्य स्थायी महत्व की वस्तु बन सकेगा तथा शाश्वतता, उसके अनुसार, प्राचीन विषयो मे अधिक है, उनमें जिज्ञासा भी रहती है और उनके माध्यम से अधिकतम पूर्णता के साथ सत्य उद्घाटित किया जा सकता है। वर्तमान तथा समसायिक विषय अधूरे है। अतः उन्हे महान् काव्य के लिए वह अनुपयोगी मानते है। प्राचीन विषय ही सनातन मनोवेगों को उत्तेजित कर सकते है—उनमे भव्यता भी होती है। आधुनिक जीवन की घटनाएँ तो अस्थायी होती है, उनका महत्त्व क्षणिक होता है।

आर्नाल्ड इस तरह कविता को महान् कार्य का गम्भीर प्रतिपादन मानते है और उसका उद्देश्य उच्चतम आनन्द प्रदान करता है। केवल मनोरंजन ही उसका लक्ष्य नही है, पाठक को स्फूर्ति व आन्नद देना और सहृदय के मन को सम्मोहित कर आह्लाद से भरने की शक्ति लाने का लक्ष्य हो। **"वही कविता उत्तम है जिनमें निर्माण करने, पोषण करने और आनन्द प्रदान करने की शक्ति हो।"**

उत्तम काव्य के लिए वह उत्कृष्ट शैली भी आवश्यक मानते है। उत्कृष्ट शैली क्या है, उसकी व्याख्या वह 'लास्ट वर्ड्स' मे करते है, **"यह उत्तम शैली काव्य में तब आती है जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्श व्यक्ति किसी गम्भीर विषय का सरलता और स्वच्छता के साथ निरूपण करता।"**

उन्होने उत्कृष्टता के लिए चार मानदण्ड निर्धारित किए है—(१) काव्यात्मकता, (२) उच्चादर्श, (३) सरसता और (४) स्वच्छता।

उत्कृष्ट शैली काव्य के किसी विशेष अंश में अपेक्षित नही है, वरन् सम्पूर्ण काव्य मे उत्कृष्ट शैली होनी चाहिए। इसलिए उन्हे कीट्स आदि कवियो से शिकायत है कि वे काव्य के अंगो को तो समृद्ध वनाते है, परन्तु सम्पूर्ण कविता को बिम्बविधान आदि द्वारा उत्कृष्ट नही बनाते—

"We have poems which seem to exist merely for the sake of single lines and passages; not for the sake of producing any total impression. We have critics who seem to direct their attention merely to detached expressions, to the language about the action, not to the action itself."

उन्हे सोचे, समझे और फिर समन्वय करके साहित्य मे प्रयोग करे। इस प्रकार आलोचक में तीन गुण होने चाहिए—(१) पढ़ने-समझने और वस्तुओं के यथार्थ रूप को परखने की क्षमता; (२) सीखे हुए ज्ञान का दूसरों तक प्रसार करने का गुण, ताकि उत्तम भावनाएँ संसार मे फैलकर उसे बदल सकें। आलोचक में इसलिए धर्म-प्रचारक जैसा उत्साह एवं कर्मठता होनी चाहिए। (३) रचना-शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण के निर्माण की क्षमता, ताकि उच्च भावनाओ के प्रेषण से रचनात्मक प्रतिभा को पोषण प्राप्त हो। इस प्रकार, एक ओर तो वह लेखक के नए आयाम को प्रस्तुत करता है—उन्हें सद्-साहित्य लिखने की प्रेरणा प्रदान करता है—तो दूसरी ओर वह सामाजिकता के प्रति भी उत्तरदायी है। वह समाज में स्वस्थ साहित्य और उच्चकोटि के ज्ञान का वाहक है।

आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह ऐसा वातावरण तैयार करे जिसमें उदात्त भावनाओ से युक्त रचनाएँ फल-फूल सके। इस दृष्टि से आलोचक का दायित्व अधिक हो जाता है, **उसमें धर्म-प्रचारक** (Missionary spirit) **जैसा उत्साह व कर्मठता भी अनिवार्य है।**

आलोचको के गुणो का उल्लेख करते हुए आर्नाल्ड ने उसे निष्पक्ष (Disinterested) होना आवश्यक माना है। निष्पक्ष होने से तात्पर्य यहाँ पर यह नही है कि वह पूर्वाग्रहविहीन अथवा तटस्थ होकर रचना करे, वरन् उसके अनुसार निष्पक्ष का अर्थ है कि आलोचक उन बातो से मुक्त हो जो बौद्धिक तथा नैतिक पूर्णता के मार्ग मे बाधक होती है। दूसरे, उसने आलोचक के लिए अन्धभावुकता से भी मुक्त होना आवश्यक माना है।

मध्य वर्ग के झूठे विचारो से भी बचे रहने की उसने आलोचकों को प्रेरणा दी है। उसके अनुसार, मध्य वर्ग के लोग रूढिवादिता, धर्मान्धता व्यापार, धनार्जन तथा विलास मे लिप्त रहने के अतिरिक्त और कुछ नही करते है। इस तरह निष्पक्ष का अर्थ आर्नाल्ड ने जो दिया है, वह यह हुआ कि असत्य और अर्ध-सत्य से दूर रहना, उन वस्तुओ से पृथक् रहना जो नगरों के यान्त्रिक जीवन से सम्वद्ध है और आध्यात्मिक मूल्यो की अवहेलना करती है।

आर्नाल्ड ने नैतिक और सामाजिक पूर्णता की बात कहकर आलोचक पर

प्रश्न ७—पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में विलियम वर्ड्सवर्थ का क्या योगदान है ? सिद्ध कीजिए।

अथवा

विलियम वर्ड्सवर्थ में काव्यकला सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

पाश्चात्य साहित्य में रोमानी युग के प्रवर्तक विलियम वर्ड्सवर्थ ने कविता और काव्य-भाषा के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनका उल्लेख करते हुए 'कविता की रचना-प्रक्रिया' के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ के विचारों को स्पष्ट कीजिए और उनके योगदान की समीक्षा कीजिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का नव-शास्त्रवाद (Neo Classicism) से सम्बन्ध तोड़कर एक नयी विचारधारा का प्रवर्तन किया जो 'स्वच्छन्दतावाद' के नाम से अभिहित की जाती है। अपने काव्य-संग्रह **'लिरिकल बैलेड्स'** के द्वितीय संस्करण की भूमिका में उन्होने कवि, कविता तथा काव्य-भापा क सम्बन्ध मे अपनी मान्यताएँ स्पष्ट की है। किन्तु उनके यही विचार अन्तिम विचार नही कहे जा सकते; क्योकि, इसके बाद के लेखो मे अपनी इन मान्यताओं में उन्होने पर्याप्त अन्तर किया है और उनका संशोधन-परिशोधन भी किया है।

वर्ड्सवर्थ से पूर्व दान्ते ने काव्य को भावनाओं का सहज उच्छलन न मानकर उसे श्रमसाध्य तथा अभ्यास के द्वारा सम्भव माना था। उसने सामान्य जन की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा को अपनाने की प्रेरणा दी। दान्ते के विचार मे भाषा तो केवल विचाराभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है, महत्ता तो विचारो की है, कवि के लिए भाषा की वही उपयोगिता है जो एक सैनिक के लिए अपने घोड़े की होती है। यथा—

"The best soldiers should have the best horses, and in like manner the best speech is that which is suited to thc best thoughts."

यही कारण था कि अठारहवी सदी के अन्त तक कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण भापा प्रचलित हो गयी थी। विलियम वर्ड्सवर्थ ने इसका विरोध किया और स्वच्छन्द भाषा के प्रयोग की उपादेयता पर विशेष रूप से बल दिया।

काव्य-भाषा एवं शैली सम्बन्धी विचार—वर्ड्सवर्थ ने प्रचलित काव्य

"He should keep the reader in the company of flesh and blood."

वर्ड्सवर्थ गद्य और पद्य की भाषा में विशेष अन्तर नही मानते। गद्य की भाषा पद्य मे परिवर्तित हो सकती है—दोनो भापाओ में भी वह अपेक्षाकृत गद्य को भाषा को ही महत्ता देते हैं —

"......That language of prose may yet be well adopted to poetry.........and that a large portion of the language of very good poem can in no respect differ from that of good prose"

इस गद्य भाषा के समर्थन मे वर्ड्सवर्थ तर्क देते है कि दोनो भापाओं की अभिव्यंजना करने वाली इन्द्रियाँ तथा दोनों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ एक ही है और इनकी राग-रुचि भी परस्पर समान होती है।

जनसाधारण की भाषा से तात्पर्य—अब प्रश्न स्वतः यह उठ खड़ा होता है कि वर्ड्सवर्थ का जनसाधारण की भाषा (Natural Language) से क्या तात्पर्य था। उनके ग्रन्थों में **लिरिकल बैलड्स** (Lyrical Ballads) को छोड़-कर किसी भी अन्य ग्रन्थ में ग्राम्यभापा का प्रयोग नही मिलता। उन्होने बाद में सुधार और परिवर्द्धन की बात जो कही है कि भापा 'Selection of the real language of men', होनी चाहिये. इससे स्पष्ट होता है कि वह सामान्य भाषा को ज्यों-का-त्यो अपनाने के पक्ष मे नही है, वरन् उसमे चुनाव करना आवश्यक समझते है। अत. सरल भाषा से वर्ड्सवर्थ का तात्पर्य अभिव्यक्ति की सरलता से है, जो आडम्बरहीन, स्वाभाविक और राजीव हो तथा पाठक के मन में उलझन अथवा अरुचि उत्पन्न न कर आह्लाद उत्पन्न करे। इसलिए वह भाषा में चुनान की बात करते है, जिससे ग्राम्यत्व एवं शैथिल्य आदि दोषों से यथा-सम्भव बचा जा सके।

वस्तुतः वर्ड्सवर्थ का भापा-शैली सम्बन्धी मत काव्य-सम्बन्धी विचारों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। वह कविता को **तीव्रतम भावावेग का उच्छलन** (Spontaneous overflow of powerful feelings) मानते है और यह सदा सत्य है कि भावावेग के समय हृदय से जो भापा निष्पन्न होती है उसमे स्वाभा-विकता, सरलता एवं सजीवता होती है, वहाँ आडम्बर नही होता—वह प्रसाद गुण से ओतप्रोत होती है। पर द्रष्टव्य यह है कि ग्राम्यत्व आदि दोषों से बचने

काव्य के गुण—'सत्यं, शिवं सुन्दरं' के आधार पर ही वर्ड्सवर्थ ने काव्य के लिए भावों का सहज उच्छलन आवश्यक माना है और कहा है, "**काव्य के द्वारा पाठक का मस्तिष्क प्रबुद्ध होना चाहिए और भाव सशक्त व शुद्ध बनाए जाने चाहिए।**" भावनाओ को महत्त्व देने के कारण ही कविता के लिए वह सामान्य जीवन की सहज घटनाओं के चयन की बात कहते है, क्योंकि सामान्य जीवन में भावों की तीव्रता के लिए विशेष स्थान है। इसी आधार पर वह काव्य की परिभाषा देते हुए लिखते है कि काव्य मानव मन की तीव्रतम भावनाओं का सहज उच्छलन है तथा उसका उद्भव शान्त अवस्था मे भाव के स्मरण से होता है—

"All good poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquility."

इसमें वर्ड्सवर्थ ने सहजता पर विशेष बल दिया है। वह काव्य-रचना के समय सहज भावावेग के साथ-साथ यह भी मानते है कि कवि का मानव उस प्रेरणा-क्षण से पूर्व ही गहन-चिन्तन, मनन और अध्ययन कर चुका होता है और उसकी वृत्तियाँ सद् हो जाती है। उन्होने कलात्मक सौन्दर्य को आवश्यक माना है, पर उसमे कृत्रिमता को अनावश्यक बताया है। भावावेग में अनायास ही जो सौन्दर्य-रत्न आजाए, काव्य मे उन्ही का समावेश हो और ये कितने आते है, यह कवि की कौशल-क्षमता पर ही निर्भर करता है।

काव्य-प्रयोजन पर विचार—वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्य की उपयोगिता यही है कि वह या तो पाठकों के हृदय पर सद्प्रभाव डाले, उनका ज्ञान-वर्द्धन करे या उनकी मानसिक व नैतिक भावनाओं का परिष्कार करे। सद्काव्य पाठकों की भावनाओं को सन्तुलित, विवेकपूर्ण, शुद्ध, स्थायी तथा प्रकृति के अनुरूप बनाता है। कविता पढकर पाठक के मन की उदासीनता तथा भावनात्मक जड़ता समाप्त हो जाए और वह जगत् के रहस्य व मूलप्रकृति को समझ सके—

"Readers must be humbled and humanised, in order that they may be purified and exalted."

समय के साथ-साथ वर्ड्सवर्थ काव्य में नैतिकता के समावेश की बात भी कहते हैं कि काव्य एक अध्यापक के समान शिक्षा भी देता है—

साहित्य और कवि—कवि के विचारों की अपनी भावभूमि होती है; यह निजी आधार ही साहित्य का सर्जक होता है। इसी प्रकार कवि का दृष्टिकोण उसके साहित्य के द्वारा ही देखा और परखा जा सकता है। इस प्रकार जब कवि किसी समीक्षात्मक अंश की रचना करता है तो उसमें भी उसके विशिष्ट दृष्टिकोण की प्रमुखता होती है। **डॉ० प्रतापनारायण टण्डन** ने इसे दूसरे दृष्टिकोण से समझाया है। वह लिखते है, "जब काव्य तथा समीक्षा—इन दोनों माध्यमों से साहित्यकार अपने एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण को अभिव्यक्त तथा पुष्ट करता है, तो उसे एक ही रूप मे अधिक मान्यता नही मिलती वरन् दोनो रूपों से उसका महत्त्व समान रहता है। इस प्रकार कोई भी जागरूक साहित्यकार अपने युग की चेतना की निर्मिति में यदि अपनी कविता द्वारा योग देता है तो उसका समीक्षात्मक साहित्य भी उसे अनिवार्य रूप मे प्रभावित करता है।"

और सच तो यह है कि यह दृष्टिकोण स्वयं इलियट पर भी उसी रूप मे लागू होता है; क्योंकि, इलियट ने आधुनिक साहित्य-जगत् को अपने काव्य से जितना प्रभावित किया है, कम-से-कम उतना ही अपने समीक्षात्मक विचारो से अनुप्रेरित भी किया है।

इससे एक और तथ्य तथा समस्या का समाधान मिलता है कि आजकल प्रत्येक कवि किसी-न-किसी मत का समर्थक होता है और उसी का अपने काव्य में प्रचार-प्रसार—वैचारिक रूप से करता है। इन मतों मे कभी-कभी एक दूसरे का रुचि-वैभिन्न्य के कारण विरोध भी रहता है—कोई कवि किसी मत का समर्थन करता है और दूसरा कवि किसी दूसरे मत का। इसके साथ ही, समीक्षक की भी अपनी रुचि होती है। यदि किसी कवि के मत से समीक्षक की रुचि नही मिलती तो वह अपनी रुचि विशेष के कारण साहित्य का आकलन निष्पक्ष रूप से नही कर पाता और ऐसी स्थिति में खण्डन-मण्डन रूपी वैचारिक युद्ध-सा आरम्भ हो जाएगा। इस वैचारिक युद्ध से बचने के लिए इलियट ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि वे अपने साहित्य मे युगीन चेतना लाने वाले विचारो को भावयित्री प्रतिभा से समाविष्ट करें तो, साथ ही उन विचारों को कारयित्री प्रतिभा से समीक्षा भी प्रस्तुत करे।

आलोचना की समस्याएँ—आलोचक के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए इलियट उन्हें दो सैद्धान्तिक सीमाओं मे आबद्ध करते है—कविता क्या है,

काव्य एवं नाटक की भाषा के सम्बन्ध में विचार—इलियट ने बताया है कि नाटक की रचना करते समय गद्य का ही प्रयोग करना चाहिए, पद्य का नहीं। इसका कारण यह है कि नाटक के प्रयोजन और विश्लेषण के सन्दर्भ मे भाषा का प्रश्न गौण है, वह तो एक माध्यम है। अतः अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए गद्य की भाषा का प्रयोग ही उत्तम है। यदि कवि पद्य का ही प्रयोग करना चाहे तो कर ले, पर गद्य और पद्य दोनों का ही मिश्रण नही होना चाहिए। साथ ही, जहाँ तक कविता की भाषा का प्रश्न है, उसमें सरलता के साथ उच्चता का गुण अत्यावश्यक है। काव्य में कल्पना का प्रयोग होता ही है, पर उसकी अतिशयता न हो, वह यथार्थ के धरातल से बिल्कुल दूर न चली जाए; कल्पना के उन्मुक्त आकाश में विचरण भले ही करे, पर छाया पृथ्वी पर ही आए अथवा विश्राम के लिए आश्रय-स्थल धरती का ही हो। इसी से वह विचारों की तीव्रता की अपेक्षा कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता पर विशेष बल देते है। **डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी** ने इलियट के योगदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"आज वह पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र में युगान्तरकारी और नवीन धारा का प्रवर्त्तक माना जाता है। उसके काव्य-चिन्तन और कविता दोनों ने ही न केवल यूरोपीय और अमरीकी साहित्य को प्राभवित किया, अपितु जापान और भारत आदि देशों का आधुनिक साहित्य भी इलियट क काव्य-चिन्तन के प्रभाव से मुक्त नही है।"

प्रश्न ९—पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में होरेस के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

रोमीय आलोचक होरेस (६५ से ८ ई० पू०) ने अपने ग्रन्थ 'आर्स पोएतिका' में काव्य, नाटक, औचित्य आदि काव्यशास्त्र सम्बन्धी अपने विचार दिए हैं। इनके विवेचन मे सूक्ष्मता तो इतनी नही है, पर वह व्यावहारिक दृष्टि से अधिक विचार करते है। इन्हें चिन्तन-प्रधान न मानकर विद्वानो ने व्यवहार-प्रधान माना है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्व बहुत अधिक है और साथ ही नूतनता की दृष्टि से भी।

काव्य-सम्बन्धी विचार—होरेस पर अरस्तू का काफी प्रभाव था। इसलिए काव्य के स्वरूप, काव्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे उनकी मान्यताएँ अरस्तू से प्रभावित है। अरस्तू की तरह होरेस भी काव्य को जीवन का अनुकरण मानने है। नाटक को तो वह स्पष्ट ही नीवन का अनुकरण मानते

काव्य का लक्ष्य राष्ट्र की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखना और उसे समाज की बर्बरता से मुक्त करना है; सभ्य समाज की नीव डालना है, वीर-हृदय में शौर्य का संचार करना है; साथ ही, श्रम तथा कुण्ठा आदि से परिक्लान्त मनुष्य को आह्लाद प्रदान करना भी है।

होरेस आडम्बरपूर्ण शैली के विरुद्ध है। वह सरल शैली के समर्थक है। उनका विचार है कि उदात्त शैली का प्रायः अन्त तक निर्वाह नही हो पाता, इससे पाठक को निराशा होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि कथा को धीरे-धीरे उठाया-बढाया जाय और तदनुसार पाठक के उद्रेक को भी शनैः शनैः चरमोत्कर्ष पर लाया जाए शैली में क्रम और सम्बन्ध का महत्व सर्वोपरि होता है। काव्य के आरम्भ, मध्य और अन्त—तीनों मे एक ही सी अन्विति और संगति आवश्यक है। यद्यपि होरेस काव्य मे कल्पना का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, क्योंकि इससे काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होती है और वह आकर्षक लगता है, पर उनके अनुसार यह कल्पना इतनी अधिक अस्वाभाविक नही होनी चाहिए कि वह यथार्थ से दूर चली जाए अर्थात् कल्पना काव्य के लिए आवश्यक है पर वह अत्यधिक असीमित नही होनी चाहिए—

'Fictions made to please shound keep c.ose to the truth of things; your play should not demand an unlimited credence."

डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "आनन्दात्मकता तथा शिक्षात्मकता दोनों को ही उसने काव्य के उद्देश्य के रूप में मान्य किया है। अपने निजी काव्य में होरेस सशक्त अभिव्यक्ति के लिए विख्यात है। उसका मत है कि यह विशेपता पाठक के मन में तद्रूप भावोद्रेक में सहायक होती है।"

होरेस ने काव्य की दो कोटियाँ मानी है—एक तो श्रेष्ठकाव्य और दूसरा हीनकाव्य। उनका विचार है कि जो काव्य श्रेष्ठ न होगा वह निश्चित रूप से हीन और निम्नकोटि का काव्य होगा।

काव्य का वर्गीकरण—काव्य का वर्गीकरण करते समय उन्होने श्रेष्ठ काव्य और हीनकाव्य के अतिरिक्त काव्य के दो भेद और किए है—व्यंग्य-काव्य और प्रहसन। उनके विचार से व्यंग्य-काव्य का प्रयोजन व्यक्ति या समाज के दोपों का निराकरण करना है। और ये दोष, होरेस के अनुसार, व्यंग्य-काव्य

है। उसका स्वतन्त्र रूप से निखार भी आवश्यक है। यदि कोई कलाकार किसी ऐसे प्राणी का चित्र चित्रित करे जिसका सिर स्त्री का, शरीर पक्षी का और पूँछ मछली की-सी हो तो उसे जीवन से परे की वस्तु मानकर काल्पनिक कहा जाएगा और चूंकि ऐसा चित्र जीवन से सम्बद्ध न होगा, इसलिए या तो वह उपेक्षित होगा या उसका उपहास उड़ाया जाएगा।

होरेस के औचित्य सम्बन्धी विचार काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग से सम्बद्ध है। अब हम यहाँ प्रत्येक पर संक्षेप में विचार करेंगे।

विषय-औचित्य—होरेस ने परम्परागत सिद्धान्तों के संरक्षण पर बल दिया है। वह मानते है कि कथावस्तु परम्परागत होनी चाहिए और उनमें नवीन उद्‌भावनाएँ (Original treatment) करनी चाहिए। विषय भी ऐसा होना चाहिए जो कवि की सीमा और सामर्थ्य के अन्तर्गत हो—

"You act more wisely by dramatising the Iliad than, by introducting a subject unknown and hither to unsung."

अर्थात् सर्वथा नवीन एवं अब तक अप्रयुक्त विषय की अपेक्षा इलियड की कथा का ही नाटकीकरण अधिक बुद्धिमता पूर्ण होगा।

परिचित कथानक में भी मौलिकता का समावेश हो सकता है, पर वह यथार्थ के धरातल पर ही होना चाहिए। उसे कथानक के वे अंश छोड़ देने चाहिए जो उसके द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति न पा सके।

चरित्र-औचित्य—यथास्थिति के अनुसार पात्रों का चित्रण करना चरित्र-औचित्य है। यदि पात्र, परम्परागत है तो उनकी चाल-ढाल, वेश-विन्यास, बोल-चाल सभी उसी स्थिति के अनुकूल होने चाहिए। 'यदि कलाकार पुराने परम्परागत चरित्रो का चित्रण कर रहा है तो उसे उनके परम्परागत स्वरूप की रक्षा करनी चाहिए।' चरित्र की प्रकृति के अनुरूप ही पात्र का चित्रण भी होना चाहिए। इस चित्रण के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पात्र के कार्य, उसकी रुचि और उसके गुणावगुण, उसकी वय और अवस्था के अनुकूल ही हों।

होरेस ने चरित्र औचित्य के सम्बन्ध मे जो विचार दिए है, वे उनके समय मे ठीक थे और स्वयं अपने मे ही पूर्ण है; पर बाद के समीक्षको तथा काव्य-कलाकारो ने इसका अन्धानुकरण करके चरित्रो को यान्त्रिक बना दिया। फलतः चरित्र रूढ़ और स्थिर बनने लगे।

निष्कर्ष—होरेस का औचित्य-सिद्धान्त कृतियों की समग्रता से व्याख्या करता है। वह काव्य सफलता-असफलता औचित्य के आधार पर ही मानते है। यद्यपि होरेस का यह सिद्धान्त बहिरंग आलोचना का अंग है, क्योंकि उनकी दृष्टि वस्तुपरक थी, तथापि वह इससे काव्य के कलापक्ष का उचित विवेचन कर देते है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि होरेस के सिद्धान्त तथा काव्य सम्बन्धी विचारों ने तत्कालीन तथा परवर्ती अलोचको एवं साहित्यकारों को नवीन दिशा प्रदान की।

प्रश्न १०—लोंजाइनस को पश्चिम का प्रथम स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहा गया है। उसके समीक्षा-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कीजिए और बताइए कि उसे स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना कहाँ तक संगत है?

पुराने संस्कारों के स्थान पर यथार्थ का ग्रहण और कल्पना की उड़ान भरकर स्वप्न-सौन्दर्य मे उन्मुक्त विचरण करना ही स्वच्छन्दतावाद माना गया है। इसमे व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। लोंजाइनस ने भी अपने समीक्षा-सिद्धान्तों द्वारा व्यक्तिपरक चेतना का समर्थन किया है। लोंजाइनस ने अपने समय में फैली काव्य सम्बन्धी धारणाओ का खण्डन किया और काव्य को नवीन रूप से स्थापित किया।

लोंजाइनस से पूर्व काव्य को शिक्षा के आधार पर देखा जाता था। कवि का कर्म आह्लाद से भी अधिक पाठकों को नैतिकता को शिक्षा देना होता था। **एरिस्टोफेनिस** कवि का कर्त्तव्य पाठको को सुधारना मानता था और उसकी सफलता तभी समझी जाती थी, जब पाठक काव्य की शिक्षा को मान ले। लोजाइनस ने इसके स्थान पर भावात्मकता पर विशेष बल दिया और काव्य का लक्ष्य आनन्द प्रदान करना माना।

लोंजाइनस के काव्य सम्बन्धी विचार—लोंजाइनस ने काव्य का उद्देश्य आह्लाद माना और आनन्दानुभूति को काव्य की एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया। **डा० प्रतापनारायण टण्डन** के अनुसार, "लोजाइनस की समीक्षा का प्रयोग श्रेष्ठता की खोज करना स्वीकार किया जा सकता है और यही कारण है कि उसने कला या काव्य मे श्रेष्ठता पर बल दिया है।"

लोंजाइनस ने यह कभी नहीं विचारा कि भावोत्कर्ष या उल्लास का मूल-स्रोत क्या है। उसने तो काव्य का मूल प्रयोजन आनन्द ही स्वीकार किया, पाठक को तर्क द्वारा अपनी बात मनवाना नही।

लोंजाइनस : क्या वह स्वच्छन्दतावादी विचारक है ?—यहाँ स्वभावत: यह प्रश्न उठता कि लोंजाइनस क्या वास्तव मे स्वच्छन्दतावादी विचारक है ? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उसने काव्य में आनन्द तत्त्व को प्रधानता दी है जो निश्चित ही एक स्वच्छन्दतावादो प्रवृत्ति है । इसके अतिरिक्त वह पुरानी सड़ी-गली परम्पराओं का भी विरोध करते है और कवि को युग के यथार्थ को अपनाने की प्रेरणा देते है; साथ ही वह साहित्य मे कल्पनातत्त्व की भी प्रधानता स्वीकार करते है । उनका विचार है कि जब तक काव्य या साहित्य में कल्पना नहीं होगी, वह अधिक प्रभावशाली वन ही नही सकता । कल्पनातत्त्व के कारण काव्य वास्तविक एवं सहज लगने लगता है । वास्तव मे कल्पना ही वह वस्तु होती है, जिसके माध्यम से कवि के अनुभव को पाठक अनुभूत करता है और कवि की अपनी मन:स्थिति में पाठक विचरण कर सकता है । प्राचीन परम्पराओं के विपरीत उसने काव्य का उद्देश्य नैतिकता तथा सुधार की शिक्षा देना न मानकर आनन्द प्रदान करना माना है । इस दृष्टि से अनेक विद्वान लोजाइनस को स्वच्छन्दतावादी विचारक कहते हैं ।

स्वच्छन्दतावाद का विरोधी—परन्तु कुछ विचारक उसके कथनों में विरोध देखकर उसे स्वच्छन्दतावाद का विरोधी मानते है । उसने कवियो को परम्परा का पालन करने की भी प्रेरणा दी है और कहा है कि परम्परा का पालन अनेक अर्थो मे लाभदायक सिद्ध होता है, अतः परम्परा का उल्लंघन भी नही करना चाहिए ।

दूसरे, वह काव्य मे रूमानी तत्त्वों की अधिकता के विरोधी और उच्चता के समर्थक है । लोजाइनस का स्पष्ट विचार है कि रूमानी तत्त्वों के आधिक्य के कारण काव्य की उच्चता मे बाधा पड़ती है । वह स्वच्छन्दतावादी तत्त्वो से भी उसी प्रकार घृणा करते हैं; जैसे पुरातनवादी तत्त्वो से । उन्होंने कही भी चमत्कारिकता और साहित्यिकता का समर्थन नही किया । इससे अनेक विद्वान् उन्हे स्वच्छन्दतावादी विचारक नही मानते ।

विवेचन—लोजाइनस के स्वच्छन्दतावादी होने अथवा न होने के सम्बन्ध में आलोचको के जो विचार है, उनका विश्लेपण करने से यह स्पष्ट होता है कि वह न तो अति प्राचीनता के समर्थक हैं और न अति स्वच्छन्दता के । उनका मार्ग मध्यम है । उदात्त के माध्यम से उन्होंने दोनों का [illegible]

से वह स्वच्छन्दतावादी विचारों के पोषक होते हुए भी उसकी अति के विरोधी है।

निष्कर्ष—निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोजाइनस सुन्दरता पर विशेष बल देते थे और उन्होने काव्य मे आनन्दवाद को खोजने की चेष्टा की है, तथा इसी आधार पर उन्होंने काव्य की उत्कृष्टता को आँका है। अतः एटकिन्स के शब्दों में कहा जा सकता है :

"There are things in its pages that can never grow old, while its freshness and light will continue to charm all ages."

लोंजाइनस भी ऐसे ही एक विचारक है जिनकी प्रतिभा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में सदैव प्रदीप्त है और युग-युग तक साहित्यशास्त्रियों का मार्ग दर्शन करती रहेगी।

प्रश्न ११—काव्य तथा उसकी रचना के सम्बन्ध में सिगमंड फ्रायड के विचारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

सिगमंड फ्रायड ने काव्य का सम्बन्ध मानव-मन की कुण्ठाओं से जोड़ा है। मानव की दमित इच्छाएँ काव्य या साहित्य के माध्यम से परिष्कृत होकर अभिव्यक्त होती है। इसलिए वह काव्य का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध मानते है। वह मनोविश्लेषण के आधार पर साहित्य-रचना के तत्त्वो की व्याख्या करते है और मानव-मन की गुत्थियो को ही काव्य-सर्जना की मूल-प्रेरणा मानते है फ्रायड का विचार है कि मन की दमित इच्छाएँ, कुण्ठाएँ तथा उलझी ग्रन्थियाँ साहित्य के माध्यम से सुलझकर और परिष्कृत होकर सामने आती है और विवेचन की पद्धति के द्वारा उनका काव्य मे आस्वादन होता है।

काव्य : मानव कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति—फ्रायड का निश्चित विचार है कि साहित्य मानव-मन की कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का ही सशक्त माध्यम है। मानव-मन मे अनेक इच्छाएँ ऐसी होती है जो वास्तविक रूप में अभिव्यक्त नही हो पाती और अवसर आने पर साहित्य के रूप मे प्रस्फुटित हो जाती है। इनकी अभिव्यक्ति से मनुष्य को आन्तरिक रूप से अपार आनन्द की प्राप्ति होती है और तब तो शान्ति प्राप्त होती है, वही साहित्य का आस्वाद्य है—आनन्द है। साहित्य की सर्जना मे कवि को और सर्जना के पश्चात् उसके

जिसके मूल में दमित अथवा अतृप्त इच्छाएँ विद्यमान है और उनकी अभिव्यक्ति से कवि को सहज तुष्टि प्राप्त होती है और सहृदय भी उनमें इसलिए आनन्द प्राप्त करता है कि वह साहित्य उसके मन की कुण्ठाओं और यौन लिप्साओं की सहज अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार दोनों को काल्पनिक तुष्टि होती है।

कुण्ठाओं के प्रकार—फ्रायड ने कुण्ठाओ और दमित इच्छाओं को दो प्रकार का माना है—

(१) वे कुण्ठाएँ जो महत्वाकांक्षा से सम्बद्ध है।

(२) वे कुण्ठाएँ जो काम-वासना के तृप्त न होने से उत्पन्न होती है।

यद्यपि दोनों ही प्रकार की कुण्ठाएँ परस्पर सम्बद्ध होती है, फिर भी स्थूल रूप से इनके ये दो भेद किए जा सकते है। साथ ही, यह भी द्रष्टव्य है कि ये कुण्ठाएँ प्रत्येक मनुष्य में समान नहीं होती, इनकी तीव्रता, गति और रूप व्यक्ति की अवस्था, रुचि, परिस्थिति, कल्पना शक्ति की तीव्रता, स्वप्नो की गति तथा सम्पर्क आदि के आधार पर सदैव परिवर्तित होती रहती है।

मनुष्य की कल्पना उसके शैशवकाल के चित्र से कालान्तर मे सम्बद्ध हो जाती है और फिर वह इच्छा ऐसा रूप धारण कर लेती है, जिससे भविष्य में कभी उसकी पूर्ति सम्भव हो सके। इस प्रकार कवि के कल्पना-चित्र भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनो से सम्बद्ध होते है।

कल्पना की तीव्रता के आधार पर ही फ्रायड ने कवि के काव्य में भावना की तीव्रता को माना है। अर्थात् कवि की कल्पना-शक्ति जितनी तीव्र होगी, उसके काव्य का अनुभूति-पक्ष भी उतना ही तीव्र होगा। इस प्रकार काव्य कवि की अन्तःवृत्ति का परिचायक है और फ्रायड के अनुसार, उसमे कवि की वैयक्तिक भावनओं का ही निदर्शन होता है। इस प्रकार की कल्पना से कल्पना प्रधान वृत्ति की सर्जना होती है दूसरी ओर वे कलाकार भी होते है जो साहित्य में नवीन कल्पनाओं को स्फूर्त करने की अपेक्षा प्रस्तुत सामग्री का ही अपनी रुचि और कल्पना से पुनः संस्कार करते हैं और उसका परिष्कृत रूप श्रोता व पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते है। इस प्रकार के कलाकार पौराणिक कथानको के आधार पर साहित्य का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार लोक-साहित्य भी कल्पना और परम्परा का सुन्दर समन्वय है।

फ्रायड ने साहित्य की रचना के मूल मे काम और कल्पना को मुख्य

गद्य की कला—सार्त्र गद्यकला का संवाद में प्रयोग मानते है। उनके अनुसार शब्द वस्तुएँ नहीं है, मात्र उनके संकेत है। इसलिए सार्त्र का कहना है कि किसी भाषा के विषय मे यह देखने की आवश्यकता नही है कि वह हर्ष की सृष्टि करती है या विषाद की, अपितु देखना यह चाहिए कि वह वस्तु या विचार का यथार्थ रूप में संकेत देने मे समर्थ है या नहीं। बहुधा ऐसा होता है कि हमें शब्दों द्वारा कोई विचार मिलता है और हम उसे ग्रहण कर लेते है, फिर वह विचार हमारे मस्तिष्क मे सदैव वर्तमान रहता है—भले ही कहे गए वे शब्द, जिनसे वह विचार मिला, विस्मृत हो जाएँ।

गद्य के शब्दों को सार्त्र एक उदाहरण द्वारा सिद्ध करते है कि जैसे कोई व्यक्ति आकस्मिक विपत्ति से रक्षा के लिए सामने पड़ा कोई भी हथियार उठा लेता है और अपनी रक्षा करता है. पर बाद मे, विपत्ति टलने के बाद उसे ध्यान ही नही रहता कि आत्मरक्षार्थ उठाया गया वह हथियार कौन-सा था; उस समय तो उसे एक अतिरिक्त शरीर की आवश्यकता थी जिससे वह स्वरक्षा कर सके, उसे एक तरह से तीसरा पैर भी कहा जा सकता है जिसे उस समय वह अङ्गीकार करता है, उसी तरह किसी विचार को ग्रहण करते समय शब्द हथियार की तरह हो जाते है। मनुष्य भाषा के अन्तर्गत भी उसी प्रकार है जैसे अपने शरीर के। जब कोई व्यक्ति भाषा का प्रयोग करता है तो व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों (श्रवणेन्द्रियों) के माध्यम से रक्षा को तैयार हो जाता है। अतः शब्द क्रिया-विशेष का विशिष्ट क्षण होता है, जो अलग से पूर्ण निरर्थक है।

इसलिए, सार्त्र के अनुसार लेखक वह है जो अपने विचारो को विशिष्ट ढंग से कह सके। केवल कहने का निश्चय करने वाला लेखक नही हो सकता, उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है।

लेखन-कार्य की आवश्यकता—सार्त्र ने इस पर भी विचार किया है कि 'लेखन-कार्य क्यो किया जाय'। इस पर विचार करते समय वह लिखते है कि इस विपय में प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कारण होते है। किसी के लिए लेखन-कला पलायन है तो किसी के लिए विजय का साधन। पर इस उद्देश्य मे प्रत्येक सफल नही हो सकता। कोई-कोई तो विजय प्राप्त करता है और कोई मृत्यु के मुख में चला जाता है। विजय प्राप्त करने वाला लेखक वीरता

यदि उस व्यक्ति की बात अन्य व्यक्ति नही मानते तो उस दशा में यह स्वतन्त्रता समाज को भी विशृंखलित करेगी, उसका क्या उपाय होगा। वह व्यर्थ ही इस पर विश्वास करते है कि यदि व्यक्तियों को अपने अस्तित्व का ज्ञान हो जाएगा तो संगठित होकर एक स्वतन्त्र प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यशील हो जायेंगे। व्यवहार में यह कथमेव सम्भव दिखाई नही देता।

सार्त्र के अनुसार किसी व्यक्ति को एक स्थिति से निकाल कर उसी स्थिति पर विचारणीय दृष्टिकोण प्रदान करने वाली सम्भाव्यता की संज्ञा ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता एक आवश्यकता है तथा उसकी आवश्यकता से उसका जन्म होता है। इसी स्वतन्त्रता से हमारा समाज भी शासित होकर परिवर्त्तनशीलता ग्रहण करता है। यह परिवर्तनशीलता प्रायः उन्नति की ओर अग्रसर होती है पर इसे भौतिकवादी तुला पर नही तौला जा सकता; क्योंकि वह व्यक्ति को इस योग्य नही बना पाती कि वह अपनी स्थिति से अलग होकर अपनी ही स्थिति पर निरपेक्ष रूप से विचार कर सके।

निष्कर्ष—सार्त्र दर्शन के क्षेत्र में क्रियाशील आन्दोलन तथा साहित्य के क्षेत्र में सृजनशील व्यक्ति के रूप मे अस्तित्ववाद को गतिमय करने वाले विचारक है। इनके सिद्धान्त मे मानवीय स्वरूप का गम्भीर विवेचन दृष्टिगोचर होता है। इन्होने काव्य, कला, गद्य, भाषा तथा अस्तित्ववाद आदि पर अपने जो विचार प्रस्तुत किए है, उनका परिवर्ती साहित्यिकों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। अतः इनका महत्त्व निर्विवाद है।

प्रश्न १३—रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित 'मूल्य' तथा 'सम्प्रेषण' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए काव्यालोचन में उनकी उपादेयता प्रदर्शित कीजिए।

आधुनिक आलोचना मे रिचर्ड्स को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है और इसका प्रमुख कारण यही है कि रिचर्ड्स के काव्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्तों मे नितान्त मौलिक और गम्भीर चितन का परिचय मिलता है। रिचर्ड्स ने विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर कविता के अन्धकारपूर्ण भविष्य के प्रति चिन्ता व्यक्त की और कविता को एक सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। रिचर्ड्स ने अपने काव्य-विषयक विचारो, सिद्धान्तो मे काव्य को रक्षा का उद्देश्य ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। काव्य को एक सार्थक एवं विवन्त सत्ता के रूप मे प्रतिष्ठित करने के उपक्रम में रिचर्ड्स ने दो बाते विशेष रूप से कही—(१) कविता का एकमात्र मूल्य उसको प्रभाव-

अनुसार, मनुष्य का प्रत्येक कर्म, किसी न किसी रूप में उनका सम्प्रेपण हं। उसके मतानुसार यह ठीक है कि कवि अथवा कलाकार नितान्त सतर्क रूप से अपने भावों का सम्प्रेषण नही करता, उसके लिए कोई विशिष्ट प्रयास नही करता है, फिर भी सचाई यह है कि कविता अथवा कलावृत्ति में सम्प्रेषण स्वतः ही आ जाता है। जैसे-जैसे कोई कवि अथवा कलाकार अपनी कविता को सुधारता और परिमार्जित करता रहता है, वैसे-वैसे वह उसे अधिकाधिक सम्प्रेषणीय बनाता चलता है।

सम्प्रेषण की क्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचड्‌स यह भी कहता हैं की कवि चेतन स्तर पर किसी प्रकार के भाव-सम्प्रेषण की चेष्टा नही करता किन्तु उसके अचेतन में यह ललक निरंतर बनी रहती है। वस्तुतः एक कवि अथवा कलाकार ही नहीं, एक सामान्य व्यक्ति भी अपने आपको शेष समाज के साथ किसी न किसी रूप मे जोड़े रखता है एक कवि की भी यह कामना होती है कि उसके मन मे उठने-गिरने वाले भावो मे शेप संसार अवगत हो और उसकी यही कामना उसकी कविता के उद्‌भव का मूल है। यह आवश्यक नही है कि इस प्रकार का भाव चेतन स्तर पर भी विद्यमान हो। मूल वात यह है कि कवि अथवा कलाकार प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः अपनी भावना तथा मानसिक प्रक्रियाओ से पाठको को अवगत कराना चाहता है। और यही नही, वह यह भी चाहता है कि पाठक मे भी ठीक वही भावना तथा मानसिक अवस्था उत्पन्न हो सके। यदि कलाकार अथवा कवि अपने पाठक के मन मे समान मानसिक अवस्था उत्पन्न करने मे समर्थ हो जाता है तो उसकी कला अनिवार्यतः सिद्धि को प्राप्त कर लेती है। कला अथवा कविता का एकमात्र लक्ष्य यही है और इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन सम्प्रेपणीयता ही है। सम्प्रेषणीयता की स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् कहते है—"सम्प्रेषण तब घटित होता है जब एक मन अपने परिवेष के प्रति इस प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और अंशतः उसके कारण उत्पन्न होती है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वक्ता के पास विशिष्ट प्रकार की सम्प्रेषण-योग्यता हो और श्रोता के पास वैसी ही विशिष्ट ग्राहिका शक्ति।"

कई बार ऐसी स्थिति भी हो सकती है, जबकि यह सम्प्रेपण नितान्त

है। भावों की अतिशयता के कारण कई बार कविता अथवा कलाकृति दुर्बोध हो जाती है। कई बार विशिष्ट प्रकार के दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्तों प्रति अन्धभक्ति के कारण पाठक पूर्वाग्रहों से मुक्त होता है और इस कारण सम्प्रेषणीयता असफल रह जाती है। रिचर्ड्स ने और भी कई ऐसे तत्त्व गिनाए है जो कविता अथवा कलाकृति के सम्प्रेषण में बाधक सिद्ध होते है।

रिचर्ड्स के समीक्षा सम्बन्धी विचारों का मूलाधार मनोविज्ञान है और कदाचित् इसी कारण रिचर्ड्स की आलोचनात्मक पद्धति अमरीका की नव्य-आलोचना मे अत्यधिक महिमान्वित हुई है। यद्यपि रिचर्ड्स के मतानुसार साहित्य की समीक्षा का एकमात्र लक्ष्य उसका मूल्यांकन करना होता है, फिर भी उसने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा, "**मूल्य और प्रेषणीयता की भित्ति पर ही आलोचना के भवन का निर्माण हो सकता है।**" इस प्रकार रिचर्ड्स ने साहित्यिक समीक्षा को मानवीय मूल्यो की तुला पर रख दिया। साहित्य की समीक्षा का एकमात्र लक्ष्य मूल्यों का निर्धारण करना है और इसके लिए साहित्यिक कृति में सम्प्रेषणीयता की स्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार रिचर्ड्स ने समूची पाश्चात्य आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। रिचर्ड्स के अनुसार आलोचना साहित्य का मूल्यांकन करती है और साथ ही उसके मूल्याकन के मापदण्डो का भी निर्धारण करती है। उसने आलोचना को एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे स्वीकार किया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रिचर्ड्स के समीक्षात्मक सिद्धान्तो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह एक वैज्ञानिक अन्वेषक था। यदि हम कविता के मूल्य का परीक्षण करना चाहते है तो हमें यह जानना होगा कि कविता की रचना करते समय पाठक की क्या स्थिति रहती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि किसी कलाकृति मे उपयुक्त शब्दावली का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करते हुए हम इस बात का पता लगाएँ कि अपने पाठकों और आधुनिक समीक्षा को वह कृति किस प्रकार प्रभावित करती है। इस प्रकार अपने समीक्षात्मक सिद्धान्तों मे वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का अपनाना पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र को रिचर्ड्स की बड़ी देन समझी जाएगी।"

प्रश्न १४—समीक्षा का मार्क्सवादी दृष्टि से क्या अभिप्राय है ? साहित्य की समीक्षा में उसका किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है ? क्या वह सर्वाङ्गीण समीक्षा-सिद्धान्त है ?

उपयोगितावादी मूल्यों की स्थापना पर विशेष बल दिया है और इसी का यह प्रभाव था कि काव्य अथवा साहित्य में लोकमंगल की भावना का उन्मेष हुआ

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का साहित्य पर प्रभाव—मार्क्स के वर्ग-संघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का परवर्ती लेखकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। आगे चलकर तो यह साहित्य का आधार ही बन गया। भारतीय लेखकों मे इसका परिष्कृत रूप 'प्रगतिवाद' के रूप में मुखर हुआ। इन लेखकों की रचनाओं के पात्र युग-संघर्ष के प्रति अत्यधिक सजग है और भाग्य से ही उनका सोद्देश्य संघर्ष रहा है। ये लेखक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को ही बदल देना चाहते है वास्तव मे मार्क्स का विचार था कि सन्तुलन होने पर ही, विषमता का नाश होने पर ही, समाज में शान्ति स्थापित हो सकती है। जब तक एक शोषक रहेगा और दूसरा शोषित, तब तक अशान्ति असन्तोष और वर्ग-संघर्ष निश्चय रहेगा ही। इस सबके नाश के लिए यह आवश्यक है कि वर्गभेद पूर्णरूपेण समाप्त हो जाए और धनी-निर्धन का भेद भी समाप्त हो जाय। परवर्ती साहित्यकारो ने इसके समर्थन मे अपनी साहित्यिक रचनाओं में भरपूर आवाज उठाई है।

साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टि की व्याख्या—मार्क्स की इस चिन्तनधारा को सुव्यवस्थित रूप मे सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय कास्टांकर कॉडवेल को है उन्होंने मार्क्स के विचारों के अनुसार माना है कि साहित्य और जीवन का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह आर्थिक व्यवस्था पर स्थित है। क्योकि, साहित्य सामाजिक जीवन मे अनुप्रेरित है और सामाजिक जीवन पर आर्थिक स्थिति का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार मनुष्य की सारी जीवन-व्यवस्था और उसकी साहित्य-सम्बन्धी धारणा अर्थिक ढाँचे पर ही अवलम्वित है। मानव की प्रगति मे कला और साहित्य दोनो ही सहायक है, अतः साहित्य समाज और मानव जीवन मे परस्पर सामूहिक सहयोग की भावना को उत्पन्न करता है और इसी में उसकी सार्थकता निहित है। इस तरह साहित्य की स्वयं मे कोई भी उपयोगिता नही है। कला की तरह उसका उपयोग भी समाज के लिए ही है और उसकी अर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है।

इसे मार्क्स ने साम्यवाद के आधार पर लिया है। आदिमकाल से साहित्य मे साम्यवादी भावना है, कला भी आरम्भ से ही मावन-जीवन मे समन्वय करती रही है। परन्तु जब-जब भी समाज-व्यवस्था विकृत हो गयी, तब-तब

प्रश्न १५—पोप के काव्य-सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

नव्यशास्त्रवादी कलाकारों में पोप का स्थान अन्यतम है। इनके समालोचना सम्बन्धी विचार **'ऐसेज ऑन क्रिटिसिज्म'** (Essays on Criticism) मे प्राप्त होते है। इसके तीन भाग है। प्रथम भाग में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, वे अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त पर आधारित है, दूसरे भाग में प्रतिभा की विवेचना की गई है और तीसरे भाग में सफल आलोचक के गुणों का विद्वत्तापूर्ण वर्णन हुआ है।

पोप के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तो पर पूर्ववर्ती आचार्यो का पर्याप्त प्रभाव है। पर उन्होने उनके विचारों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण न करके उन्हे वर्तमान दृष्टिकोण से परखा और शाश्वत सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया।

समालोचना का महत्त्व—पोप की कृति **'ऐसेज ऑन क्रिटिसिज्म'** मे सर्वप्रथम समालोचना के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमे उन्होने यत्र-तत्र आलोचक के गुण-दोषों का भी वर्णन किया है। उन्होने सबसे पहले यह प्रश्न उठाया है कि दोष-रहित रचना का परीक्षण कौशल है अथवा दोषपूर्ण रचना के परीक्षण में अर्थात् कौशल का अभाव किसमें है—सदोष रचना में अथवा दोषपूर्ण काव्य-परीक्षण मे। पोप ने लिखा है कि यद्यपि प्रत्येक आलोचक की आलोचना पृथक्-पृथक् होती है; फिर भी, प्रत्येक को अपनी समालोचना पर विश्वास होता है और वह अपनी ही समालोचना को शुद्ध मानता है। इसका कारण यह है कि **यह अन्तर रसबोध की मात्रा के कारण होता है;** क्योंकि सभी आलोचकों का रसबोध समान नही होता। सच्चे कवियों की प्रतिभा में जैसे विविधता पायी जाती है, उसी तरह आलोचक के भाव में रसबोध कम ही आता है। अतः जो कवि-प्रतिभा तथा आलोचना-शक्ति दोनो से सम्पन्न होगा, वह समाज एवं साहित्य के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त करेगा तथा समालोचना के क्षेत्र का विस्तार करेगा।

प्रत्येक समालोचक के लिए, किसी कृति की समीक्षा करते समय यह आवश्यक है कि वह अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर ले। आलोचना के लिए पोप ने पूर्वाग्रह को व्यर्थ माना है और न वह यही स्वीकार करते है कि आलोचना किसी पक्ष के समर्थन या खण्डन के लिए ही होनी चाहिए।

कवि और आलोचक का क्षेत्र—कवि का क्षेत्र काव्य की रचना करना है आलोचक का काम उसकी आलोचना करके उसके स्वरूप का सम्यक्

(५) कलाकार के ध्येय का ध्यान करना ।

(६) श्रेष्ठ काव्य के लिए बौद्धिक तत्त्वों की आवश्यकता ।

(७) कला की आलोचना में केवल भाषा पर ही ध्यान न रखना ।

(८) विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न शैलियों का प्रयोग ।

(६) केवल छन्द या तुकान्त शैली को ही श्रेष्ठ न मानना ।

(१०) शब्दों को भावों का प्रतीक मानना ।

(११) अतिशयोक्ति तथा अति का अनुसंधान ।

(१२) प्राचीन-नवीन मे भेद न करना ।

(१३) नियमानुकूल काव्य-निर्माण को ही श्रेष्ठ न मानना ।

(१४) स्वतन्त्र रूप में विचार करना ।

(१५) व्यक्तित्व का ध्यान न रखकर काव्य को परखना ।

(१६) केवल नवीनता से ही आकृष्ट न होना ।

(१७) समरूप से आलोचना करना ।

(१८) काव्यालोचन मे दलबन्दी मे सहयोग न देना ।

(१६) द्वैत तथा अहम् को निर्मूल करने के बाद निर्णय देना ।

(२०) केवल नियम, बुद्धि और ज्ञान का सहारा लेकर मनुष्यत्व तथा सत्य को न भुलाना ।

समालोचक का कार्य—पोप के अनुसार, समालोचक का प्रधान कार्य काव्य को आकर्षक बनाना तथा साधारण जनता को मार्ग-दर्शन देना है । समालोचना कविता की सहचरी है, इसलिए समालोचक कविता की वस्तु-स्थिति का उद्घाटन कर देता है और उसे जन-सामान्य के लिए सुगम तथा सुबोध बना देता है । किसी पूर्वाग्रह से युक्त होकर कवि की आलोचना करना समालोचक का कार्य नहीं । प्राचीन आलोचकों ने काव्य की व्यवस्था सम्बन्धी जो शुष्क नियम बना दिये थे, पोप ने उनका भी विरोध किया ।

समालोचक अपने पथ से, कर्त्तव्य-कर्म से च्युत न हो, उसके लिए पोप ने बताया है कि उसे प्राचीन लेखकों की धारणाओं तथा उनकी स्थितियों से परिचित होना आवश्यक है । उनके गुण, रुचि, देशकाल-सीमा तथा व्याप्त धर्म आदि का सूक्ष्म, अध्ययन, मनन और चिन्तन करने के पश्चात् ही किसी कवि की कृति की समालोचना करनी चाहिए ।

वृद्धि प्रदान कर उसे सरस बना सके। अतः वही कविता अधिक प्रभावशाली होगी, जो कवि के भावों को प्रत्येक दृष्टि से पूर्णता, सभ्यता व स्वाभाविकता प्रदान करे।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप मे, पोप ने समालोचक को कविता का व्याख्याता तथा उसके गुण-दोषों का उद्घाटनकर्ता माना है। उसके लिए मुख्य रूप से यह आवश्यक है कि वह व्यक्तिगत परम्पराओ से सर्वथा मुक्त रहे। उसका काम यही है कि अपेक्षित ज्ञान का अर्जन करके कृति की वास्तविकता से जन-सामान्य को अवगत करा दे। यद्यपि उसमें भी उसका उद्देश्य कृति की प्रशंसा ही होना चाहिए और उसे छोटे-छोटे दोषो की उपेक्षा कर देनी चाहिए।

प्रश्न १६—नव्यशास्त्रवाद (Neo-Classicism) किसे कहते हैं? इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों के विचार देते हुए उसकी समीक्षा कीजिए।

यूरोप में ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार के कारण साहित्य रचना में भी उपदेशात्मकता तथा नीतिवाद आदि का प्राबल्य होने लगा। आनन्दवादी दृष्टिकोण पर प्रतिबन्ध लगा और 'कला, कला के लिए' न रहकर 'कला, जीवन के लिए' तक ही सीमित हो गयी। कालान्तर में इसके विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और लेखकों ने सब प्रकार के बन्धन तोड़ने के प्रयत्न किए। १५वी शताब्दी में ग्रीक साम्राज्य के पतन के पश्चात् भागकर इटली आए विद्वानों के साथ वाले ग्रन्थो को पढ़कर इटली मे भी जाग्रति आई और एक नए युग का सूत्रपात हुआ। साथ ही, यह भी द्रष्टव्य है कि वह समय ही ऐसा था, जहाँ सर्वत्र जागरण की लहर उठ रही थी और मध्ययुग की दासता से मुक्ति पाने के आन्दोलन लगातार हो रहे थे। यह जाग्रति राजनीतिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों मे समान रूप से आयी। साहित्य के क्षेत्र में इसी जागरणकाल को 'नव्यशास्त्रवाद' (Neo-Classicism) कहा जाता है। इस युग मे दो प्रसिद्ध विचारक हुए—सर फिलिप सिडनी और बैन जानसन। सर फिलिप सिडनी ने प्लेटो के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार किया और बैन जानसन ने कवि के लिए आवश्यक गुणों की मीमांसा की तथा काव्य के स्वरूप पर अपने विचार प्रस्तुत किए

नव्यशास्त्र का प्रारम्भ—नव्यशास्त्र का आरम्भ सर्वप्रथम फ्रास में हुआ। वहाँ रोन्सार कवि की कल्पनामयी प्रतिभा को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में था; इसलिए इससे व्याप्त अव्यवस्था को रोकने के लिए बुअलो,

नव्यशास्त्रवाद के सिद्धान्त—नव्यशास्त्रवादी विचारक कला-सर्जना में कल्पना, भावना, आदि का पूर्ण बहिष्कार नही करते और उन्हें अचेतन की प्रक्रिया भी नही मानते; वरन् वे विवेक (Reason), लक्ष्य और चुनाव पर बल देते है। उनका विचार है कि कल्पनाशक्ति विवेकशक्ति पर आधारित है और इसके लिए वे अभ्यास, पठन-पाठन व अध्ययन को आवश्यक मानते है।

नव्यशास्त्रवादियों का केन्द्रीय सिद्धान्त है—प्रकृति का अनुकरण। यहाँ प्रकृति से उनका अभिप्राय अरस्तू की तरह मानव-प्रकृति से है न कि जड़-प्रकृति से। वरन् कहा जा सकता है कि इन्होंने उसका और भी विस्तृत अर्थ लिया। इन्होने प्रकृति के अनुकरण में जड़-प्रकृति तथा यथार्थवाद को भी समाहित कर लिया। इसी यथार्थवाद के कारण उन्होंने संकलन-त्रय पर विशेष बल दिया है और इसी कारण इन्होने कल्पना तथा असम्भाव्य घटनाओ के बहिष्कार की बात कही है। इन्होने उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण काव्य-रचना की प्रेरणा दी और ऐसे नायक को चुनने पर बल दिया जो शक्ति व गुणो में श्रेष्ठ हो। अतिमानवीय (Super-natural) तत्व भी इन नव्यशास्त्रवादियो की दृष्टि से हेय है।

मानव-प्रकृति का चित्रण—नव्यशास्त्रवादियो ने ऐसे मानव-चरित्रों के चयन पर बल दिया है जो सर्वत्र और सर्वकाल में पाया जाय। उसको उन्होने किसी देश, काल व स्थान की सीमा से आवद्ध नही किया है। उनका विचार था कि ऐसी कृतियाँ ही सर्वत्र सम्माननीय होंगी जिनमे ऐसी मानव-प्रकृति का चित्रण किया जाए जो सर्वत्र व्याप्त हो, अर्थात् ऋत-सत्यो पर आधारित हो। इसी तरह के प्रकृति-चित्रण के कारण आदर्शवाद का भी जन्म हुआ। सामाजिक आदर्शो के अनुरूप पात्रों की रचना करने की प्रेरणा देने के कारण ही प्रकृति से तात्पर्य 'आदर्श प्रद्धति' से लिया गया और कला का उद्देश्य भी सुन्दर प्रकृति का चित्रण समझा गया। जो कुरूप है, भौड़ा है, भद्दा है बीभत्स है—उसे साहित्य से वर्जित किया गया और सद्वृत्तियो का उद्घाटन ही कवि कर्म माना गया।

नव्यशास्त्रवादियो ने यद्यपि काव्य का लक्ष्य आनन्द भी माना है, पर अधिकतर आचार्यो ने उसकी नीति पर ही बल दिया है। ला बोस्यू ने स्पष्ट ही उपदेशात्मकता को काव्य का प्रयोजन माना है—"The aim of the

विशेष में बँधकर रह गया, परिणामतः कवियो की प्रतिभा नष्ट होने लगी। यथा—

"The rules·····had also a cramping influence even on the great writers·"

इस प्रकार काव्य मे उपदेश की प्रधानता से काव्य का मनोरंजन पक्ष क्षीण होने लगा और काव्य का पक्ष दुर्बल पड़ने लगा। **रैने बैलक** ने लिखा है—

"But on the whole neo classicism suffered mostly from the exceses of literal-minded moralists who thought of art as a mere intellectual stetement of moral precepts."

नव्यशास्त्रवादियों ने विधाओ का वर्गीकरण करते हुए उनका परस्पर भेद बताया और प्रत्येक विधा के पृथक्-पृथक् नियम बताए जिनका पालन अनिवार्य समझा गया। संक्षेप मे, नव्यशास्त्रवाद के प्रमुख सिद्धान्त है :

प्रथम, कलाकृति मे कल्पना या भाव (sentiment) के स्थान पर बुद्धि-तत्त्व को प्रमुखता मिलनी चाहिए।

द्वितीय साहित्यकार को सामाजिक मानव-मन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए और साहित्य का विषय नगर या राजदरबार से लिया जाना चाहिए।

तृतीय, कवि का विषय प्रतिपादन निर्वैयिक्तक होना चाहिए न कि वैयक्तिक।

चतुर्थ, कलाकृति की परख भावोत्पादन की क्षमता पर नही, शिल्पगत पूर्णता पर होनी चाहिए।

और अन्त मे, साहित्य का उद्देश्य आनन्द देना और शिक्षा देना होना चाहिए।

नव्यशास्त्रवाद के सिद्धान्त अपने मे वस्तुतः इतने संगत नही थे, जितना इनका अन्धानुकरण करने से हो गये। पर इसमे तथा दूसरे सिद्धान्तों मे परिस्थिति तथा काल का अन्तर ही मुख्य है।

प्रश्न १७—वस्तुनिष्ठ समीकरण (objective corelative) का विश्लेषण करते हुए साधारणीकरण से उसकी तुलना कीजिए।

इलियट ने 'हैमलेट' की समीक्षा करते हुए उसे कलात्मक असफलता का

अनुभूतियाँ अमूर्त रूप धारण पर काव्य में प्रकट होती है। इन मूर्त्त चिह्नों अथवा प्रतीकों से ठीक वही भावनाएँ प्रेक्षक के मन मे जाग्रत होती है जो काव्य-सृजन करते समय कवि के मन में जाग्रत हुई थी।

इलियट के मन में काव्य की वास्तविक सफलता इसी में है कि उसमें भावनाओं और उनके मूर्त्तविधान में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। इलियट के इस वस्तुनिष्ठ समीकरण को विभाव-विधान का नाम दिया जा सकता है। यह भाव-विधान ऐसा होना चाहिए कि इससे सामाजिकों में नाटककार के मानस-भाव को जाग्रत करने मे सहायक हो सके।

साधारणीकरण—आद्याचार्य भरतमुनि के रस-निष्पत्ति से सम्बद्ध सूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'—पर यह आरोप किये गये कि सहृदय दूसरो के अर्थात् नायक-नायिका आदि के भावों से रसास्वाद किस प्रकार कर सकते है जबकि वे उनमें पूर्वाग्रह—श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, घृणा आदि के भाव रखते है। इन आक्षेपकर्त्ताओ मे सर्वप्रथम भट्ट, लोल्लट और श्री शंकुक थे। इन आक्षेपों को निर्मल करने के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

भट्टनायक के अनुसार विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भव्यमान स्थायीभाव रूप रस—भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार भट्टनायक के कथन से ये परिणाम निकलते है—

(१) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(२) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है अर्थात् दोनों एक ही है।

(३) भावकत्व व्यापार द्वारा भव्यमान स्थायीभाव ही रसरूप में परिणत हो जाता है।

(४) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद रूप में प्रस्तुत कर देती है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस सिद्धान्त में संशोधन किया और कहा कि साधारणीकरण विभावादि का ही नही होता अपितु स्थायीभाव का भी होता है। स्थायीभाव के साधारणीकरण का अर्थ है—देशकाल के बन्धन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। कला के क्षेत्र मे भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नही

इस सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है :

(क) असाधारण का साधारण रूप में गृहीत होना साधारणीकरण कहलाता है।

(ख) साधारणीकरण विभावादि के समिश्रित क्रिया-कलाप अर्थात् समस्त घटना-चक्र का होता है।

(ग) इसके अलावा सहृदय समस्त पूर्वाग्रहो से मुक्त हो जाता है।

(च) साधारण रसास्वाद की भूमिका अर्थात् पूर्व स्थिति है।

वस्तुनिष्ठ समीकरण और साधारणीकरण सिद्धान्त की तुलना

वस्तुनिष्ठ समीकरण कला में भाव-प्रदर्शन करने का एक मार्ग है। इसके माध्यम से कलाकार ऐसी वस्तु-संघटना, स्थिति, घटना-शृंखला प्रस्तुत करता है, जो वस्तुतः नाटकीय भाव का सूत्र होती है और ज्योंही ये वस्तुएँ, जिनका पर्यवसान मूर्त्त मानस-अनुभव मे होता है त्योंही सामाजिक मे भावोद्रेक हो जाता है। कलाकार वस्तुओं की किसी संघटना, किसी स्थिति, किसी घटना-शृंखला के द्वारा ही अपने भावों एवं विचारो को प्रेषित करता है। वह अपनी संवेदनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुमूलक चिन्हो का आश्रय लेता है और अमूर्त्त भावनाएँ मूर्त्त के रूप मे प्रकट होती है। इन मूर्त्त चिन्हों और प्रतीकों से ठीक वही भावनाएँ जाग्रत होती है जो कवि के मन में काव्य रचना के समय जाग्रत हुई थी। काव्य की सफलता इसी में है कि भावनाओं और उनके मूर्त्त विधान में पूर्ण सामंजस्य हो। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ समीकरण भाव-प्रदर्शन का एक मार्ग है जिसमें सामाजिक के मन मे ठीक उन्हीं भावनाओं को जाग्रत करने की क्षमता है जो काव्य-रचना के समय कवि के मन में उदित हुई थी जबकि साधारणीकरण सिद्धान्त रसास्वाद की प्रक्रिया मे भूमिका प्रदान करता है। यह सामाजिक को उसके पूर्वाग्रह से मुक्त करता है ताकि वह रसास्वाद का आनन्द उठा सके। इसके द्वारा सामाजिक असाधारण घटना को साधारण रूप मे ही ग्रहण करता है और अपने सम्मुख हो रहे नाटक का आनन्द उठाता है।

वस्तुनिष्ठ समीकरण द्वारा सामाजिक के मन मे वही भाव उत्पन्न होते है जो कवि मे थे किन्तु साधारणीकरण द्वारा सामाजिक के विशिष्ट भाव का सामान्य रूप धारण करते है और इस प्रकार रसास्वाद में सहायक होते है।

'Natural reason and natural goodness were the same in Modern Paris or Ancient Athens."

इसी नव्यशास्त्रवाद के प्रक्रियास्वरूप स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ। साहित्यकारों ने नियमबद्धता, परम्परानुगामिता तथा आडम्बरप्रियता का डटकर विरोध किया। उन्होने साहित्य को नियम, आदर्श और सीमा आदि के वन्धन से निकाल कर आन्तरिक्त प्रेरणा के उन्मुक्त धरातल पर स्थित किया। उन्होंने शृंखलाओं से जकड़े जीवन को मुक्त करके उसे नए आयाम प्रदान किए। स्वच्छन्दतावाद, इस प्रकार एक ओर तो नव्यशास्त्रवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ, दूसरी ओर नव्यशास्त्रवाद के विरोध की भावना का उदय तत्कालीन परिस्थितियो के कारण हुआ। राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र मे हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा की जाने वाली क्रान्ति का प्रभाव जो वैचारिक था; फ्रांस की राज्यक्रान्ति से हुई उलटफेर जो समय के परिवर्तन की द्योतक थी, इससे साहित्यकारों की विचारधारा मे परिवर्तन की भावना उद्‌बुद्ध हुई और जिसका स्वाभाविक परिणाम स्वच्छन्दतावाद का उदय था। J. T. Shipley ने 'Frauds in Literature' में स्पष्ट लिखा है—

"With the Renaissance—had sprung an arousal of personality, a sense of individual right and power....Long chafing in such bondage, life in a sudden rush renewed its efforts to shake of all yokes, Reason ? The last refuge to a barren mind ! convention, rule ? Enchaining devices of city and court, far form the truth and the beauty of nature, frigid schemes of an empty-heart ! This is new birth, start the calender a new."

अतः कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावाद एक ऐसी सामान्य प्रवृत्ति है जो किसी भी काल या देश मे इन परिस्थितियो के कारण उत्पन्न हो सकती है। इसी से स्वच्छन्दतावाद पर विरोधी मतों का प्राचुर्य है।

स्वच्छन्दतावाद का अर्थ और स्वरूप—स्वच्छन्दतावाद अंग्रेजी शब्द रोमांटिसिज्म (Romanticism) का हिन्दी रूपान्तर है। इस शब्द को प्राचीन फ्रांसीसी शब्द रोमाञ्ज (Romanz) या रोमांस (Romance) से लिया गया है। इसका अर्थ सदैव परिवर्तित होता रहा है। १७वी शताब्दी मे इसका अर्थ 'काल्प-

—सभी क्षेत्रों मे विद्रोह करता है। उसने साहित्य के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग किए है और सफलता प्राप्त की है। छन्दों के विविध स्वरूपों का उद्घाटन किया है। इस धारा के कवियो के कुलीन वर्ग के पात्रों की अपेक्षा सामान्य पात्रों को अपना काव्य-विषय बनाया और बुद्धिवाद की अतिशयता का भी विरोध किया। वर्ड्सवर्थ ने उसके बारे मे लिखा है—The false secondary power by which we multiply distinction." यही स्वच्छन्दतावादी विद्रोहवाद छायावाद और भारतीय प्रगतिवाद में भी दिखाई देता है।

(२) **कृत्रिमता से मुक्ति** (Freedom from artificiality)—स्वच्छन्दतावाद ने कवियो को आडम्बर तथा कृत्रिमता से मुक्ति दिलाई और सरलता, सहजता तथा प्रकृति की ओर आने का आग्रह किया। **लिरिकल बेलेड्स** (Lyrical Ballads) की रचना भी इसीलिए हुई, क्योकि, इसमें सहज तथा सरल भावो को चित्रित किया गया। ये कविताएँ इसलिए लिखी गयी, क्योंकि इनकी भाषा आनन्द की प्राप्ति के लिए उपयोगी होती थी। स्वच्छन्दतावादी कवि मिथ्या अहंकार और दम्भ से मुक्त होकर अकृत्रिम शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त कर देता है।

(३) **कल्पना की प्रधानता**—स्वच्छन्दतावादी कविता मे कल्पना का प्राधान्य उसकी एक अन्य विशेषता है। कवि कल्पना को प्रेरणादायक तत्त्व मानता है। इसीलिए वह वास्तविक जगत् की यथार्थता तथा कठोरता से दूर कल्पना के मनोरम ऐन्द्रिय जगत् मे विचरण करता है। यह कल्पना ही उन्हे बाह्य लोक की ओर ले जाती है और वह सौन्दर्य के काल्पनिक सौन्दर्य के उपासक बन जाते हैं।

इसी कल्पना के कारण कवि ने प्रकृति की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया और कल्पना ने उसे रहस्यवादी बना दिया। वह प्रकृति की सत्ता मे ईश्वरीय सत्ता का भी अनुभव करने लगा। एवरक्रोम्बी ने इस सम्बन्ध मे लिखा है—

"The life which progresses direct intution of the pure truth being wholly independent of the faculties by which it take hold of the illusory contaminations of this present world."

की भावना में रमता है, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्त्व देता है और भावों में लीन रहता है।

(७) **स्वदुःखानुभूति की भावना**—स्वच्छन्दतावाद का कवि पर-पीड़न से उत्पन्न क्लेश को अपने में समाविष्ट देखता है, वह अपने को संसार के संघर्षों से थका हुआ तथा परास्त मानता है, इससे उसके मन मे वेदना व्याप्त हो जाती है। कवि को इस दुःख में ही सुख का अनुभव होता है और काव्य के माध्यम से वह अपनी वेदना, व्यथा, कुण्ठा, उदासी, निराशा, हताशा, अतृप्त आकांक्षा, अपूर्ण प्रेम, प्रिय की निष्ठुरता और अपनी सहृदयना आदि का चित्रण करता है। अपने प्रति वह सहानुभूतिशील होकर सोचता है और जीवन को दुःखों से भरा हुआ पाता है। पहले वह अपने प्रिय को दुःख पहुँचाने की कामना करता है और बाद में स्वपीड़नरति की ओर मुड़ जाता है। वह दुःख वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होता है—मात्र अभिव्यक्ति के लिए होता है। यही कारण है कि व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में विषाद की प्रधानता होने पर भी कल्पना का पलडा ही सदैव भारी रहता है। स्वच्छन्दतावाद में, इसीलिए, इसकी अतिशयता से क्षुब्ध होकर **गेटे** ने कहा था—"Romanticism was diseased."

(८) **सौन्दर्यमयी भावना और ऐन्द्रियता** (Spirit of Beauty and Sensousness)—स्वच्छन्दतावाद मे कल्पना के प्राचुर्य के कारण ही सौन्दर्य-भावना का सर्वत्र प्रचार-प्रसार मिलता है। कवि शैली ने सम्पूर्ण सृष्टि को ही सौन्दर्यमयी माना है और वह प्रकृति का सर्वत्र सौन्दर्यमय चित्रण ही करता है। कवि कीट्स भी सौन्दर्य को ही शाश्वत सत्य मानता है—

"Beauty is truth, truth is beauty that is all,
We know on earth and all we need to know."

यह सौन्दर्य व्यक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए सौन्दर्य में संवेगों का और इसलिए व्यक्तिपरक ऐन्द्रियता का पर्याप्त समावेश हो जाता है। कवि अपनी कुण्ठाओ और अतृप्त आकांक्षाओं की उसके माध्यम से तृप्ति करना चाहता है।

(९) **प्रकृति-प्रियता** (Love of Nature)—यद्यपि प्रकृति की सत्ता का स्वीकरण प्रत्येक कवि ने किया है और प्रायः प्रत्येक युग के प्रत्येक कवि ने प्रकृति से प्रेरणा ली है, पर स्वच्छन्दतावादी कवि प्रकृति के मुक्त प्रांगण में विहार करता है, जबकि अन्य कवियो ने उससे सुव्यवस्था और शिक्षा भी ग्रहण

से ज्ञात होता है, वह भी सहस्रों अनावश्यक असत्यों से आवेष्टित रहता है, परिणामतः वह जल्दी ही लुप्त हो जाता है। फलतः लक्ष्यविहीन अन्तश्चेतना अशान्त रहती है और आन्तरिक ज्ञान अन्धकारपूर्ण हो जाता है। इसका फल यह होता है कि अन्य श्रद्धा को कार्य का आधार मान लिया जाता है। अस्तित्ववाद इस आध्यात्मिक संकट की व्याख्या कर प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है। इसे पराभववाद का नाम भी दिया जाता है। यह एक आध्यात्मिक मनःस्थिति का वातावरण है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है। इसके प्रभाव से लिखा गया काव्य भावात्मकता की ओर अधिक झुका होता है—यद्यपि इसमें प्रधानता तर्क की भी होती है।

अस्तित्ववाद अस्तित्व को सारतत्त्व से भी अधिक प्रधानता देता है। सार-तत्त्व दो प्रकार का होता है—(१) **समष्टिगत** (Universal) तथा **व्यष्टिगत** (Individual)। समष्टिगत सारतत्व एक ही जाति के सभी पदार्थ-मे पाये जाते है और व्यष्टिगत सारतत्व किसी विशिष्ट पदार्थ में ही पाए जाते है। पहले प्रकार के तत्वों मे विवेक रहता है और उन्ही तत्वो के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्नता ग्रहण करती है, जैसे मानव-जगत के समष्टि-गत सारतत्व ही उसे पशुजगत से भिन्न करते हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व बाद में होता है पहले उसकी कल्पना कर ली जाती है। यदि ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानी जाए, तो यह सिद्ध होता है कि उसने पहले इस जगत् की कोई कल्पना अवश्प की होगी। इस सारतत्व को अस्तित्व से भी अधिक महत्ता दी गयी है। कारण, मनुष्य पहले निम्न धरातल पर रहता है और उस समय तक प्रकृति के निम्न अस्तित्वो के जगत् मे रहता है। पर जब वह उच्च धरातल पर पहुँच जाता है तो अस्तित्वों से निकल कर सारजगत् में पहुंच जाता है और फिर वहाँ कोई कामना नही रहती।

अस्तित्ववाद मे यह क्रम विपरीत हो जाता है। अस्तित्ववादियो ने सार-तत्व के स्थान पर अस्तित्व को ही प्रधानता दी है। कारण, व्यक्ति की रुचि तो केवल उन पदार्थो मे ही रहती है जिनका अस्तित्व है। अस्तित्ववादियो का विचार है कि जो सत्य है उसका अस्तित्व है; जिसका भी अस्तित्व है, वह सार है। अतः अस्तित्ववादी विचारक प्रत्येक प्रत्यक्ष सत्ता का अस्तित्व मानता है और उसे सत्य मानता है।

का प्रभाव दिखाने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त हेडेगर ने मानव-अस्तित्व के वे जीवित चित्र प्रदर्शित किए है, जो साहित्य के सबसे अधिक निकट है।

अस्तित्ववाद का साहित्यिक स्वरूप—अस्तित्ववाद के साहित्यिक स्वरूप को समझने के लिए उसके दार्शनिक स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। दर्शन मे प्रत्येक अस्तित्ववादी इसे आत्मचेतना से आरम्भ करता है, जिसे वह आन्तरिकता कहता है। वह अपने व्यक्तित्व को पृथक रखकर देखता है और पाता है कि इस असीम जगत् के विस्तार मे उसका अंश कितना सीमित और हेय है। इस विशाल शून्य के समक्ष यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अत्यन्त क्षुद्र है। इसे असीम कहकर नही टाला जा सकता; वह मानवीय कल्पना से परे है। इसके एक छोर पर क्षुद्रता और दूसरे छोर पर निस्सीमता है। एक और मानव की स्थिति है और दूसरी ओर निस्सीम शून्य की—इन दोनों ही छोरों में अस्तित्व विद्यमान है।

पर मनुष्य अपनी क्षुद्रता के साथ असीम की प्रतीति से सम्बन्ध रखता है जहाँ—निस्सीमता है वहाँ क्षुद्रता भी है, पर अस्तित्व दोनों का ही है। लेकिन मानव अपनी सीमा को स्थिर रखने के लिए, अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए रक्षात्मक प्रतिक्रिया करता है, जो भय की भावना पर आधृत होती है। प्रतिक्रियाएँ दो प्रकार की होती है—

(१) **भयमिश्रित, रक्षात्मक विरोध की प्रतिक्रिया**—इसका विवेचन सार्त्र ने किया है कि उसके विद्रोह चाहे कितने ही हीन और क्षुद्र क्यो न हों, पर उसकी चेतना का उद्घोष तो करते ही है।

(२) **धार्मिक और ईशपरक स्वीकृति**—भय की भावना से इसकी प्रतिक्रिया होती है; इसका स्वीकरण कॉलरिज, कीर्कगार्ड व शेलिग ने किया है। इस प्रतिक्रिया मे मानव-विद्रोह नही करता, उसे स्वीकार करके अपने विचारो को धार्मिकता की ओर मोड देता है। उस असीम विस्तार से डरकर अपने को उसी असीम के प्रति समर्पित कर देता है और ऐसी दशा मे वह एक ऐसी शक्ति की कल्पना कर लेता है, जो इस महान् यन्त्र को संचालित करती है।

अस्तित्ववाद के विचारों की समीक्षा—अस्तित्ववादी विचारकों का विचार है कि मनुष्य सार्वभौम तत्त्व का निर्माण नही कर सकता, परन्तु अपने व्यक्तिगत

कैंकिलिडस तथा ब्रेडले आदि ने भी इस पर विचार किया है। यद्यपि प्रत्येक के विचार एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं; फिर भी प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। कैंकिलिडस ने इस पर अपने विचार समग्रता से नही दिए है और न ही उन्होने आधारभूत तत्त्वो को ही ठीक से पकड़ा है; उन्होने तो अनेकानेक उदाहरणों द्वारा 'उदात्त' के स्वरूप का ही विवेचन किया है। "उन्होने इस बात का विवेचन कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्य के किसी निश्चित स्तर तक किस प्रकार उन्मादित कर सकते है, अनावश्यक समझकर छोड दिया है।"

लोंजाइनस और ब्रेडले ने उदात्त तत्व पर विस्तार से विचार किया है। अब हम इनके आधार पर उदात्त के स्वरूप पर विचार करेंगे।

उदात्त का स्वरूप—लोंजाइनस ने उदात्त को स्वतः स्पष्ट मानकर वैसे ही छोड़ दिया है, उसकी परिभाषा नही दी है। मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक—दोनों ही प्रकार की दृष्टि होने के कारण उन्होने उदात्त के अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही पक्षों पर विचार किया है। लोंजाइनस के अनुसार, अभिव्यंजना की श्रेष्ठता और विशिष्टता का नाम उदत्तता है—

"Sublimity is a certain distinction and excelence in exprssion."

उदात्त के आधार पर ही कवियो को यश और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इसलिए उन्होने उदात्त के लिए पाँच बातो को आवश्यक माना है—(१) महान् धारणाओ की क्षमता या विषय की गरिमा; (२) भावावेश की तीव्रता; (३) समुचित अलंकार-योजना; (४) उत्कृष्ट भाषा तथा (५) गरिमामय रचना-विधान। इनमे से प्रथम दो तो जन्मजात है और बाद की तीन कलागत। प्रथम दो बाते तो उदात्त के अन्तरंग पक्ष के अन्तर्गत आती है और जो कलागत है, वे काव्य के बहिरंग पक्ष मे आती है। इसके साथ ही उन्होने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन तत्त्वों का भी उल्लेख किया है, जो औदात्य के विरोधी है। इस प्रकार उदात्त के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष हो जाते है—(१) अन्तरंग तत्त्व, (२) बहिरंग तत्त्व, और (३) विरोधी तत्व।

(१) अन्तरंग तत्व—उदात्त के स्वरूप का विवेचन करते समय सार्त्रे ने जिन पाँच बातों को आवश्यक माना है, उनमें महान् धारणाओ की गरिमा

से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथा-स्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।"

आवेग के दो भाग किए गए है—(१) भव्य आवेग, और (२) निम्न आवेग। जिस आवेग से आत्मा ऊपर उठकर हर्ष और उल्लास से भर जाती है, वह भव्य आवेग होता है और जिस आवेग से आत्मा में करुणाजन्य निराशा, हताशा आदि आती है, वह निम्न आवेग होता है। इसमें दया, शोक, भय आदि विकार आते है और पहले मे ओज, शौर्य, रति, हास्य आदि भाव आते है। पहले प्रकार के आवेग से आत्मा का उत्कर्ष और दूसरे प्रकार के आवेग से आत्मा का अपकर्ष होता है। उदात्त के लिए भव्य आवेग को आवश्यक और प्रभावकारी माना गया है।

लोंजाइनस हर्ष, उल्लास, आदर और विस्मय को उदात्त के लिए बहुत आवश्यक मानते है। इनसे पाठक की चेतना अभिभूत हो जाती है।

(२) **बहिरंग तत्त्व**—उदात्त तत्त्व के अन्तर्गत लोंजाइनस ने भाषा-शैली आदि पर विचार किया है। ये तत्त्व भाषा-शैली, रचना-विधान आदि के द्वारा पुष्ट होते है। इन्हें लोंजाइनस 'कला की उपज' माना है। ये तत्त्व तीन है—(क) समुचित अलंकार-योजना, (ख) उत्कृष्ट भाषा और (ग) गरिमामय रचना-विधान।

(क) **समुचित अलंकार-योजना** (Formation of Figures)—उदात्त शैली के लिए अलंकारों का प्रयोग आवश्यक माना गया है, इसलिए उस युग में अलंकारों का निर्बाध प्रयोग होता था। पर इसे कोई मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त नहीं था। परन्तु अलंकारों का प्रयोग उचित होना चाहिए, अतः मात्र चमत्कार-प्रदर्शन के लिए उनका प्रयोग उन्हें मान्य न था। वह अलंकार को तभी उपयोगी मानते थे, जब वह जहाँ प्रयुक्त हुआ है, पाठक को वह मात्र चमत्कृत ही न करे, अपितु आनन्द भी प्रदान करे। अलंकारों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होनी चाहिए, सप्रयास तथा ठूँसी हुई वह ज्ञात न होनी चाहिए। लोंजाइनस ने स्पष्ट लिखा है कि अलंकारों का प्रयोग इस कुशलता से होना चाहिए कि इस बात पर किसी का ध्यान न जाए कि वह अलंकार है। इससे स्पष्ट है कि वह अलंकारों को काव्य के उत्कर्ष का हेतु मानते है, अर्थात् अलंकार साधन है, साध्य नही।

जहाँ तक उदात्त के पोषक अलंकारो के निर्देश का प्रश्न है, लोंजाइनस

क्रोचे के दार्शनिक विचार—अभिव्यंजनावाद को समझने के लिए क्रोचे के दार्शनिक विचारों को समझना आवश्यक है । क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक होने के कारण, आत्मा की दो क्रियाएँ मानते है—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक । प्रथम के द्वारा मानव ज्ञानार्जन करता है और दूसरी के द्वारा उसका व्यवहार करता है । इस प्रकार वह ज्ञान के भी दो प्रकार मानते है—(१) स्वयं प्रकाश अथवा प्रतिज्ञा ज्ञान (Intutive knowledge), और (२) तर्क ज्ञान (Concept kownledge) । इसमे से प्रथम प्रकार का ज्ञान व्यष्टि-परक होता है और दूसरा समष्टिपरक । व्यष्टिपरक ज्ञान का जन्म स्वयं-सिद्ध होता है, जो प्रतिभा से उत्पन्न होता है, इसका उदय कल्पना से होता और दूसरा ज्ञान-बुद्धि में होता है । पहला कला का उत्पादक होता है और दूसरा दर्शन व विज्ञान को जन्म देता है । स्वयं-प्रकाश ज्ञान से ही बिम्बो की कल्पना होती है और तर्क-ज्ञान से हम ज्ञान का बोध करते है । स्वयं-प्रकाश ज्ञान को ही क्रोचे ने सहज ज्ञान कहा है ।

यह सहज-प्रकाश-ज्ञान प्रभाव और संवेदना से भिन्न है । क्रोचे का मत है—"जब हम किसी वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदन प्राप्त करते है, तब हमारा अन्तर्मन निष्क्रिय रहता है । बाह्य वस्तु की प्रतीत के निर्माण मे अन्तर्मन का सहयोग नही होता ।" ये संवेदन जब अन्तर्मन में खप जाते है, तो वे आत्मानुभूति वन जाते है और कल्पना की सृष्टि बन जाते है । इसी प्रभाव को क्रोचे ने अभिव्यंजना कहा है । अभिव्यंजना की सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति का प्राप्त करता है । इस तरह सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है जो सौन्दर्य तत्व को जन्म देती है—

"It is impossible to distinguish intution form expression in this cognitve process. The one appears with the other at the same instant, because they are not two, but one."

कल्पना और अभिव्यक्ति—क्रोचे का विचार है कि कवि के हृदय मे कल्पना की स्थिति प्रतिभा के समान ही होती है; दोनो ही जन्मजात होती है; क्योंकि, कल्पना-शक्ति के कारण ही कवि काव्य-रचना मे प्रवृत्त होता है । अतः इसे कवि का मौलिक धर्म भी कहा जा सकता है । वह काव्य मे जो कोई भी भाव अभिव्यंजित करता है, वह इसी कल्पना की अभिव्यक्ति होती है ।

क्रोचे ने इस तरह, काव्य अथवा कला में कल्पना का बहुत महत्व वताया

'एस्थेटिक्स' में ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त सिसरो, होरेस, विक्टेलियन और आविड आदि ने भी इसका विवेचन किया है। इनके उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति तीन प्रकार की होती है—

(१) उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति।

(२) समान रूप से उद्देश्यपूर्ण प्रदर्शन अथवा संकेत।

(३) मनोवैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति।

इस अभिव्यंजना को पहचानने के तीन मुख्य सिद्धान्त है, इनसे अभिव्यंजना का स्वरूप बताया जा सकता है—

(१) जिसे अभिव्यक्त किया है।

(२) जो अभिव्यक्त करता है।

(३) जिसके माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है।

सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण—क्रोचे ने इसका स्पष्ट व्याख्यान किया है कि कला सदैव आत्माभिव्यक्ति का एक रूप है। क्रोचे की दृष्टि सौन्दर्यवादी थी। अभिव्यक्ति की क्षमता ही सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण है—जो कुछ भी है उसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना ही सौन्दर्यवादी दृष्टि है। अभिव्यंजना सुन्दर होती है, उसे आन्तरिक रूप से सहज एवं शुद्ध बनाना होता है।

अभिव्यंजनावाद पर आरोप—क्रोचे का अभिव्यंजनावाद यद्यपि मूलतः दार्शनिक सिद्धान्त है, पर साहित्य-क्षेत्र मे भी इसका पर्याप्त प्रभाव है। इस पर विद्वानो ने अनेक आरोप लगाये। क्रोचे बाह्य अभिव्यंजना को आवश्यक मानकर कलाकार को ऐसी स्वच्छन्दता दे देता है जो अराजकता और अव्यवस्था मे परिणत हो सकती है। यदि सौन्दर्य की अभिव्यंजना आन्तरिक होती है, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि वह बाह्याकार कैसे धारण करता है। और जब तक बाह्याकार धारण नही करेगा, तब तक आलोचक उसका मूल्यांकन कैसे करेगा। और ऐसी दशा मे अभिव्यंजना की सुन्दरता-असुन्दरता का वर्णन कैसे होगा ?

इसके साथ ही, एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि कला सहजानुभूति है। क्रोचे सहजानुभूति को वैयक्तिक मानते है और वैयक्तिक का कभी पुनर्भाव नही होता—जब कोई पुनर्भाव नही होता तो उसका भावन कैसे होगा? क्रोचे इसका कोई उत्तर नही दे पाते। फिर, साथ ही यह भी विचारणीय है कि कलाकार की सहजानुभूति जब वैयक्तिक और अभूतपूर्व होती

इस विचारधारा का भी अभ्युदय हुआ है, अर्थात् प्राचीनकालीन साहित्य आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय साहित्यकारों की भावना भी आदर्शवादी थी प्राचीन ग्रीक विचारक भी आदर्शवाद के ही परोक्षतः समर्थक थे। अतः उन्होंने साहित्य का नैतिक सुधारवादी होना आवश्यक माना है। यही नैतिकता आदर्शवाद की जननी है और इस प्रकार सुधार-भावना का आदर्श से गहरा सम्बन्ध है।

आदर्श का स्वरूप—आदर्शवादी साहित्यकार प्रायः स्वप्न-द्रष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। आदर्शवादी विचारक का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि वह संसार दुःखशाला है, पर इसके बाद परलोक में सुख प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए; वह भविष्य की उज्ज्वल झाँकी प्रस्तुत करता है और सदैव, सत्य, न्याय, दया आदि की ही विजय देखता है। इसलिए आदर्शवाद में आशावादिता को गहनता से माना गया है। साहित्य में आदर्शवाद से आशय **एक ऐसी विचारधारा से है जो मनुष्य को अपने जीवन में किन्हीं उदात्त तत्त्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की ओर चलने की प्रेरणा देती है।** यह मनुष्य की सन्तोषवृत्ति को सजग करता है और बाह्यरूप से संयम, त्याग तथा आत्म-नियमन को श्रेष्ठ बताता है। आदर्शवाद में स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि बाह्य सुखों से मनुष्यों को कभी सुख और सन्तोष नहीं मिलता, इसके लिए आन्तरिक सुख और सन्तोष की खोज आवश्यक है और यह खोज सत्य, न्याय तथा आस्था के पथ पर चल कर ही प्राप्त हो सकती है।

हो सकता है, आरम्भ में संसार के संघर्षों से विचलित होने के कारण अन्याय और हिंसा आदि की विजय होती दिखाई दे, पर आदर्शवाद के अनुसार यह निश्चित है कि अन्त मे न्याय और सत्य की ही विजय होगी। इसलिए आदर्शवादी व्यक्ति सांसारिक सुखों से उदासीन होकर आत्मिक और आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में लीन रहता है। वह बाह्य संसार की पूर्ण उपेक्षा कर देता है।

आदर्शवादी विचारको का यह स्पष्ट मत है कि शरीर तथा सभी बाह्य उपकरण नाशवान हैं, अमर तथा शाश्वत केवल आत्मा है। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा की 'अमरता' पर प्रकाश डाला गया है। अतः आत्मिक सुख, जिसका आत्मा से सम्बन्ध है, ही चिरन्तन है। लेकिन मनुष्य

का मूल आधार 'बहुजन हिताय' एवं 'बहुजनसुखाय' की भावना होती है। यही कारण है कि आदर्शवादी रचनाओ मे कला का उच्चतर रूप प्रतिष्ठित हो जाता है।

आदर्शवाद द्वारा निर्धारित जीवन-मूल्य का यथार्थ से आशय यह है कि इनसे उच्चतर जीवन-निर्वाह करने की प्रेरणा मिलती है और आध्यात्मिकता से मिलकर इसका महत्त्व और रूप विशद् हो जाता है और यह जीवन मूल्य है चिन्तन, जो उसे पशु से भिन्न करता है—यही चिन्तनशक्ति मनुष्य को उदात्त भावनाओ की ओर ले जाती है।

वास्तविकता की अपेक्षा उदात्त आदर्शों का स्वीकरण—आदर्शवाद संसार में पायी जाने वाली यथार्थता तथा वास्तविकता को क्षणभंगुर तथा नाशवान मानकर उसके अस्तित्व को अस्वीकार करता है और इसलिए साहित्य मे यथातथ्य चित्रण करने का विरोधी है। यह जीवन में वास्तविकता के स्थान पर उदात्तता का समर्थक है। आदर्शवाद यह नही बताता कि 'क्या है', वरन् यह बतलाता है कि 'क्या होना चाहिए'। 'क्या होना चाहिए'—इसी की परिकल्पना करके वह एक आदर्शवादी साम्राज्य की कल्पना करता है, जहाँ सुख ही सुख है, व्यक्ति दृढ़-प्रतिज्ञ, ईमानदार तथा न्यायी व सत्यवादी है और सभी सन्तोष एवं सौहार्द्र की भावना से रहते हैं। इन्ही काल्पनिक उदात्त भावों का प्रतिबिम्ब आदर्शवाद संसार मे देखना चाहता है। पर संसार मे जो क्लेश, पीड़ा, अन्याय, शोषण, हिसा, व्यभिचार, दुराचार आदि व्याप्त है, इसे वह अज्ञानताजन्य मानता है और उसका विश्वास है कि उस समय भले ही कुप्रवृत्तियाँ प्रबल हों पर अन्त में विजय सद्प्रवृत्तियो की ही होगी। इसलिए आदर्शवादी विचारधारा के समर्थक साहित्यकार अपनी रचनाओं मे दुराचारी की पराजय दिखाकर अन्त मे सदाचारी की विजय दिखाते हैं और उसे सुखी एवं सम्पन्न दिखाते है।

इस प्रकार, आदर्शवाद मनुष्य की उदात्तवृत्तियो को जाग्रत करता है और उसे सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। वह साहित्य मे वर्णित प्रत्येक विषय के उदात्त स्वरूप को आदर्श मानकर उसी के चित्रण पर बल देता है; क्योंकि, इसी से जीवन को उदात्त और साथ ही साथ कल्याणमय बनाया जा सकता है। यद्यपि आदर्शवाद की इस विचारधारा का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे काल्पनिक जगत् की वस्तु समझकर निरर्थक

इस प्रकार आदर्शवाद यथार्थ का उदात्तीकरण करता है, अतः वह यथार्थ से पूर्णतया विमुख नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष—वैचारिक रूप से आदर्शवाद का पर्याप्त महत्त्व है। प्राचीन साहित्य में इसका सर्वत्र ही प्रसार है। लोंजाइनस का 'उदात्त' भी इसी विचारधारा का परिणाम है। अतः समग्रतः कहा जा सकता है कि आदर्शवाद का सम्बन्ध मानव की भावना के सर्वतोन्मुखी से है और यह यद्यपि आज अन्य विचारधाराओं की तुलना में उपेक्षणीय है, पर किसी-न-किसी रूप मे सर्वत्र विद्यमान है।

प्रश्न २३—पाश्चात्य समीक्षा में प्रतीकवाद के अभ्युदय का उल्लेख करते हुए उसके स्वरूप और आधारों का विवेचन कीजिए। साथ ही यह भी बताइए कि इसे साहित्य-क्षेत्र में कहाँ तक मान्यता प्राप्त हुई ?

प्रतीकवाद (Symbolism) शब्द का प्रयोग उस दृश्य (गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य वस्तु का अपने साहचर्य से प्रतिविधान करती है। प्रतीक अमूर्त और अदृश्य वस्तु को प्रतिविधान द्वारा मूर्त और दृश्य बनाता है। अपने मौलिक अर्थों में प्रतीकवाद किसी व्यक्ति, विषय, घटना अथवा क्रिया की ओर ध्यान देने वाले पदार्थों और चिह्नों तक ही सीमित था; पर अब इसका विस्तार हो गया है और इसका प्रयोग मनोविश्लेषण अवचेतन, जीवन और स्वप्नों—सभी की व्याख्या के लिए होता है। प्रतीक को परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि एक स्तर पर उससे मिलते-जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक—"**अप्रस्तुत अप्रमेय' अगोचर अथवा अमूर्त का प्रतिनिधित्व करने वाले उस प्रस्तुत या गोचर वस्तु विधान को प्रतीक कहते हैं जो देश, काल एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण हमारे मन में अपने चिर-साहचर्य के कारण किसी तीव्र भावना को जाग्रत करता है।**" ये व्यंजनात्मक रूप से या भावात्मक रूप से समता के धरातल पर विशिष्ट अर्थों को प्रकट करने वाला विशिष्ट शब्द-समूह है। अतः प्रतीकवाद से आशय अदृश्य को भी मूर्त्त रूप प्रदान करने से है।

प्रतीकवाद का आरम्भ—पाश्चात्य साहित्य और कला के क्षेत्र मे प्रतीक-वाद का आधुनिक युग मे उद्भव फ्रांस में हुआ। इसे सर्वप्रथम जीन मोरियस ने सन् १८६८ मे चलाया। इसे यथार्थवाद का विरोधी भी कहा जाता रहा है; क्योंकि, इसके प्रवर्त्तक यथार्थवाद के विरोधी थे। फिर, इसका प्रचार और

चेतन—मन में एक भावना पैदा होती है जो मनुष्य का ध्यान किसी ऐसी वस्तु की ओर ले जाती है जो गुण में उसी के समान होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भावनात्मक रूप से ही समान रूप और गुण का बोध कराने वाली किसी अन्य वस्तु का मस्तिष्क मे ध्यान आने से, प्रथम के माध्यम से दूसरे की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् प्रतीक किसी अव्यक्त की प्रचलित पर **अन्य अभिव्यक्ति करता है** । इसे हम एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते है। जैसे सरिता को प्रवाहित होते देखकर उससे सहृदयता, तरलता, अबाध-गति, गहनता आदि का बोध होता है, तो इन गुणों को अभिव्यक्ति देने के लिए सरिता का उपयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को देखकर उनकी दृढ़ता, गम्भीरता, एकान्तप्रियता आदि का ज्ञान होता है, अतः पर्वत का प्रयोग इन गुणों के लिए प्रतीक रूप मे किया जा सकता है। यही प्रतीकवाद है।

प्रतीकों के भेद—प्रतीकों के स्थूलतः दो भेद हो सकते है—(१) साहित्यिक प्रतीक, और (२) वैज्ञानिक प्रतीक। साहित्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, उनमें भावात्मक तथा व्यंजनात्मक साम्य का ध्यान रखा जाता है। परन्तु विज्ञान मे एक प्रतीक, किसी विशिष्ट पदार्थ, बिम्ब अथवा विचार को किसी दूसरे प्रतीक द्वारा प्रतीक किया जाता है।

साहित्य मे प्रतीकवाद का प्रयोग विभिन्न प्रकट से होता है—(१) सर्व-जीववाद अर्थात् सभी वस्तुओ मे जीव (जीवन) की कल्पना करके, (२) रूपक के द्वारा, (३) उपमा के द्वारा और (४) चरित्र प्रतिनिधित्व द्वारा। ये सभी प्रतीक् प्रयोग में आते है और अव्यक्त को व्यवत करते है।

प्रतीक के कार्य—साहित्य में प्रतीको के माध्यम से अनेक कार्य सम्पन्न होते है। इनमे से मुख्य निम्नलिखित है—

(१) **किसी विषय की व्याख्या करना**—प्रतीकों के माध्यम से, कोई ऐसा विपय जिसकी प्रत्यक्षत. व्याख्या न हो पाती हो, व्याख्या की जाती है। रहस्यवादियो द्वारा अव्यक्त सत्ता की अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा ही की गई है।

(२) **सुप्त तथा दमित अनुभूति को जाग्रत करना**—प्रतीको के माध्यम से ही मनुष्य की सुप्त अथवा दमित अनुभूति जाग्रत हो जाती है। मन मे सुप्त

है, वह यह है कि किसी भी अपूर्व वस्तु के लिए किसी ऐसी ही वस्तु से चयन भी किया जा सकता है, जो कम-से-कम उसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण हो। यह पूर्णता प्रकृति मे ही अधिक मिलती है; क्योंकि, वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। इसीलिए, मानवीय भावनाओं तथा अनुभूतियों के लिए प्राकृतिक प्रतीकों का ही अधिक उपयोग होता है। अतः प्रतीत की सर्वत्र आवश्यकता पड़ती है; इससे अपूर्णता को पूर्णता मिलती है।

प्रतीकवाद का क्षेत्र-विस्तार और प्रभाव—पाश्चात्य चिन्तन की एक धारा होने के साथ-साथ प्रतीकवाद का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समाज, धर्म, संस्कृति आदि की जितनी भी प्रतिक्रियाएँ होती है, वे सूत्र रूप में प्रतीकात्मक होती हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन में भी इनका महत्व कम नहीं है। अनेक प्रतीक ऐतिहासिक तथा धार्मिक क्षेत्रों मे भी मान्य है। कुछ प्रतीक स्थायी रूप से मान्य है, जैसे राष्ट्रध्वज राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है। इससे सिद्ध होता है कि **प्रतीकवाद का सम्बन्ध पूर्ण अभिव्यक्ति से है**। इसका क्षेत्र-विस्तार भी अत्यधिक हैं।

साहित्य मे इसका प्रयोग साहित्यकार की विभिन्न मनोदशाओं का समर्थन कराने के लिए होता है। प्रतीकवादी काव्य विचार या भाव को ऐन्द्रिक रूप से आवृत करना चाहता है। इस तरह प्रतीकवाद का सर्वत्र प्रभाव पड़ा हैं।

उद्देश्य—प्रतीकवादी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि यथार्थात्मक नग्न चित्रणों की अभिव्यक्ति को रोका जाए। इसीलिए इसने अतियथार्थवाद का विरोध किया और प्रतीकों के माध्यम से नग्नता को ढकने का प्रयास किया।

प्रतीकवाद का महत्व इसलिए भी और अधिक है कि इसने यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच एक कड़ी के रूप में काम किया। इसने कल्पना को वास्तविकता से दूर आदर्शवाद की तरह न जाने दिया और न यथार्थवादी चित्रण की नग्नता को ही स्वीकार किया, अपितु वास्तविकता के आधार पर प्रतीकों के रूप में कल्पना को महत्व दिया। इसीलिए साहित्य तथा कला के क्षेत्र में साहित्यकारो तथा चित्रकारों द्वारा प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि प्रतीकवादी आन्दोलन यथार्थ

त्रासदी के अंग—इस विवेचन के आधार पर त्रासदी के छह अंग होते है—(१) कथानक, (२) चरित्र-चित्रण, (३) पद-रचना या भाषा, (४) विचार तत्त्व, (५) दृश्य-विधान और (६) संगीत ।

इसमें कथानक, चरित्र-चित्रण तथा विचार-तत्त्व अरस्तू के अनुसार अनुकरण के विषय है और दृश्य-विधान माध्यम है तथा पद-रचना व संगीत अनुकरण की विधि है । अब हम अरस्तू के मत के आधार पर इन छह अंगों का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे ।

कथानक (Plot)—कथानक से तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से लिया जाता है । यह वह तत्त्व है जिससे पाठक परिचित नही होते, पर वह लेखक के मन मे रहता है। अरस्तू ने सबसे महत्वपूर्ण अंग कथावस्तु को माना है—उसे काव्य त्रासदी की आत्मा माना है । इसके कारण ये है कि त्रासदी कार्य तथा जीवन की अनुकृति है और जीवन की अनुकृति मे कार्य-व्यापार की ही प्रमुखता होती है, और ये कार्य-व्यापार घटनाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते है । दूसरे, सुख या दुःख ही काव्यगत प्रभाव का स्वरूप है और यह स्वरूप कार्यों पर ही निर्भर करता है । अतः ये कार्य अथवा घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य है । तीसरे, **चरित्र त्रासदी में मुख्य नही, गौण होता है,** क्योकि यह घटनाओं के सहायक के रूप मे प्रस्तुत होता है । चौथे, **त्रासदी बिना चरित्र के हो सकती है, पर बिना कार्य-व्यापार के नही हो सकती** । पांचवे, चारित्र्य-व्यंजक भाषण, विचार अथवा पदावली उतना कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नही कर सकते जितना कथानक । और अन्त मे, त्रासदी के सबसे प्रबल आकर्षक तत्त्व-स्थिति विपर्यय (Peripeties) तथा अभिज्ञान (Discovery) कथानक के ही अंश है ।

कथानक के आधार—अरस्तू के अनुसार, कथानक के तीन आधार होते है—

(१) **दन्त-कथाएँ**—त्रासदी के कथानक का आधार प्रायः दन्त-कथाएँ होती है । इनमे सत्य और कल्पना का सुन्दर समन्वय रहता है ,

(२) **कल्पना**—कवि अपनी कल्पना से भी अनेक घटनाओ की योजना कर लेता है । ये कथानक यद्यपि प्रसिद्ध नही होते है, पर आनन्द प्रदान करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी होते है । इनका सामान्य होना आवश्यक है ।

(३) **इतिहास**—इतिहास की घटनाओ को भी त्रासदी के कथानक का आधार बनाया जा सकता है पर, इनमे भी काव्यात्मकला होनी चाहिए ।

उसका परितोष करने की क्षमता होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है की घटनाएँ अचानक ही उपस्थित की जाएँ। पर इसमें शृंखला विच्छिन्न न हो, यह ध्यान रहे।

(३) **साधारणीकरण**—अरस्तू ने साधारणीकरण को प्रबन्ध-कला का मूल आधार माना है। उनका मत है कि घटना-विन्यास करने से पूर्व कवि को अपने कथानक की एक सार्वभौम और सर्वसाधारण को ग्राह्य रूपरेखा बना लेनी चाहिए, जो सभी के साथ तादात्म्य कर सके। इस प्रकार यह पाठक या प्रेक्षक के मन को रमा सकेगा।

कथानक के भेद—अरस्तू ने कथानक के दो भेद माने है—(१) सरल और (२) जटिल। इन दोनों का निर्णायक है कार्य। कार्य यदि सरल है तो कथानक भी सरल होगा और कार्य यदि जटिल है तो कथानक भी जटिल होगा। कारण, उनके अनुकार्य—वास्तविक जीवन के व्यापारों मे भी स्पष्टतः यही भेद होता है।

चरित्र-चित्रण (Character)—कथावस्तु के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व त्रासदी के लिए अरस्तू ने चरित्र-चित्रण को माना है। उसके अनुसार चरित्र वह है जिसके आधार पर अभिकर्त्ताओं में कुछ गुणो का अरोप करते है और इसके माध्यम से किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उद्देश्य तथा वृत्ति की अभिव्यक्ति भी पात्र के माध्यम से ही मानी है।

चरित्र-चित्रण के आधारभूत सिद्धान्त—अरस्तू ने त्रासदी के चरित्र के लिए चार गुण बताए है—ये गुण वे नायक के आधार पर बताते है। बाद को दो गुणों का और भी समाख्यान करते है—

(१) **भद्रता**—पात्र का भद्र होना भी आवश्यक है। यह उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में सम्भव है—स्त्री में भी और दास मे भी। यह वर्ग-भेद और सामाजिक स्थिति आदि से प्रभावित होते हुए भी मूलतः निरपेक्ष होता है।

(२) **औचित्य**—किसी पात्र के चित्रण मे उसकी प्रकृति, जाति तथा वर्ग-गत विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही, अरस्तू ने व्यक्तिगत औचित्य का भी समर्थन किया है।

(३) **जीवन के अनुरूप**—चरित्रों का जीवन के अनुरूप होना आवश्यक

रूप—जिसमे लेखक अपने पात्रो के द्वारा उनके विचारों का प्रतिपादन करता है, (२) आत्मगत रूप जो उसके अपने विचारों का प्रतिफलन होता है, जिसका प्रतिपादन वह नाटक के समस्त अंगों—कथा-विधान, चरित्र-चित्रण, विचार प्रतिपादन, भावाभिव्यक्ति, दृश्य योजना आदि के द्वारा करता है। यद्यपि अरस्तू ने इनमें से पहले रूप पर ही विशेष बल दिया है, पर दूसरा रूप भी सर्वथा उपेक्षित नही है।

गीत (Melody)—त्रासदी में गति को एक प्रकार के 'आभरण' के रूप में लिया गया है। इसका प्रयोग वृन्दगान के अन्तर्गत किया जाता है, पर अरस्तू ने इसे त्रासदी का अभिन्न अंग माना है।

दृश्य-विधान (Spectacle)—इसका सम्बन्ध रंगमंच की साज-सज्जा आदि से है। यह एक बाह्य प्रसाधन है, जिसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय आकर्षण से है। अरस्तू के मत में त्रासदी के सब अंगों मे सबसे कम कलात्मक यही है। यह कवि की अपेक्षा मंच-शिल्पी पर अधिक निर्भर रहता है। दूसरे, इसके बिना त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति हो सकती है। अतः त्रासदी के मूल प्रभाव के लिए यह सर्वथा अनिवार्य नही है।

त्रासदी के भेद—त्रासदी के अरस्तू ने चार प्रमुख भेद माने हैं—

(१) जटिल त्रासदी—जो पूर्णतः स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है।
(२) करुण त्रासदी—इसका प्रेरक हेतु आवेग होता है।
(३) नैतिक त्रासदी—इसका प्रेरक नैतिकता है।
(४) सरल त्रासदी—इसमें किसी प्रकार की जटिलता न होकर एकान्विति ही होती है और सहज होती है।

इसके अतिरिक्त शुद्ध दृश्यात्मक त्रासदी भी होती है, पर अरस्तू ने इसे मुख्य नहीं माना है।

कथानक की प्रमुखता—अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जिसकी व्याख्या अपेक्षित है, वह यह है कि अरस्तू ने त्रासदी के छहों भागों मे कथानक को ही सर्वप्रमुखता क्यो दी। चरित्र और कथानक—दोनो ही महत्वपूर्ण है, पर वह कथानक को ही प्रमुखता क्यों देते है? इस प्रश्न पर विचार करते समय यह हमे स्पष्ट ही है कि अरस्तू ने कथानक को चरित्र की अपेक्षा महत्वपूर्ण

है, इसलिए अरस्तू ने सूक्ष्म चरित्र-व्यंजना की अपेक्षा कथानक को ही विशेष महत्त्व दिया है।

डॉ० नगेन्द्र ने तीसरा कारण अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त को भी माना है; क्योंकि, चारित्रिक व्यापारों की अपेक्षा घटना-व्यापारों का अनुकरण—सहज तथा सुलभ है एवं वह पाठकों और अनुकर्त्ता—दोनो को सहज ग्राह्य हो जाता है।

इन्ही कारणों से अरस्तू ने त्रासदी मे चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथानक को विशेष महत्त्व दिया है।

कथानक को महत्व देने की समीक्षा—अरस्तू ने कथानक को जो इतना अधिक महत्त्व दिया है, उस पर यदि तटस्थ रूप से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि उसके द्वारा यह महत्व देना कोई असंगत भी नही है; क्योंकि, प्रत्येक अंग का आधार तो कथानक ही है। चरित्र-चित्रण भी तो कथानक के आधार पर ही होगा—यदि कथा न होगी तो चित्रण किसका ? पात्र [illegible] से ही तो आते है। अतः अरस्तू का यह तर्क कुछ सीमा तक सही है कि [illegible] मुख्यतः कार्य व्यापार है, इसलिए जीवन का चित्रण होने के कारण [illegible] में कार्य-व्यापार का भी महत्त्व होना चाहिए।

पर प्रश्न यह उठता है कि कथानक भले ही महत्वपूर्ण [illegible] काव्य अथवा साहित्य का साध्य तो नहीं हो सकता। घटना [illegible] आकृष्ट भले ही करे, पर यह आकर्षण उसमे निहित मानवीय तत्व [illegible] मानवीय तत्व से रहित बड़ी-से-बड़ी घटना भी आकर्षण से शून्य [illegible] प्रकृति ने नित्य एक-न-एक घटना होती रहती है, ब्रह्माण्ड [illegible] उल्काएँ टूटती है, सौरमण्डल की इन घटनाओं का को मानव पर कोई [illegible] नही पड़ता; अतः केन्द्र-विन्दु तो मानव का मन है। इसलिए, [illegible] कथानक न हो[illegible] रस है, जिसे हम आत्मतत्व भी कह सकते हैं [illegible] आत्मतत्व से भी महत्वपूर्ण है, उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् [illegible] मानवीय दर्शन [illegible]

फिर अरस्तू का यह कथन भी असंगत है कि [illegible] बिना चरित्र [illegible] सकती है, पर बिना कथानक के नही।" [illegible] जाय तो दोनो [illegible] दूसरे के पूरक है। बिना पात्रों के घटनाएँ [illegible] ही नही सकती [illegible] कर्त्ता या [illegible] में तो पात्रो की अनिवार्यता है [illegible]

नहीं है—यद्यपि इससे नैतिक परितोष चाहे भले ही मिले, पर करुणा और त्रास का उद्बोध नही हो सकता; क्योंकि, करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति पर पड़ने वाली विपत्ति से जाग्रत होती है और त्रास समान पात्र को विपत्ति से।

इसके विपरीत कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ है, जिनका चित्रण आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार, किसी महिमाशाली व्यक्ति का दुर्भाग्य दिखाना चाहिए, वह किसी दुर्बलता के कारण नही वरन् भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति भोक्ता के नितान्त सच्चरित्र न होने से नैतिक क्षोभ तथा वितृष्णा उत्पन्न न करेगी; साथ ही, सर्वथा अकारण न होने से नैतिक भावना का भी परितोष करेगी. फलतः इसका प्रभाव त्रासदी के सर्वथा अनुकूल और करुण होगा।

यह स्थिति ऐसी अवस्था में और भी अनुकूल हो जाती है, जब यह त्रासद-करुण घटना ऐसे लोगों के बीच होती है जिनमे घनिष्ठता या स्नेह सम्बन्ध हो। क्योंकि, दो शत्रुओं अथवा उदासीन व्यक्तियो के बीच इस प्रकार की घटना त्रासदी के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नही करेगी।

अरस्तू के अनुसार, त्रासदी के लिए वह स्थिति ही सर्वश्रेष्ठ है जिसमे कार्य अनजाने किया जाने वाला हो, परन्तु समय रहते हुए वास्तविकता ज्ञात हो जाने से दुर्घटना से अन्त मे बचाव हो जाए। पर, इसके साथ ही; एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या त्रासदी के लिए शोकान्त होना अनिवार्य नही है। इस विषय में अरस्तू का मत स्पष्ट है कि त्रासदी मे त्रास तथा करुणा की स्थायी परिव्याप्ति तो अनिवार्य है पर अन्त का दारुण होना आवश्यक नही है। त्रासदी में, अरस्तू के अनुसार, कर्त्ता के अज्ञान के कारण जो कार्य किया जाता है, उसमें शोक या त्रास का अभाव होता है, दारुण प्रयत्न से त्रास व करुणा की उद्बुद्धि होती है, पर बाद मे जब वस्तुस्थिति का उद्घाटन होता है, तो आश्चर्य का भाव जन्म लेता है और दुर्घटना का निवारण होता है, फलतः मन को गम्भीर राहत मिलती है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि त्रासदी की यह अशोकान्तता क्या त्रासदी के नियमों के प्रतिकूल नही है। क्या इस दुःखद अन्त से त्रासदी के सारभूत तत्त्व—करुणा और त्रास को क्षति नही पहुँचती ? अरस्तू इन दोनों प्रश्नों को नकार देते है। उनके अनुसार त्रासद करुण—त्रास का प्रभाव नाटक में स्थायी होता है। अत वह अन्तिम घटना-विपर्यय से नष्ट नही होता। त्रासदी की

अरस्तू इनका विरेचन-क्रिया के द्वारा परिष्कार मानकर उसे सुखात्मक मानते है। इसीलिए **जान मिल्टन** ने त्रासदी की अनुभूति सुखांत्मक मानकर लिखा है, "प्राचीन लेखकों के विचार से त्रासदी अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होती है। इसी आधार पर अरस्तू ने भी नाटकों को इसलिए महत्त्वपूर्ण 'बतलाया है कि वह भय और करुणा के संचार से पाठकों के स्वाभाविक अवगुणों का परिमार्जन करते है और उनकी अधिकता को हटाकर उनके आचरण का संशोधन करते है। रंगशाला में पात्रो द्वारा इन्ही अवगुणों तथा गुणों के अनुकरण से दर्शक आनन्दित होकर शिक्षा ग्रहण करते है। जिस प्रकार यह प्राकृतिक सत्य है कि विष से विष 'उतर जाता है, उसी प्रकार रंगशाला में अवगुणों के अभिनय तथा अनुकरण प्रदर्शन से मनुष्य की बुराइयाँ हट जाती है।"

जोजेफ एडिसन भी इस सम्बन्ध में लिखते है, "त्रासदी का मुख्य उद्देश्य दर्शको के मन में भय तथा करुणा का संचार करना है। यदि हम सज्जन पात्रों को सदैव सुखी और आनन्दपूर्ण बनाते रहेंगे तो हम कभी भी भय और करूणा जाग्रत करने मे सफल नही होगे; क्योकि; जब हम यह जनते ही है कि पात्रों को चाहे कितने ही कष्ट सहने पड़े, अन्त मे तो वे अवश्य सुखी और धनधान्य से पूर्ण होगे, हमारे मन मे न तो भय उत्पन्न होगा और न करुणा; वरन् हमे एक प्रकार का सन्तोष होगा कि अन्त तो आनन्दपूर्ण हुआ, चाहे आदि कैसा भी क्यों न रहा हो। इसलिए प्राचीन लेखकों ने सासारिक जीवन के अनुरूप ही अपने पात्रों का चित्रण किया है। उन्होने सज्जन पात्रो को कभी सुखी तो बनाया परन्तु साधारणतः दु.खी ही रहने दिया।"

इन विद्वानों की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि त्रासदी की अनुभूति दुःखात्मक नही, वरन् सुखात्मक होती है। कारण यह है कि यह अनुभूति प्रत्यक्ष तथा जीवनगत न होकर अप्रत्यक्ष तथा कलागत होती है डा० नगेन्द्र ने इस रागात्मक प्रभाव के छह रूप बताये है—

(१) अन्ततः आस्वाद रूप होता है।

(२) मानव-दुर्बलता की करुण-विवश चेतना के उद्‌भूत त्रास और करुणा की उद्‌बुद्धि पर आश्रित रहता है।

(३) नैतिक क्षोभ और वितृष्णा से मुक्त होता है।

(४) आश्चर्य समन्वित होता है।

के आरम्भ में जो अरस्तू ने कामदी-विषयक संकेत दिए है, उनके बिखरे सूत्रों के आधार पर ही उनके कामदी-विषयक कुछ मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है।

कामदी और त्रासदी का स्थूल अन्तर—अरस्तू ने त्रासदी और कामदी के अन्तर का सर्वप्रथम विवेचन किया हैं। वह लिखते है—

For Comedy aims at representing men as worse, Tragedy as better than in actual life." अर्थात् कामदी का लक्ष्य यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर वर्णन होता है और त्रासदी का लक्ष्य भव्यतर चित्रण होता है।

कामदी में निम्नतर कोटि के पात्रो का वर्णन होता है और उन्ही का अनुकरण होता है, पर यहाँ 'निम्न' शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नही है, जो 'दुष्ट' होता है! क्योंकि, अभिहस्य तो कुरूप का एक उपभाग मात्र है—उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है, जो क्लेशकारी या अमगलकारी नही होता।

कामदी का मूलभाव—यद्यपि कामदी का मूललक्ष्य आनन्द प्रदान करना है पर यह आनन्द कामदी मे हास्य एवं व्यंग्य द्वारा आता है। अतः कामदी का मूलभाव अरस्तू के अनुसार हास्य है। पर यह हास्य हर्ष नही है। कामदी से स्थूल आनन्द की प्राप्ति होती है। काम दी के मूलभाव का विषय, **डा० नगेन्द्र** के अनुसार, "कोई ऐसा दोष—शरीरिक तथा चारित्रिक विकृति होती है जो क्लेशप्रद और अमंगलकारी न हो; अर्थात् यह दोप गम्भीर नही होना चाहिए। यदि यह गम्भीर होगा तो प्रेक्षक के मन मे विषाद अथवा पीड़ा उत्पन्न होगी और तब वह त्रासदायक अथवा अमंगलकारी हो जाएगा। अतः कामदी का मूलभाव हास्य मानव मन की मंगलमयी भावनाओ से सम्बद्ध होता है।

कामदी का विषय—अरस्तू ने कामदी के विषय का निरूपण करते हुए उसे यथार्थ अथवा सामान्य से हीनतर जीवन से सम्बद्ध माना है। कामदी मे निम्नवर्ग के व्यक्तियों के क्रियाकलापो तथा संवादो आदि का अनुकरण होता है। साथ ही, यह भी द्रष्टव्य है कि यह विषय व्यक्तिगत न होकर वर्गगत अथवा सार्वजनिक होता है। इसीलिए इसका विपय श्रेष्ठवर्ग से सम्बद्ध नही होता।

अरस्तू के इन विचारो के पीछे उसके समय की स्थितियों का भी महत्त्व-

है। उनका विचार है कि कामदी में कथानक के सभी गुण—आदि, मध्य और अवसान से युक्त, पूर्णता, एकान्विति, पूर्वापर क्रम, सम्भाव्यता, कुतूहल आदि युक्त होकर न्यूनाधिक रूप से आवश्यक है; क्योंकि, इन गुणो के बिना कामदी का कला रूप बनना सम्भव ही नहीं हो सकता। इनकी न्यूनता भी इसीलिए ग्राह्य हो जाती है कि त्रासदी की तरह कामदी गम्भीर नहीं होती। कामदी का आधार ही विकृति मूलक होता है, अतः यदि ये गुण न्यून मात्रा में भी रहें, तब भी ये घातक प्रभाव नहीं डालते, वस्तु-संगठन की थोड़ी शिथिलता भी उसका संगठन है।

अरस्तू कामदी के कथानक के दोनो अंग—स्थिति विपर्यय तथा अभिज्ञान और उसने सम्बद्ध विकृति तथा संवृत्ति की उपादेयता स्वीकार करते है और साथ ही वह जितना स्थान त्रासदी में भ्रम को देते है, उतना ही कामदी को भी देते है, इसी से तो चमत्कार उत्पन्न होता है। पर अन्तर यह है कि त्रासदी मे गम्भीर भ्रान्ति होती है, जिससे त्रास व करुणा की उत्पत्ति होती है और कामदी मे सामान्य और साधारण भ्रान्ति होती है जो हास्य को उत्पन्न करती है।

कामदी का प्रभाव—अरस्तू विरेचन के सिद्धान्त के द्वारा कामदी का भी साधारणीकरण कर हास्य को आनन्दमय व्यापार मानते थे और इस प्रकार कामदी का प्रभाव भी स्थायी और आनन्ददायक होता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार "इस प्रसंग मे अरस्तू का कोई वाक्य प्रमाण रूप में उपलब्ध नहीं है, अतः निश्चयपूर्वक कुछ कहना सम्भव नही है।"

निष्कर्ष—अरस्तू द्वारा साकेतिक कामदी के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अरस्तू ने कामदी को युगानुकूल प्रभाव के कारण निम्नवर्ग के व्यक्तियों के कार्यो और संवादो का अनुकरण माना है। वह सबसे पहले विचारक थे, जिन्होने कामदी पर विचार किया है, इसलिए काव्यशास्त्र के अन्य विषयों की तरह इस विषय पर दिए गए उनके विचारों का न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है, अपितु परवर्तीकालीन काव्यशास्त्रियो ने भी उन्हीं के विवेचन को अपने काव्य-विवेचन का आधार बनाया है।

प्रश्न २७—कामदी किसे कहते हैं? इसके विभिन्न रूपों का उल्लेख करते हुए विषय-चयन, उद्देश्य तथा शैली की दृष्टि से कामदी का विश्लेषण कीजिए।

दोषों का स्पष्टीकरण कामदी का प्रधान ध्येय है।" कामदी के सम्बन्ध मे इसी ध्येय को वह अपने ग्रन्थ एन अपोलौजी ऑव पोइट्री (An apology of poetry) में लिखते है कि कामदी का ध्येय दर्शको को केवल हँसाना भर नही है, अपितु उन्हें आनन्दपूर्ण शिक्षा देना भी है।

इन सब परिभाषाओं से यह सिद्ध है कि कामदी मे मानव को आनन्द प्रदान करने के लिए शिष्ट हास्य की सर्जना की जाती है। **अतः जो रचना हास्य उत्पन्न करे, वह कामदी कही जाएगी**। अब प्रश्न यह उठता है कि यह हास्य किस प्रकार का होना चाहिए। क्या यह केवल कल्पना की उड़ान हो, उच्छृंखल हो अथवा बचपने से सम्बन्धित हो। यदि अंग्रेजी कवि जार्ज मैरेडिथ के अनुसार कामदी की आत्मा का सम्बन्ध मानव के सामाजिक जीवन से माना जाय तो कामदी मानवीय मन के हास्य की छाया सिद्ध होती है और उसका हास्य भी वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होना चाहिए।

हेनरी बर्गसां कामदी के हास्य की मानवीय अनुभूतियो से सम्बन्धित मानते है। उन्होने लिखा है, "कामदी का हास्य मानवीय भावनाओं से सम्बन्धित है। इसका प्राण समाज में निहित है, कृत्रिमता, असंगति, हठधर्म की यह शत्रु है। इसमे भावनाओं की जाग्रति की अपेक्षा मानसिक जाग्रति रहती है। इसके हास्य का ध्येय मनुष्य का दर्प-दमन, संशोधन तथा सुधार है। कामदी का एक प्रकार से समाज के विरुद्ध चलने वालों का उपहास उड़ाती है और उससे प्रतिशोध लेती है। इसका उद्देश्य क्षति न पहुँचाकार ऐसे छीटे कसना है, जिनने सहज में ही आनन्द आए।" स्पष्ट है कि कामदी का प्रमुख तत्त्व हास्य है, जिसकी उत्पत्ति असंगति, अव्यवस्था तथा असम्बद्धता से होती है और यह सरल, सहज तथा मानव को आनन्द प्रदान करने का एक साधन है।

कामदी के रूप—कामदी के इस स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् अब यह जान लेना चाहिए कि कामदी के कितने रूप होते है। यद्यपि स्थूलतः कामदी एक ही होती है और उसका उद्देश्य प्रेक्षक अथवा सामाजिक को हास्य के द्वारा आनन्दित करना है, पर स्थूलतः हम इसे पाँच रूपों मे विभाजित कर सकते है। ये प्रकार निम्नलिखित है—

(१) **शास्त्रीय कामदी** (Classical Comedy)—जो कामदी शास्त्रीय

दोनों के ही समान विचार है—दोनों ने ही कामदी में इन्ही तीन तत्त्वो को मुख्य माना है।

विषय-चनय—अरस्तू, सिसरो तथा क्विटीलियन ने कामदी की विषय-वस्तु को **निम्न समाज में जीवन का चित्रण** माना है। उनके विचारों का एक मनोवैज्ञानिक आधार यह था कि कामदी की रचना का विषय-हास्य के लिए समाज का वही वर्ग हो सकता है जो नैसर्गिक रूप से सहानुभूति और प्रेम का पात्र न हो। पर इसके विपरीत अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयर ने श्रेष्ठ-वर्ग के समाज की समस्याओ को कामदी की विषय-वस्तु का आधार माना है।

इससे स्पष्ट है कि यूनानी कलाकार वर्ग-भेद के आधार पर कामदी का विवेचन करते है और इसका कारण है उनके समय मे यूनान मे प्रचलित दास-प्रथा थी जिनके प्रति अमानुषीय व्यवहार किया जाता था; साथ ही, श्रेष्ठ लोगों को उपहास्य बना दिया जाता तो जनता की दृष्टि मे उनकी प्रभुता का मूल्य ही क्या रहता? इस भय से साहित्यकारो ने श्रेष्ठवर्ग को पृथक् रख कर निम्नवर्ग को ही उपहास का पात्र बनाया, इसके विपरीत अंग्रेजी विचारको ने वर्ग-भेद की अपेक्षा समानता के स्तर पर कामदी का निर्माण किया।

कामदी में पीडा अथवा दुःख की भावनाओ को स्थान नही दिया जाता और न ही ऐसी स्थितियो का निदर्शन हो सकता है जिसमे हत्या, हिसा या पीड़ा हो। श्रेष्ठ समाज का चित्रण करते समय उसमे न किसी वर्ग-विशेष का चित्रण होता है न किसी व्यक्ति विशेष का। इसलिए इसका हास्य चित्ता-कर्षक तथा व्यापक होता है। कामदी का विषय-आधार सामाजिक अव्यवस्थाएँ, मानसिक असंगतियाँ तथा जीवन की हास्यात्मक कुरूपताएँ ही होती है। मानसिक असगति का इसमे विशेप रूप से उल्लेख होता है; क्योकि, ये अस्वा-भाविक होती है ओर इनमे हृदय तथा मस्तिष्क पर कोई अनुकूलता नही पडती।

शैली—कामदी की शैली व्यंग्यात्मक होती है। इसमे असंगतियों का चित्रण होने के कारण प्रत्येक कार्य ऊल-जलूल रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, अनर्गल प्रलाप को भी विशेष स्थान दिया जाना है। इसकी शैली के विषय मे लिखा है, "**कामदी के रंग-स्थल पर वृद्ध पात्रों को छोटों के द्वारा उपदेश प्रदान करना चाहिए, युवकों को अवगुणों का शिकार बनना चाहिए तथा विदू-षकों को अनर्गल संवाद बोलना चाहिए।**" कामदी की शैली मे उपहास का

व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होता है और जिन दोषों का यह उपहास उड़ाती है, उनकी साधारणीकरण की क्षमता के कारण महत्ता होती है। उसकी विषय-वस्तु भी इसलिए प्रसिद्ध न होकर प्रायः काल्पनिक ही होती है।

प्रश्न २८—यथार्थवाद का साहित्य-सम्बन्धी आदर्श क्या है? क्या उनके मूल में कोई स्वतन्त्र जीवन-दृष्टि है या वह केवल एक कला-सिद्धान्त है?

किसी वस्तु, पदार्थ, अनुभूति या गुण का जो वास्तविक स्वरूप है, उसका यथातथ्य निरूपण करना ही यथार्थवाद कहलाता है। साहित्यकार इनका दो रूपों में वर्णन कर सकता है—(१) अपनी कल्पना, प्रतिभा और आदर्शों के अनुसार वस्तु का मनोनुकूल रूप प्रस्तुत करना और (२) जो वस्तु जैसी है, उसका उसी प्रकार से वर्णन करना। पहला प्रकार आदर्शवाद और दूसरा प्रकार यथार्थवाद कहलाता है।

यथार्थवादी आन्दोलन का दर्शन के रूप में प्रणयन यूनान मे पाँचवी शताब्दी मे हुआ, पर साहित्य के क्षेत्र मे इसका आधुनिक अर्थो मे अभ्युत्थान १९वी शताब्दी मे हुआ। शीर्षको द्वारा निरीह जनता के शोषण से उत्पन्न वर्गसंघर्ष ने इन साहित्यकारो को यथार्थ-चित्रण करने पर बाध्य किया। इसके द्वारा लेखकों ने तटस्थ रूप से वस्तु-स्थिति का निरूपण अपना लक्ष्य माना है। यथार्थवादियों का निश्चत विश्वास है कि संसार मे जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही चित्रण करना श्रेयस्कर है। संसार वास्तव मे क्या है, इससे इसका ज्ञान हो जाता है।

संसार में अनेक वस्तुएँ ऐसी है जिनका मनुष्य से कोई सम्बन्ध नही है; फिर भी, उन्हें देखकर मन मे कौतूहल जाग्रत हो ही जाता है। इनके भयंकर रूप को देखकर वह अपनी रक्षा को सन्नद्ध होता है और सुन्दरता को देखकर वह मोहित होता है। यथार्थवाद इन वस्तुओ के स्वरूप की पहचान बताता है और एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है, जिसमे इन वस्तुओं को भली प्रकार समझा जा सके। मानव मूलत: यह विश्वास करता है कि—

(१) उसके चारों ओर यथार्थ रूप मे जो संसार विद्यमान है, उसके बनाने, बिगाड़ने या परिवर्तन करने में उसका कोई हाथ नही है।

(२) इसे केवल देखा, समझा और परखा ही जा सकता है और यह तभी सम्भव है, जब वातावरण तथा उसमे स्थित वस्तु का निरपेक्ष अध्ययन तथा निरीक्षण किया जाए।

for his health and longevity, for the great happiness of living on earth."

समाजवादी यथार्थवादियों का यह दृढ़ विश्वास है कि शोषण और अन्याय के आधार पर टिकी हुई यह समाज-व्यवस्था अधिक समय तक टिकने वाली नही है, नई और प्रगतिशील शक्तियाँ उसे समाप्त करके ही छोड़ेगी; अतः इसका स्वर पराजय और निराशा का स्वर न होकर आशा और उत्साह का स्वर है, जो मानव को वस्तुस्थिति का ज्ञान कराकर जीवन के प्रति आस्थावान बनाता है और काल्पनिक जगत् में विचरण करने की अपेक्षा वास्तविक जगत् को ही भव्य और सुन्दर बनाने की प्रेरणा देता है।

सच्चा यथार्थवाद—राल्फ फॉक्स का विचार है कि यथार्थ का चित्रण व्यक्ति के उस गहरे संघर्ष की भूमि पर होना चाहिए जो एक साथ ही उसकी अन्तरंग व बहिरंग —दोनों स्थितियो को समेट ले। सच्चा यथार्थवादी बाह्य जगत् के चित्रण के साथ-साथ मानव की मानसिक वृत्तियों का भी उद्‌घाटन करता है, जो कलाकार केवल वीभत्स और कलुष का ही चित्रण करते है, वे सच्चे यथार्थवादी नही है। बॉलजक आदि का दृष्टिकोण भी एकांगी ही कहा जायगा। उन्होंने युगीन समस्या का घृणित रूप ही प्रस्तुत किया है, युग का आशावादी यथार्थ नही दिया है। सच्चा यथार्थवादी आदर्श को भी साथ-साथ लेकर चलता है; क्योंकि आज का आदर्श ही तो कल का यथार्थ होता है।

इसलिए सच्चा यथार्थवाद मानव को निराशावादी नही, आशावादी बनाता है। कलाकार केवल अनुकरणकर्त्ता मात्र नही होता, वह सच्चा निर्माता होता है और इस निर्माण मे निर्माता की व्यक्तिगत रूचि भी काम करती है। इसलिए सच्चे यथार्थवादी कलाकार संसार को नूतन रूप भी प्रदान करते है। इसलिए जोलाँ ने, जिनकी रचना यथार्थवाद की चरम सीमा पर पहुँचती लगती है, लिखा है, "कला जीवन का एक कोण है जो मानव-प्रवृत्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।"

अतः यथार्थवादी दृष्टि समाज के लिए परमोपयोगी होती है। यह दृष्टि फोटोग्राफर की तरह चित्र खीचकर ही सामने नही रखती, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा भी करती है।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की अतिशयता भी

(सुधार) के अधिक निकट माना है और सर फिलिप सिडनी भी कला को सद्धर्म के निकट मानते है। **बेन जॉनसन** का कहना था कि कवियों का मुख्य उद्देश्य जीवन की श्रेष्ठ प्रणाली का सृजन करना है। **वर्ड्सवर्थ** ने भी कवि को उपदेशक के समान ही माना है **मैथ्यू आर्नाल्ड** ने तो स्पष्ट रूप मे यह घोषित किया कि जिस कविता में नीति के विरुद्ध विद्रोह है, उसमें जीवन के विरुद्ध भी विद्रोह है। इस सिद्धान्त का सबसे अधिक शक्तिशाली समर्थन **रँस्किन और टालस्टाल** द्वारा हुआ। टालस्टाय के अनुसार कलावस्तु का मूल्य तत्कालीन धार्मिक चेतना से ही निर्धारित करना चाहिए और धार्मिक चेतना से उनका अभिप्राय मनुष्यों का पारस्परिक ऐक्य और सब मनुष्यों का ईश्वर से ऐक्य है। रँस्किन तो पूर्णतः नैतिकतावादी था। रँस्किन ने तो यहाँ तक कह दिया—

"It is the witness of the glory of God"

कविता के सौन्दर्य का आस्वादन वही सौभाग्यशाली कर सकते है जो पवित्र एवं शुद्ध हृदय के हैं। रँस्किन सभी कलाओं का उद्देश्य नीति की शिक्षा देना मानते है, उनके अनुसार कविकर्म मनोरंजन से पृथक् एक गम्भीर वस्तु है।

Art properly so called, is no recreation, it cannot be learned at spare moments....It must be understood and taken seriously

इन्ही सब विचारकों के विचारों की प्रतिक्रिया मे 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त का जन्म हुआ। क्योंकि, इस सिद्धान्त में, 'कला जीवन के लिए' में—कुछ स्पष्ट न्यूनताएँ थी। इस सिद्धान्त के अनुसार कला का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ भी नही रह जाता, वह उपदेश की दासी बन जाती है। फिर कला सृजन की प्रक्रिया में नीति-अनीति का प्रश्न व्यर्थ तुल्य है; क्योकि, सौन्दर्य और आध्यात्मिकता—दोनो एक साथ कैसे सम्भव है ? फिर नैतिकता भी तो समाज-सापेक्ष है, उसका स्वरूप भी तो युगानुकूल परिवर्तित होता रहता है। यह सत्य बात है कि आज जिन वस्तुओं अथवा भावनाओ को नैतिक समझा जाता हो, कल उन्हें अनैतिक समझा जाए और आज की अनैतिकता समाज में कल की नैतिकता मे परिणत हो जाए। यदि यही है तो फिर साहित्य की शाश्वतता क्या रही है ? फिर एक-दूसरे धर्म के विरोधी है—उनमें से नैतिकता का आधार किसे मानें ?

ही है, जैसे रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना और समद्विवाहु त्रिभुज को सदाचारपूर्ण।"

ब्रेडले भी कला को केवल सौन्दर्य के मापदण्ड से ही मापते है और इस पर नीति के नियन्त्रण का विरोध करते है। क्योंकि, कला का अपना पूर्ण स्वतन्त्र और निरपेक्ष जगत् होता है—

'Its nature is to be not a part nor yet a copy of the real world but a world in itself, independent, complete autonomous."

स्पिन्गार्न ने कला के प्रयोजन पर सबसे स्पष्ट तथा पूर्णरूप से विचार किया है। उनका विचार है कि कला का नैतिकता, धर्म, दर्शन आदि से कोई सम्बन्ध नही है। सौन्दर्य की सृष्टि, जो कला का कार्य है, अपना उद्देश्य आप है।

और, यह ठीक भी है, क्योकि, सौन्दर्य, सौन्दर्य की अनुभूति मे ही बसता है। सौन्दर्य कोई गुण न होकर एक प्रभाव मात्र है, अतः कलाकार का कार्य सौन्दर्य की अनुभूति को ही प्रस्तुत करना होता है।

इस प्रकार 'कला' कला के लिए' के सिद्धान्त के समर्थकों के भी दो वर्ग है—एक वह वर्ग है जो कला का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति मानता है और दूसरा वर्ग वह है जो कला को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखता है।

इस दोनों ही प्रकार के समर्थकों के अनुसार कला का अन्तिम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और आत्माभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य उस आनन्द को प्राप्त करने का साधनमात्र है।

'कला, जीवन के लिए' के सिद्धान्त में दोष है—काव्य का लक्ष्य पूर्णरूपेण शिक्षा देना नही है और न ही नियमों का पालन कर नैतिकता का दास बनना है, उसी तरह काव्य का लक्ष्य पूरी तरह उच्छृंखल होकर जीवन से पूर्ण विरुद्ध होना भी नहीं है। इसलिए 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त मे भी अनेक दोष है एवं उसकी सीमाएँ है।

कला को न तो हम सम्पूर्ण जीवन ही मान सकते है और न ही उसके नितान्त विपरीत ही। उसे जीवन से सम्पूर्णतः अलग रखकर भी नही देखा जा सकता। पर साथ ही यह भी सही है कि कला को सिद्धान्त के अंकुश से मुक्त भी होना चाहिए, तभी उसमे मन का सौन्दर्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में स्फुरि

है, उसी से अनुभूति ग्रहण करता है और उसी अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए आतुर-आकुल हो जाता है, इस दृष्टि से आत्माभिव्क्ति में भी प्रच्छन्न रूप से जीवन का सम्बन्ध है।

जीवन का यह सम्बन्ध किस रूप में है, इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों की अनेक धारणाएँ है, । कोई तो साहित्य का उद्देश्य सत्य और सदाचार का नैतिकता के स्तर पर उपदेश मानता है, कोई जीवन का यथार्थ चित्रण मानता है और कोई इसे जीवन की आलोचना एवं जीवन का विश्लेषण मानता है

जो विद्वान् साहित्य का सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध मानते है, उनका विचार है कि साहित्य वाणी-विलास मात्र ही नही है, वह समाज का मार्ग-दर्शक भी है। इस वर्ग की दृष्टि मे वह साहित्य सफल एवं श्रेष्ठ है जो समाज को सत्य और शिव के मार्ग पर आरूढ कर सके। इस वर्ग के विचारक कला-वाद के विरुद्ध है। नीतिवादी विचारकों का अभ्युदय काव्यशास्त्र के आरम्भ से ही हुआ है। काव्यशास्त्र के प्रथम विचारक प्लेटो से ही इसकी परम्परा प्राप्त होती है। प्लेटो, अरस्तू, गेटे, होरेस, टालस्टाय, जॉन रस्किन, मैथ्यू आर्नाल्ड, शिखर, आई० ए० रिचर्ड्स आदि इसी वर्ग के प्रतिनिधि विचारक है—इन सभी ने साहित्य और सदाचार का अभिन्न सम्बन्ध माना है।

यूनानो दर्शनिक प्लेटो ने इस सिद्धन्त का प्रवर्तन किया है । यद्यपि उनसे पूर्व भी साहित्य और सदाचार का सम्बन्ध माना जाता रहा होगा, पर इस धारणा को सर्वप्रथम प्लेटो के 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। उन्होने लिखा है कि मानव-समाज के नैतिक विकास का भार कवियों पर होता है। प्लेटो ने जब सूत्र रूप से यह लिखा है कि साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बनाता है तो आलोचकों को सूझा कि जब साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बना सकता है तो सत्य और नैतिक को तो वह और भी रोचक बना सकता है। फलतः साहित्य का सदाचार से सम्बन्ध जुड़ गया और उसका उद्देश्य नैतिक और सदाचार की शिक्षा देना माना जाने लगा। दान्ते ने भी काव्य का का उद्देश्य प्रेम, नीति और सत्य की शिक्षा देना प्रतिपादित किया और सर फिलिप सिडनी ने भी यह माना है कि काव्य अथवा साहित्य सद्धर्म के अत्यन्त निकट है, इसलिए इनका सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध है।

"It is the witness of the glory of God."

काव्य या साहित्य का सौन्दर्यास्वाद भी प्रत्येक प्राणी नही कर सकता। जिनका हृदय पवित्र है, वही उसका आस्वादन भी कर सकते है; क्योंकि, साहित्य का एक ही उद्देश्य है—नीतिशिक्षा; और इसलिए साहित्यकार का परम-कर्त्तव्य है कि वह सद्गुणों, नीति आदि की शिक्षा दे। मनोरंजन तो रँस्किन के अनुसार अत्यन्त छिछला कार्य है, जबकि साहित्य का कर्म अत्यन्त गम्भीर है; यथा—

"Art, properly so called, is no recreation; it cannot be learned at spare moments....it must be understood and taken seriously."

स्पष्ट है कि रँस्किन साहित्य का उद्देश्य नैतिकता मानते है। वह स्पष्ट लिखते है कि साहित्य जीवन के लिए उपयोगी बने, मनुष्य को सत्पथ पर अग्रसर करे, ईश्वर के ऐश्वर्य का अवलोकन करने की सामर्थ्य प्रदान करे। यथा—

"....and the neglect of art, as an interpreter of divine things has been of evil consequence to the christian world."

समीक्षा—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारकों के एक प्रमुख वर्ग ने साहित्य और सदाचार का अभिन्न सम्बन्ध माना है; पर उनके ये विचार सिद्धान्त रूप में भले ही आकर्षक और आदर्शवादी लगे, इनका अतिवाद व्यवहार में सर्वथा अव्यावहारिक ही है। इसमे एक तो साहित्य की शाश्वतता नही रहती; क्योंकि, नैतिकता को यदि साहित्य का उद्देश्य माना जाएगा तो यह प्रश्न उठता है कि इस नैतिकता का आधार क्या है ? प्रत्येक धर्म के अनुसार मान्यताएँ विभिन्न है, फिर तो साहित्य धर्म-सापेक्ष हो गया। आज कोई मान्यता नैतिक है, कल उसके विरुद्ध भी आवाज उठ सकती है, परसो उसकी आलोचना भी हो सकती है। अतः साहित्य का स्थायी महत्त्व न होकर अस्थायी महत्त्व हो गया।

वैसे भी नीति, उपदेश और सदाचार का साहित्य से पूर्ण सम्बन्ध जोड़ना अनुचित है। इस दशा में साहित्य और नीतिशास्त्र में कोई अन्तर ही नही रहता। तार्किक अपनी बात तर्क द्वारा मनवाता है, नीतिकार शिक्षा देता है, और साहित्यकार तो अभिव्यंजना करता है। यह काम तो नीतिकार का है

सदाचार की भावनाओं का स्थान तो है, परन्तु है परोक्ष रूप से। इससे पाठक स्वयं प्रेरणा ग्रहण करता है, यह संवेद्य जाग्रत कर देता है; शेष कार्य तो पाठक पर निर्भर करता है, जो उससे कान्तासम्मित उपदेश ग्रहण करता है।

प्रश्न ३१—साहित्य किसे कहते हैं? इसकी प्रेरक शक्तियों का उल्लेख करते हुए साहित्य में मूल तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

साहित्य के मूल तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए 'शक्ति के साहित्य' और 'ज्ञान के साहित्य' का भेद स्पष्ट कीजिए।

साहित्य शब्द अंग्रेजी शब्द **लिटरेचर** (Literature) का पर्यायवाची है। हिन्दी साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' शब्द से हुई है, जिसकी संस्कृत मे व्याख्या है— '**सहि तेन भावः स साहित्यम्**' हित के भावों से भरे को साहित्य कहते है। 'सहित' में 'यत्' प्रत्यय लगकर साहित्य शब्द बना है। अंग्रेजी मे लिटरेचर दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) व्यापक अर्थ में, (२) संकुचित अर्थ मे। व्यापक अर्थ मे इसका अर्थ समस्त वाङ्मय से होता है। इसके अन्तर्गत सभी विषयों का साहित्य आता है। प्रत्येक प्रकाशित कृति साहित्य कहलाती। संकुचित अर्थ मे साहित्य का अर्थ रसात्मक साहित्य से होता है। इससे भाषा साहित्य का भी तात्पर्य हो सकता है। उपन्यास, कविता, नाटक, कहानी, गल्प, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी-साहित्य, गद्यकाव्य आदि सभी विधाओं का इसमें परिगणन होता है।

इस प्रकार स्थूलतः हम प्रत्येक हित-साधन करने वाली कृति को साहित्य कह सकते है, पर रूढार्थ मे साहित्य शब्द का प्रयोग रसात्मक साहित्य के अर्थ में ही होता है; क्योंकि, इसमें भावनाओ का प्राधान्य होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के स्वरूप का समग्रता से विवेचन किया है। हेनरी हडसन ने 'Study of literature' साहित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि विभिन्न साधनो मे **साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें किसी विशिष्ट काल की स्फूर्ति की अभिव्यक्ति होती है।** यही स्फूर्ति परिपक्व होकर राजनीतिक आन्दोलन, धार्मिक विचार, दार्शनिक वादों और कला के रूप में प्रकट होती है—

"Literature is only one of the many channels in which the energy of age discharges itself in its political movement, a

ही साहित्य की सर्जना नही होती, इसके लिए शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास भी आवश्यक है, अभ्यास के अन्तर्गत अध्ययन और चिन्तन-मनन आता है । इस प्रकार **साहित्य-सर्जना की मूलप्रवृत्तियाँ भावना, व्युत्पत्ति और अभ्यास होती हैं—इन तीनों के संयोग से ही उत्तम साहित्य की सर्जना होती है ।**

लेकिन इसके साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि साहित्यकार अपनी इच्छा का स्वयं स्वामी होता है—वह किसी के बन्धन में आबद्ध नही होता । जब उसकी इच्छा होती है, वह लिखता है । इसी को अंग्रेजी में 'मूड' (Mood) कहते है । अत. इन प्रवृत्तियों अथवा प्रेरक शक्तियों का अध्ययन करते समय हमे यह भी जानना चाहिए कि वे कौन-सी प्रेरक शक्तियाँ है जो साहित्यकार की साहित्य सृजन-शक्ति को प्रेरित करती है जिनके कारण वह जीवन के सत्यों को सुन्दर से सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करता है । इन प्रेरक शक्तियों पर पाश्चात्य विचारकों ने विस्तार से विचार किया है । हडसन ने साहित्य की चार प्रेरक शक्तियाँ बताई है—

(१) आत्माभिव्यक्ति की इच्छा (Desire of self-expression)

(२) मनुष्य और उसके कार्यो मे रुचि (Interest in people and their doings)

(३) यथार्थ जगत् के प्रति आकर्षण और तदनुसार कल्पना-जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति (Interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination in which we constitute into existence.)

(४) रूप-विधान की कामना (Love of form as from) ।

हीगेल ने सौन्दर्यानुभूति को इसकी प्रेरक प्रवृत्ति बताया है । वह लिखते है, "**सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनन्द का जो स्रोत आविर्भूत होता है, उसी का उच्छलन कविता है ।**" अतः काव्य अथवा साहित्य की प्रेरणाशक्ति, हीगेल के अनुसार, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है ।

क्रोचे भी हडसन की तरह आत्माभिव्यक्ति को साहित्य-सृजन की मूल प्रेरक शक्ति मानते है; क्योकि, जगत् के नाना पदार्थो के संसर्ग से मानव-मन में उन्हे मूर्तरूप देने की इच्छा होती है और यही इच्छा साहित्य की सर्जना में प्रवृत्त होती है ।

फ्रायड जीवन की समस्त क्रियाओं की मूलभावना वासना (sex) आव"

को ही प्रस्तुत करता है और अपनी अनुभूति से देश-काल की सीमा का उल्लंघन करके सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक साहित्य की सर्जना करता है, जो सभी जनों तथा सभी समय के लोगों को प्रिय होता है। जब तक भाव न होंगे, अभिव्यक्ति किसकी होगी ? कोई भी पदार्थ, स्थिति, दृश्य अथवा घटना तब तक अभिव्यक्ति नहीं पा सकती, जब तक साहित्यकार के हृदय मे उसके प्रति भाव जाग्रत नहों। भावों के जाग्रत होने पर ही साहित्य लोकहित तथा लोकाकर्षण की वस्तु बन जाता है।

अंग्रेजी विचारक **विंचेस्टर** ने साहित्य में इन भावों की विशेषताएँ बताई है। इन्ही से भाव तीव्र और प्रभावोत्पादक बनते है—(१) भावनाओं का औचित्य, (२) भावनाओं की विशदता और शक्तिमता, (३) भावनाओं की स्थिरता और उनका साहित्य; (४) भावनाओ की विविधता, और (५) भावनाओं की पवित्रता तथा औदात्य।

इस प्रकार भाव-तत्त्व को जाग्रत करने, उसे तीव्रतर तथा प्रभावोत्पादक बनाने मे औचित्य, विशदता, स्थिरता, विविधता तथा वृत्ति, गुणादि सहायक होते है। इन्हें साकारता शब्द, अर्थ और कल्पना से ही प्राप्त होती है।

(२) **बुद्धि-तत्त्व**—बुद्धि का सम्बन्ध विचारो, तथ्यो और सिद्धान्तों से है। बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व इस बात मे है कि यह भाव, कल्पना तथा शब्दार्थ का संयोजन औचित्यपूर्ण करता है। यह साहित्य को कलेवर प्रदान करता है। इसी से साहित्प में व्यवस्था रहती है। प्रत्येक साहित्यिक रचना का कोई न कोई उद्देश्य तो होता ही है। इन उद्देश्यों की काव्य मे अभिव्यक्ति भी बुद्धि तत्त्व से होती है। साहित्य के क्षेत्र में बुद्धि तत्त्व, समग्रतः निम्मलिखित कार्य करता है।

(१) भावों की आधारभूमि का निर्माण करता है।

(२) अव्यक्त भावों को स्पष्ट करता है।

(३) लेखक के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की समुचित व्यवस्था करता है।

(४) भावों को व्यवस्थित करता है।

(५) भावाभिव्यक्ति में चमत्कार-योजना करता है।

(६) दार्शनिक विचारों को सुन्दर तथा रमणीय रूप में प्रस्तुत करने मे सहायता देता है।

(३) **कल्पान-तत्त्व**—साहित्य में भावों का निरूपण कल्पना के माध्यम से

प्रयोग ही क्या, अतः शब्द-तत्त्व की सार्थकता अर्थ तत्व से ही ज्ञात होती है। इसी के समावेश से शब्द-तत्त्व की उपादेयता है। अर्थ भी साहित्य का प्रमुख तत्त्व है। यह कल्पना का वाहन और सत्य का द्योतक है। इसी से साहित्य का सौन्दर्य समझ मे आता है और उसकी कल्याणकारी भावना प्रस्तुत होती है।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि साहित्य मे इन चारों तत्त्वो का होना अनिवार्य है। इनमे से किसी भी तत्त्व का परिहार असम्भव है। वर्तमान काल में 'ज्ञान का साहित्य' और 'शक्ति का साहित्य' इसके दो भेद हैं—पर ये भेद स्थूल रूप से है। मूलतः सभी साहित्य है; क्योंकि प्रत्येक साहित्य किसी-न-किसी प्रकार साधना ही करता है।

प्रश्न ३२—"साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं, आत्मा से पलायन है।" इलियट के इस मत की परीक्षा कीजिए।

अथवा

'साहित्य जीवन की आलोचना है' और 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति है।' ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी तो नहीं हैं? सिद्ध कीजिए।

साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते समय विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है। कुछ विद्वान् साहित्य को जीवन की आलोचना मानते है और कुछ उसे आत्माभिव्यक्ति। इसके विपरीत एक स्वच्छन्दतावादी वर्ग भी है जो साहित्य को आत्मा से पलायन मानता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद की **ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे**' अथवा '**नाविक इस सूने तट पर किन लहरों में खे लाया? इस बीहड़ वेला में भी अब तक क्या कोई आया?**' नामक पंक्तियाँ इसी पलायनवाद की ओर संकेत करती है।

साहित्य के प्रति व्यक्त इन विचारों पर पाश्चात्य और आधुनिक हिन्दी-विचारक—दोनों ने ही विचार किया है। मैथ्यू आर्नाल्ड '**साहित्य को जीवन की आलोचना**' मानते है और इलियट '**साहित्य को आत्मा से पलायन**' मानते है। इसके विपरीत रिचर्ड्स, विसलर, पेटर आदि साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। यहाँ हम तीनो विचारणाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे।

साहित्य आत्माभिव्यक्ति है—साहित्य को आत्माभिव्यक्ति का साधन मानने वाले विचारक 'कला, कला के लिए' अथवा 'काव्य के लिए' के सिद्धान्त

हुआ कि साहित्य का उद्देश्य केवल मानव को उपदेश देना तथा सुधार-मार्ग पर लगाना भर रह गया।

वस्तुतः साहित्य जीवन की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है, यद्यपि वास्तविकता का दर्शन कराने के लिए वह जीवन की यथार्थता का वर्णन भी करता है और समाज तथा जीवन की गन्दगी भी उसमें आ सकती है, पर उसके उद्देश्य भी सुधारवादी ही होना चाहिए। जीवन से ही साहित्य को पोषण मिलता है। लेकिन साहित्य तो केवल मार्ग दिखा सकता है, वह (साहित्यकार) जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव करता है, उसे पूरी ईमानदारी के साथ और पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर देता है—यही उसका कर्तव्य है।

साहित्य समाज का दर्शन है। मनुष्य जो कुछ देखता है, सुनता है, प्रेरणा लेता है, वह सब समाज और जीवन से ही। अतः साहित्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है और इसीलिए मैथ्यू आर्नाल्ड ने लिखा है—**"साहित्य जीवन की आलोचना है।"** साहित्य मे जीवन के कोमल और कठोर दोनों पक्ष देने चाहिए; अन्यथा साहित्य की प्राणवत्ता अथवा भव्यता नष्ट हो जायगी! यदि साहित्य को जीवन की आलोचना न मानकर केवल आत्माभिव्यक्ति माना जायगा तो उसमें काल्पनिकता के समावेश से, जीवन से कोई सम्बन्ध न रहने पर, साहित्य परी-जगत् की वस्तु लगने लगेगा और तब उसमें किसी प्रकार भी पाठकों के मन को पकड़ने अथवा आकर्षित करने की शक्ति नही रहेगी। क्योकि, मानव उसी घटना अथवा स्थिति से अधिक प्रभावित होता है जो जीवन से—मानव-जीवन से सम्बद्ध होती है। संसार मे, क्या ब्रह्माण्ड मे नित्य ऐसी घटनाएँ घटती रहती है, प्रकृति मे उल्कापात होते है, एक ग्रह टूटता है, दूसरा बनता है, पर इसका मानव पर कोई प्रभाव नही पड़ता। इसके विपरीति उसके जीवन से सम्बद्ध छोटी-से-छोटी घटना भी उसे प्रभावित करती है। अतः साहित्य और जीवन का अभिन्न सम्बन्ध है।

साहित्य और जीवन का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जान पर अब विचारनीय प्रश्न यह है कि साहित्य जीवन का यथातथ्य निरूपण करता है या उसकी आलोचना करता है। इस पर विचार करते हुए **बेन जॉनसन** ने लिखा है कि साहित्य का प्रथम उद्देश्य जीवनयापन के आदर्श-नियमो का निरूपण करना है। विलियम वर्ड्सवर्थ भी यही मानते है, **"जीवन की केवल यथार्थ**

तो बनाएगा । अर्थात् जीवन के अनुभूत सत्यों की ही तो वह आलोचना करेगा। इस प्रकार उसकी इस आलोचना में भी अभिव्यक्ति की प्रधानता रहेगी, भले ही उस आत्माभिव्यक्ति का रूप परिवर्तित हो जाए।

स्पष्ट है कि साहित्य केवल कल्पना की वस्तु नही है, उसे यथार्थ और सत्य का आश्रय लेकर अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होता है। इसलिए मैथ्यू आर्नाल्ड का कहना है—

"Poetry is a criticism of Life" अर्थात् काव्य जीवन की आलोचना है।

निराशावादी (आत्मा से पलायन) दृष्टिकोण जीवन के एकांगी रूप को ही प्रस्तुत करता है। अतः साहित्य मे इन दोनों पक्षो की अभिव्यक्ति होती है और दोनों ही एक-दूसरे के पूरक है। परन्तु यह अवश्य है कि दोनों को अपनी अपनी सीमाओं मे रहना चाहिए; अन्यथा वे अपना महत्त्व खो बैठते है। जहाँ सीमातिक्रमण करके अतिवाद आता है, वही अपवादों का जन्म होता है। इसी लिए मैथ्यू आॅर्नाल्ड के शब्दो मे कहा जा सकता है, "काव्य (साहित्य) अन्ततोगत्वा जीवन की सम्यक् आलोचना है और कवि की महत्ता उसकी सौन्दर्य-साधना में निहित है और यह सौन्दर्य-साधना इस प्रश्न से सम्बन्धित है कि जीवित कैसे रहें।"

यही साहित्य की सम्यक् विवेचना है।

प्रश्न ३३—क्या साहित्य जीवन की अनुकृति है या अभिव्यक्ति ? अरस्तू और इलियट के काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर इसका परीक्षण कीजिए।

साहित्य समाज-सापेक्ष होता है और समाज मानव-जीवन और मानव-कार्यो का संगठित समूह है। अतः साहित्य मानव-जीवन का मूर्त प्रतिबिम्ब होता है। पर यहाँ प्रश्न यह है कि साहित्य जीवन की अनुकृति है अथवा उसकी अभिव्यक्ति। अनुकृति अथवा अनुकरण मे तो किसी वस्तु या पदार्थ की नकल होती है अतः उसमें कुछ कृत्रिमता का आना स्वाभाविक ही है, किन्तु अभिव्यक्ति मे वस्तु का यथातथ्य चित्रण होता है। कुछ विचारक साहित्य को जीवन का अनुकरण मानते है और कुछ उसे जीवन की अभिव्यक्ति। अतः इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यहाँ दोनों मतों का विवेचन आवश्यक है। यहाँ हम संक्षेप मे पहले दोनो मतों का उल्लेख करेंगे :

साहित्य : जीवन की अनुकृति अथवा अनुकरण—साहित्य को जीवन का

कविता की तुलना चित्रकला के साथ की है। नाटक को तो वह स्पष्टतः ही जीवन का अनुकरण मानते है।

साहित्य : जीवन की अभिव्यक्ति—टी० एस० इलियट ने साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति माना है। उनका विचार है कि साहित्य की अभिव्यक्ति मनोभावों की अभिव्यक्ति है। कलाकार अपने व्यक्तित्व का बहिष्कार करके जीवन का साहित्य में यथातथ्य निरूपण करता है। इलियट के अनुसार, "The progress of an artist is a continual, self sacrifice, a continual extinction of personality." इस अभिव्यक्ति को उसने निर्वैयक्तिक माना है। उनका मत है कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है। वह अपने भावो को अलग कर साहित्य की सर्जना करता है। साहित्य में व्यक्तिगत भावों की ही अभिव्यवित नही होती, वरन् उसमे समग्र जीवन की अभिव्यक्ति होती है। साहित्यकार साहित्य मे यद्यपि जीवन की अभिव्यक्ति करता है; फिर भी, यह अभिव्यक्ति अनुभूति होती है। वह अपने अनुभवो की ही अभिव्यक्ति करता है, लेकिन इन अनुभवो का व्यक्तिगत स्वर समाप्त हो जाता है और वह सर्वधारण का भावन करने लगते है। साहित्यकार सभी की अनुभूतियों को आत्मसात् कर लेता है और फिर उन्हें साहित्य के माध्यम मे अभिव्यक्त करता है। इसलिए उसने लिखा है, "**मै विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है।**" इस प्रकार उनके अनुसार साहित्य अमूर्त भावनाओं का मूर्त्तरूप है। यथा—

"The only ways of expressing emotion in the form of Art is by finding an objective, corelative, in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, so that when the external facts........ ...are given the emotion is immediately evoked"

इस प्रकार साहित्यकार अपनी अमूर्त भावनाओ को मूर्त रूप मे प्रकट करने के लिए अपनी संवेदनाओ और अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु-मूलक चिह्नों से काम लेता है।

साहित्य : जीवन की अनुकृति या अभिव्यक्ति—इन दोनों विचारो के

से ग्रहण करता है और उसकी अभिव्यक्ति कल्पना के माध्यम से करता है और यह कल्पना ही अनुकरण व अभिव्यक्ति को एक तार में पिरोती है।

प्रश्न ३४—शैली किसे कहते हैं ? शैली के भेदों का निरूपण करते हुए साहित्य में शैली के महत्त्व का प्रतिपादन कीजिए।

साहित्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कलापक्ष के माध्यम से ही भावों की अभिव्यक्ति होती है और कलापक्ष अभिव्यक्ति के माध्यम से ही मुखर होता है। भावों की यह अभिव्यक्ति ही शैली कहलाती है, अर्थात् जिस प्रकार से भावों को अभिव्यक्त किया जाता है, भाषा का वह माध्यम शैली कहलाता है।

शैली की परिभाषा—पाश्चात्य आलोचकों एवं काव्यशास्त्रियों ने शैली तत्त्व का विवेचन कर उसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी है, जिनमें पोप, कारलायल, न्यूमैन आदि प्रमुख है। **पोप** के अनुसार शैली विचारो का परिधान है।" (Style is the dress of thoughtt) लेकिन **कारलायल** का कहना है कि शैली लेखक का परिधान न होकर उसकी त्वचा है।" (Style is not the coat of writer, but skin) **न्यूमैन** के अनुसार, "शैली बोलने या लिखने का अनवरत पदसमुच्चय या रीति है।" (Style is a constant and continual phrase of tenour of speaking and writing.) एक अन्य आलोचक के अनुसार, "शैली व्यक्तित्व का सूचक है।" (Style is an index of Personality.) **आई० ए० रिचर्ड्स** का मत है, शैली स्वयं कवि अथवा लेखक है (Style is the man himself)।

इस प्रकार विद्वानों ने शैली-तत्व को विविध परिभापाओं मे बाँधने का प्रयास किया है। पोप की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम कह सकते है कि पोप विचारों को शरीर और शैली को उसे ढँकने का परिधान मानते है किन्तु यह परिभाषा भी अपूर्ण है; क्योकि, विचार और शैली का सम्बन्ध वह नही है, जो शरीर और परिधान का होता है। शरीर और परिधान को अलग-अलग किया जा सकता है, पर विचार और शैली को नही। भारतीय साहित्य मे शैली के लिए 'रीति' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से यह शब्द अत्यन्त वैज्ञानिक है। मनुष्य जो सोचता है, एक रीति से सोचता है लेखक उन्हे अपनी लेखनी से व्यक्त करता है। विचारो और शैली का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति पोप की परिभाषा मे नही हो पाई है।

विलियम वर्ड्सवर्थ ने शैलीगत विशेषताओं—विलक्षणता (Quaintness दूरारूढ़ कल्पना (Conceits) अतिशयोक्ति (Hyperbole) शाब्दिक चमत्कार तथा अस्पष्टता की भी आलोचना की। वर्ड्सवर्थ ने काव्य-शैली के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठाई है, उनकी भाषा मे अत्यन्त शिथिल है, जिसके फलस्वरूप कॉलरिज आदि विद्वानों ने उनकी कटु आलोचना की। उनकी काव्य-रचना कही-कही अत्यन्त उलझी हुई है। उन्होंने कभी-कभी पुस्तकीय बह्वक्षर (Poly-syllabic) शब्दों का प्रयोग किया है, भावाभास (pathetic Fallacy) का भी प्रयोग उनके काव्य मे बहुलता से मिलता है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने गद्य और पद्य की शैली को कभी एक नही माना वरन् वह गद्य और पद्य की शैलियों मे पर्याप्त भेद मानते है और उनकी शक्तियों को भी एक-दूसरे के भिन्न मानते है। उन्होने कहा है, Prose can not have the power of verse." अर्थात् गद्य मे पद्य की शक्ति नहीं आ सकती। उनका तर्क है कि कविता का निर्माण आत्मा मे होता है, जबकि गद्य मस्तिष्क से उद्भूत होता है। अतः दोनो की शैली और भाषा मे अन्तर होना स्वाभाविक ही है। वह उक्ति मे कसावट, शुद्धता, स्पष्टता और संगीतात्मकता को काव्य-शैली के अनिवार्य गुण मानते है और इन्ही गुणों को ग्रे (Grey) की काव्य-शैली मे पाकर उनकी प्रशंसा भी करते है। वह अर्थ-गाम्भीर्य को बड़ा महत्व देते है और कवियो को परामर्श देते है कि वे कम-से-कम शब्दों मे अधिक-से-अधिक अर्थ देने का आदर्श अपनाएँ। गद्य शैली के विषय मे उनका मत है कि उसमें नियमितता (Regularity), एकरूपता (Uniformity), संक्षिप्तता (Precision) और सन्तुलन (Balance) होना चाहिए।

शैली के भेद—शैली के इस विवेचन से स्पष्ट है कि शैली मानवोद्गारो की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिव्यक्ति-भेद से शैली के भी अनेक भेद होते है जो निम्नलिखित है—

व्यक्तित्व के आधार पर—व्यक्तित्व के आधार पर यदि शैली के भेद किए जाएँ तो उसके असंख्य भेद किए जा सकते है, क्योकि, प्रत्येक लेखक अथवा साहित्यकार का अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। अतः व्यक्तित्व के आधार पर शैली के भेद नही किए जा सकते। यह वर्गीकरण अव्यावहारिक होगा।

विषय के आधार पर—विषय के आधार पर किए गए शैली के भेद

होता है, चाहे थोड़ा ही हो। बात कहने के ढंग का विषय की बोधगम्यता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।"

लोंजाइनस ने शैली को अत्यधिक महत्व दिया है। उदात्त शैली के तत्वों की विवेचना करते हुए वह कहते है, "किसी विषय के समस्त घटक—अंगों और अंगभूति-प्रसंगों की समष्टि ही विस्तारण है, जिससे विषय के विस्तार द्वारा युक्ति में बल आता है।"

यूनानी आचार्य **होरेस** के अनुसार, "कवि का शब्दचयन सुन्दर और सुष्ठु होना चाहिए और किसी शब्द का परित्याग तो करना चाहिए।" अर्थात् शैली को प्रवाहपूर्ण अनिवार्यतः होना चाहिए, क्योंकि, दुर्बोध शैली भावों की साधक न होकर बाधक सिद्ध होती है। अतः कवि या लेखक को चाहिए कि जहाँ तक संभव हो सके, वह अपने वाक्य-विन्यास को सरल और प्रवाहपूर्ण रखे। इन सब गुण और दोषों के अतिरिक्त एक अन्य भयंकर घातक शक्ति भी शैली के अन्तर्गत कृत्रिमता के रूप में होती है। साहित्यकार को सदा इससे जागरूक रहना चाहिए एवं उससे बचने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। **वाल्टरपेट** ने इसी दोष की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "शैली व्यक्ति है, किन्तु वह व्यक्ति नही, जिसके मन की तरंग मनमानी और अतार्किक, असहज, अकृत्रिम है, वरन् वह व्यक्ति है जिसकी अनुभूति उस वस्तु के सम्बन्ध मे पूर्णतः ईमानदारी की है, जो उसके लिए सबसे बड़ा यथार्थ है।"

वस्तुतः सभी साहित्यक कृतियों के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम होने ने कारण शैली का महत्त्व अत्यधिक है, रचना के लिए भाव कितने ही उदात्त, विशद् गम्भीर तथा मौलिक क्यो न हों यदि उनको प्रस्तुत करने का ढंग सुन्दर तथा प्रभावकारी नही है तो उनकी कोई उपादेयता नही है। वरन् कहा जा सकता है कि शैली से ही साहित्य में अनेक विधाओं का जन्म हुआ है। किसी भी भाव को अभिव्यक्त करने का ढंग ही किसी विशेष विधा को जन्म दे देता है। भाव एक होता है, उपन्यास, नाटक कहानी एकांगी—सभी में, रूप अभिव्यक्ति के भेद से इन विधाओ का रूप बनता है; अन्यथा अपने मूल रूप में विचार एक ही होता है। यदि किसी विचार को लय रूप मे संगीत और छन्द की सहायता से अभिव्यक्त किया जाए तो वह काव्य अथवा कविता का स्वरूप धारण कर लेता है, पर वही भाव विवरण-प्रधान गद्यात्मक शैली मे निबन्ध बन जाता है और घटना के द्वारा प्रस्तुत होकर उपन्यास बन जाता

समर्थक विद्वान् आते है। इसमें विलियम वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, पी० बी० शैली ले हण्ट, एडगर एलिन पो आदि के नाम मुख्य है।

वैसे सभी विद्वान् इस पर सहमत है कि काव्य के लक्षण में अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष न होना चाहिए; स्पष्टता उसका मुख्य गुण है और संक्षेप होने से भाषा मे कसावट आ जाती है। अतः इन्हीं आधारो पर हम पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के काव्य-लक्षणो का पर्यवेक्षण करेगे।

वस्तुपरक काव्य लक्षण—प्राचीन ग्रीक मे जो विचारक हुए, उनकी काव्य दृष्टि वस्तुपरक ही थी। यही कारण है कि काव्यशास्त्र के आद्याचार्य प्लेटो ने काव्य को सौन्दर्य-परक दृष्टिकोण से न देखकर समाज-सुधारक की दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि वह काव्य को 'अनुकृति' की अनुकृति' कहते है। वह काव्य को 'प्रकृति और मानव का अनुकरण' मानते है प्रकृति सत्य का अनुकरण है—अतः काव्य सत्य से बहुत दूर हो जाता है।

प्लेटो की यह दृष्टि एकागी तथा आदर्शवादी है। उन्होने काव्य लक्षण काव्यशास्त्र की दृष्टि से नही दिए, अपितु एक आदर्श राज्य की दृष्टि से दिए है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सर्वप्रथम अरस्तू ने काव्य के लक्षण दिए। यद्यपि इनकी दृष्टि भी वस्तुपरक ही रही है; फिर भी प्लेटो की अपेक्षा व्यापक है। उनके अनुसार, काव्य-कला भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। यहाँ अरस्तू का प्रकृति से अभिप्राय जड़-जगत् (नदी, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि) तथा अन्तर्जगत (मानवीय भावनाएँ) दोनों से है। इसी प्रकार वह अनुकरण का अर्थ यथावत् नकल न लेकर अनुकरण को भावनामय मानते है और स्वीकार करते है कि कवि अपनी संवेदना से अनुभूति और कल्पना आदि का प्रयोग करके 'अपूर्ण को पूर्ण' बनाता है। इसलिए अरस्तू की काव्य-परिभाषा स्पष्ट शब्दो मे, **'जीवन और जगत् का कल्पनात्मक पुनःसृजन'** है।

पर अरस्तू की मूल परिभाषा के आधार पर इन दोनो का अर्थ स्पष्ट नही है। उनका काव्य-लक्षण अपने आप मे स्पष्ट और अर्द्ध-व्यक्त है। इसमें अव्याप्ति दोष भी है। अनुकरण का अर्थ सृजन से निकलता ही नही है, फिर जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है, "अनुकरण और प्रकृति—ये दोनों ही वस्तु-तत्व पर जोर देते है, अत इसमे भावपक्ष या अनुभूति के प्रति उदासीनता है।"

में भी होती है, फिर दर्शन और काव्य मे क्या अन्तर रहेगा, जबकि काव्य और दर्शन दो भिन्न विषय है। यदि समीक्षा का अर्थ कल्पनात्मक पुन:सृजन लिया जाए, तो कुछ संगति बैठ भी सकती है, पर व्यवहारत: समीक्षा और सृजन मे पर्याप्त अन्तर है, इसमे भ्रान्ति ही उत्पन्न होती है।

तृतीय और अन्त मे, काव्य का लक्षण ऐसा होना चाहिए जिसकी व्याख्या की कोई आवश्यकता न हो, पर इसमे काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य शब्द ऐसे है जो स्वयं में उलझे हुए है, उनकी व्याख्या अपेक्षित है। उन्होंने इन दोनों पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है इसका अर्थ है कल्पना-तत्व और राग-तत्व, पर ये स्पष्ट नही है, इनकी व्याख्या तो काव्य से भी अधिक सूक्ष्म हो जायगी।

इन सब कारणो से मैथ्यू आर्नाल्ड की परिभाषा अपूर्ण तथा उलझी हुई है।

अनुभूतिपरक दृष्टिकोण—स्वच्छन्दतावाद के उदय से विचारकों की दृष्टि को भी नूतन दिशा का आलोक ज्ञात हुआ। उन्होंने काव्य को सूक्ष्म दृष्टि से देखना आरम्भ किया। अत: काव्य की परिभाषा काव्य की निर्माण-प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व के आधार पर होने लगी, जो अनुभूपिपरक कहलाती है।

इस प्रकार की दृष्टि से सर्वप्रथम वर्ड्सवर्थ ने काव्य के लक्षणो पर विचार किया। विलियम वर्ड्सवर्थ रोमाण्टिक युग के प्रवर्तक माने जाते है। इनके अनुसार 'कविता प्रबल भावो का सहज उच्छलन है'—

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feeling. It takes its origin from emotions recollected in tarnquility."

विलियम वर्ड्सवर्थ की यह परिभाषा अत्यन्त प्रभावशाली है। इसके द्वारा उन्होने काव्य की अनुभूतिपरक व्याख्या की है। काव्य का मूलतत्व है भाव और कविता उन भावों का उच्छलन है; अत: काव्य के समग्र रूप को अभिव्यक्त कर देती है, पर इसमें साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि इसमे अतिव्याप्ति दोष भी है। फिर यह भावों की समग्रता से व्याख्या नहीं करती। जब हम यह कहते है कि कविता भावो का उच्छलन है तो प्रश्न उठता है कि क्या सभी मनोवेग काव्य हो जायेगे। मनोवेगों की अनुभूति और भाव बन जाने पर ही कवि के भावोद्रेक प्रकट गरने पर काव्य की सर्जना होती है। मन मे तो अनेक भावनाएँ उमड़ती-घुमड़ती है, पर जब तक वे कवि की अभिव्यक्ति-भावना से

होती है। दूसरे शब्दों में, अरस्तू की दृष्टि मे काव्य के मूल तत्व इस प्रकार है—

१. वास्तविक जगत्

२. अनुकृति की भावना

३. अनुकृति में शब्द, छन्द और संगीतात्मकता।

विलियम शेक्सपीयर (William Shakespeare) ने काव्य में 'कल्पना को प्रमुखता देते हुए लिखा है—कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है। उसकी लेखनी वायवी नगण्य-अस्तित्व-शून्य पदार्थों को भी मूर्त रूप बना कर नाम तथा धाम प्रदान करती है—

'The poets eye, in a fine frenzy rolling.
Doth glance form heaven to earth, form
earth to heaven.
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown the poets pen
turns them to shopes and gives to airy nothings.
A local Habitation and a name."

कवि-हृदय मे भावना का आवेग ही कविता का कारण होता है। इन आवेग की अनुभूति से जब कवि हृदय आतुर हो जाता है तब उसकी वाणी मचल उठती है। इसी बात को **विलियम वर्डसवर्थ** (William Wordsworth) कहता है कि काव्य शान्ति के समय मे स्मरण किए हुए प्रबल मनोवेगो का स्वच्छन्द प्रवाह है—

"poetry is spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin form emotion recollected in tranquility."

इस परिभाषा में कवि ने 'भाव' को प्रधानता दी है।

जॉन मिल्टन (John Milton) ने कविता को सरल, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक कहा है—"Poetry should be simple, sensuous and passionate."

कॉलरिज (Coleridge) ने काव्य में 'अभिव्यक्ति' को प्रधानता देते हुए कहा है—"कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रमविधान है"—Poetry is the best words in the best order."

कारलायल ने इस परिभाषा में छन्द (Metre) और गीत (Song) पर विशेष बल दिया है।

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि तथा आलोचक **मैथ्यू आर्नाल्ड** (Mathew Arnold) ने लिखा है कि कविता मूल मे जीवन की आलोचना है—

"Poetry is at bottom a criticism of life."

आर्नाल्ड ने परिभापा में विचार तत्व और जीवन पर अधिक बल दिया है। भावात्मकता का इसमें अभाव है।

हडसन (Hudson) ने अपनी कविता की परिभाषा में सभी मतों का समन्वय-सा कर दिया है। उनका विचार है कि कविता कल्पना और मनोवेगों द्वारा जीवन की व्याख्या करती है—

"Poetry is interpretation of life through imagination and emotion."

फिर भी, इस परिभाषा में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की कमी रह जाती है।

एलन पो (Allen Poe) ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

"I would define in brief the poetry of words as the rhythmical creation of beauty."

पी० बी० शैली (P. B. Shelly) के शब्दों मे, "कविता सदैव आनन्द से युक्त रहती है। परन्तु इसका प्रभाव अलौकिक, अकाल्पनिक और जागतिक चेतना से ऊपर होता है।" क्योंकि "कवि शाश्वत, असीम और एकत्व का सहमार्गी होता हैं। उसकी भावना में समय, स्थान और नानात्व का अवकाश नहीं होता है।"

शैली (Shelly) की यह परिभाषा भारतीय काव्य-दर्शन के मेल में है कि हम उसे भारतीय रस-दर्शन का अनुवाद कह सकते है जिसमे काव्यानन्द को ही ब्रह्मानन्द सहोदर के नाम से सम्बन्धित किया है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ का अध्ययन-विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है—

१. विषय का सत्य होना।

२. विषय जगत् और जीवन से लिया जाना चाहिए।

३. विषय जीवन और जगत् की व्याख्या करने वाला होना चाहिए।

४. वह इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाए कि वह आनन्द दे।

उसके योग कविता अपने आप बोलने लगती है। अनादिकाल से चित्रकला, मूर्तिकला, काव्यकला इत्यादि में प्रतीकों का बाहुल्य रहा और प्रतीक कल्पित मनभावो के लिए ही प्रयुक्त हुए है और उनका क्षेत्र कल्पना का ही क्षेत्र है। इस प्रकार मनोभावो की अभिव्यक्ति जब साधारण शब्दों से नही हो पाती, तब कल्पना का आश्रय ही लिया जाता है।"

डा० देवराज उपाध्याय ने कल्पना के सम्बन्ध मे लिखा है, "कल्पना, आत्मा और प्रकृति में समाधान रूप से अवस्थित रहने वाली वस्तु है, जिसके कारण कवि प्रकृति-वस्तु का आदरर्शीकरण कर सकता है और उसे मनन का रूप दे सकता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भावना और कल्पना की अभिन्नता को शब्दो में अंकित करते हुए लिखते है—"जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन मे लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना कल्पना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते है और आजकल के लोग कल्पना।"

डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने कल्पना के विपय मे लिखा है, "कव्य-या साहित्य में जगत् और जीवन का यथातथ्य अनुकरण-मात्र स्रष्टा की वास्तविक या सर्वोच्च प्रतिभा का प्रकाशक नही होता है। यह अनुकरण रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे हीनकोटि का होता है। साहित्य तो कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का क्षेत्र है जिसमें वस्तु-जगत के आधार पर स्रष्टा के निगूढ़तम अवचेतन के भावो, आकांक्षाओं, स्पृहाओं, स्वप्नो व आदर्शो की तृप्ति या सिद्धि के लिए, एक नवीन व रमर्णाय मानसी सृष्टि का निर्माण होता है यह निर्माण मुख्यत: एक रहस्यमयी आन्तर शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है, जिसे हम कल्पना कहते है।"

कल्पना भाव-तत्व के साथ कवि के चिन्तन मे परिष्कार करती है, उसमे सरसता, मसृणता और रमणीयता लाती है। इसी के परिणामस्वरूप सहृदय प्रभावित होता है। **महाकवि शेक्सपीयर** काव्य मे कल्पना को उसका प्रधान गुण मानते है :

"The lunatic, the lover and the poet are of imagination all compact."

अर्थात् "उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनो का कल्पना से अविरल सम्बन्ध है।" भावोद्वेलित कवि भावाभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएँ

१. कल्पना के द्वारा हम पूर्वानुभूत पदार्थो के आधार पर मनोनुकूल विभिन्न रूपों को देखते है।
२. जहाँ कथानक उत्पाद्य या शुद्ध काल्पनिक होता है, वहाँ कल्पना की परिभाषा स्पष्ट ही लक्षित हो जाती है।
३. जहाँ धूमिल अतीत की विशृंखल कड़ियों को जोड़कर एक व्यवस्थित कथानक गढ़ने की आवश्यकता होती है, वहाँ कल्पना का प्रयोग न्यूनाधिक रूप में होता है।
४. पात्रों की चरित्र-सृष्टि मे भी कल्पना प्रयुक्त होती है।
५. संवादों में भी कल्पना का प्रयोग स्पष्ट है; क्योकि, लेखक पात्रों पर अपने ही भावो-विचारों का प्रक्षेपण करता है।
६. वस्तु-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन अथवा आलम्बन की रूप-प्रतिष्ठा भी कल्पना का ही व्यापार है एवं आश्रय के वचनों की उद्भावना भी कल्पना के बल पर ही होती है।
७. भाषा-शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में कल्पना ही काम करती है।
८. वस्तु की पूर्ण प्रभावोत्पत्ति की दृष्टि से उपयुक्त व सटीक साहित्य-रूप की अवधारणा भी कल्पना के द्वारा ही सम्भव है।

वस्तुतः कल्पना से कुछ भी रिक्त नही; यहाँ तक कि वस्तु-जगत् मे जो कुछ भी हम देखते है, वह भी हमारी भीतरी कल्पना का ही प्रतिबिम्ब है।

जर्मन दार्शनिक **काण्ट** ने तीन प्रकार की कल्पना का उल्लेख किया है—

(१) **पुनर्निर्माण की शक्ति वाली कल्पना** (The reproductive imagination)—कॉलरिज ने इस शक्ति को 'फैन्सी' कहा है। यह शक्ति मनःक्षेत्र में वर्तमान विविध अव्यवस्थित तत्व-संघातो को पुनः प्रतिष्ठित करती है।

(२) **उद्भावक कल्पना-शक्ति** (The productive imagination)—इसके द्वारा मन विविध अव्यवस्थित तत्व-संघातों की पुनः प्रतिष्ठित सामग्री से नवीन रूपों की योजना करता है। कॉलरिज की Primary Imagination बहुत कुछ इसी से मिलती-जुलती है।

(३) **सौन्दर्यबोधक कल्पना** (Aesthetic imagination)—काण्ट के मतानुसार इस कल्पना का सम्बन्ध बुद्धि (Understanding) से अधिक रहता

निर्णय छन्द के आधार पर ही होता है। **जॉन मिल** के अनुसार कविता में भाव जितना गहन होता जाता है, लय भी उतनी ही विशिष्ट तथा सुनिश्चित होती जाती है। अतः गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिए छन्द का प्रयोग आवश्यक है।

छन्द-समर्थक विचारक कविता के लिए छन्द की अनिवार्यता स्वीकारते है। इसे वे बाह्य न मानकर उससे एकरूप मानते है। लय कोई बाहर से खोजी गई वस्तु न होकर मनुष्य के अन्दर से ही उत्पन्न होती है। कविता की तरह छन्द भी स्वाभाविक वस्तु है जो भावो की तरह मानव के हृदय से स्वतः ही उद्भूत होती है। अतः दोनो एक से ही है।

अपने कथन को पुष्टि मे इन विचारकों ने अनेक तर्क भी दिए है। इसके विषय में उनका **पहला** तर्क यही है कि प्राचीनकाल से अब तक के सभी कवियों ने छन्द का प्रयोग किया है, अतः यदि छन्द आवश्यक होता तो वे इसका प्रयोग ही क्यो करते? **दूसरे,** इसके प्रयोग से कविता की प्रभविष्णुता कम होने की अपेक्षा और बढ़ी ही है। यद्यपि अकेले छन्द से काव्य की रचना नही होती, तदपि यह सत्य है कि इससे कविता को चिरस्थायित्व प्राप्त होता है। गेयता अथवा संगीतात्मकता के कारण यह स्मरण भी शीघ्र हो जाता है। इसमे काव्य की आत्मा भी सुरक्षित रहती है. उसे इससे शक्ति भी मिलती है, अतः छन्द काव्य का अनिवार्य तत्व है।

तीसरे, काव्य में जो रागात्मक तथा रसात्मक तत्व होता है, वह मन की उच्छ्वसित अवस्था का ही नाम है। मन का उच्छ्वास लययुक्त होता है, इसलिए रसात्मक अनुभूति भी लययुक्त होती है। अतः छन्द रसात्मक अनुभूति का सहज माध्यम है। यही कारण है कि व्यक्ति जब तीव्र भावावेग में आता है तो उस समय वह बोलने की अपेक्षा गीत गाना ही अधिक पसन्द करता है।

छन्द और कविता का सम्बन्ध—ये दोनों विचारधाराएँ अतिवादी है; अतः अपने मन का समर्थन करने के लिए ये सीमातिक्रमण भी कर देती है। छन्द और कविता के पारस्परिक समन्वय तथा सम्बन्ध को देखने के लिए हमें दोनों का सम्यक् रूप से मूल्यांकन करना होगा। इस सम्बन्ध मे विलियम वर्ड्सर्थ का मत दिया जा सकता है। वह यह मानते है कि काव्य-रचना के क्षणों मे भावावेश का नियमन करना पड़ता है, भावावेश के समय कविता नही रची

प्रश्न ३९—काव्य में बिम्ब विधान का क्या स्थान है? ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर किए गए बिम्ब के पाँच भेदों का परिचय दीजिए तथा उनमें से किन्हीं दो के उदाहरण दीजिए।

आधुनिक कविता के अध्ययन में बिम्ब का प्रयोग आधुनिक है और यह अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का पर्याय है। आधुनिक मानव की वैज्ञानिक दृष्टि, अन्वेषण की प्रवृत्ति, निरन्तर जीवन और जगत् की गहन जटिलताओ को खोलने की प्रवृत्ति, बाह्य यथार्थ के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति इन सब ने भ्रम, कल्पना प्रतिभज्ञान के स्थान पर प्रत्यक्ष ठोस अनुभव को आधार बनाकर काव्य मे बिम्बों की खोज शुरू की। अमेरिकी विचारक जोजेफाइन माइल्स के अनुसार बिम्ब सिद्धान्त का आरम्भ उस समय से मानना चाहिए जब लॉक और ह्यूम जैसे इन्द्रियानुभववादी दार्शनिकों ने तर्क और अनुमान की अपेक्षा वस्तु की प्रत्यक्ष संवेदना को अधिक प्रामाणिक और महत्वपूर्ण सिद्ध किया। काव्य के क्षेत्र मे अमूर्त भावना के स्थान पर मूर्त ऐन्द्रिय-चित्रों अथवा बिम्ब-विधान का आग्रह इसी क्रान्तिकारी दार्शनिक स्थापना का परिणाम था।

कविता के विकास के साथ-साथ उसके मूल्याकन के आधार और रसास्वादन की दिशा मे भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। कविता का उद्देश्य सौन्दर्य बोधात्मक आनन्द की उपलब्धि होने से इसके मूल्यांकन के लिए ऐसे मूल्यो की खोज आवश्यक रही है जिनसे काव्य के दोनों पक्षो—विषय वस्तु और रूप को ठीक-ठीक आँका जा सके। सामान्यतः सौन्दर्य बोधात्मक आनन्द को दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है। सन्दर्भ-सापेक्ष आनन्द और सन्दर्भ-निरपेक्ष आनन्द। पहले प्रकार के आनन्द मे दर्शन, धर्म, सामाजिक मूल्यों की चेतना भी घुली-मिली है। पर दूसरे प्रकार के आनन्द मे इस प्रकार की भौतिकता, ऐतिहासिकता नही होती। उसमे काव्य का अपना लय, संगीत, गठन और लालित्य ही प्रमुख होता है। इन दोनों प्रकार के विरोधी तत्वो को मिलाने का कठिन काव्य—मूल्य के रूप मे स्वीकृत प्रतिमान भी कहना पड़ता है। इस दृष्टि से बिम्ब विधान एक ऐसा व्याख्यात्मक प्रतिमान है जिसका सम्बन्ध विषय वस्तु और रूप दोनों से स्थापित हो जाता है। अभिव्यक्ति का अविच्छेद्य भाग होने से तथा सम्प्रेषित अनुभूति का मूर्तवाहक होने के कारण बिम्ब काव्य की रचना-प्रक्रिया का एक ऐसा केन्द्र विन्दु है जिसमे काव्य का बाह्य और आभ्यन्तर—विषय-वस्तु और रूप—दोनों समाहित हो जाते है। अतः बिम्ब

साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्म से प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध हो जाता है। काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।

श्रीमती स्पर्जियन ने काव्य मे बिम्ब के स्थान का विवेचन करते हुए बतलाया है कि कवि बिम्बों का नैसर्गिक रूप से प्रयोग करता है अर्थात् वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके अचेतन मन की विलक्षणता को सूचित करते हैं। इसके आधार पर उनका निष्कर्ष है कि बिम्ब-विधान के अध्ययन के द्वारा कवि के व्यक्तित्व की विशिष्टता को उद्घाटित किया जा सकता है। उसकी रुचियाँ, उसके सोचने की प्रणाली, उसकी स्मृति में आने वाली वस्तुओं और उसके सम्पूर्ण समसामयिक वातावरण को जाना जा सकता है। इसी प्रकार का निष्कर्ष प्रोफेसर क्लेमन, विल्सन नाइट, सी० डे० लेविस, आर० ए० फाक्स, फ्रैंक करमोड, आदि आलोचकों ने निकाला है। इन विद्वानों के अध्ययनों के आधार पर हम कह सकते है कि ऐन्द्रियता बिम्ब का प्रथम और अन्तिम गुण है जिससे कवि अपने रागात्मक सम्बन्धो की अभिव्यक्ति करता है। कवि की मौलिकता बिम्व-निर्माण में है। बिम्ब के कारण कवि वस्तु-जगत् के भीतर एक अधिक गहरा और स्थायी संघटन देखता है। उसके बिम्ब विधान में एक प्रकार का संवेगात्मक तर्क होता है अतः बिम्ब कभी भी एकान्त और स्वत. पूर्ण नही होता है। उस संदर्भ के धुँधले, बारीक और जीवन्त सूत्रों से उसका कलेवर बुना होता है। उदाहरण के लिए 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, स्वतः बिम्ब-निर्माण नही करता, जब तक कवि पूरे परिवेश को उपस्थित नही करता—

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर,, नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन-हरियाली पर मंगल-कुंकुम सारा।

इसके परिवेश के बिना 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, निरर्थक है पर इसके साथ अर्थ के नये सौन्दर्य का उद्घाटन सम्भव हैं। ध्यान से पढने पर इस छन्द मे रंगो की एक सांगीतिक योजना सी दीख पड़ेगी। संध्या का नील-गुलाबी निस्सहाय क्षितिज; रक्त-कमल के प्रस्फुटित कोश की सद्यः आभा, उस पर अधझुकी टहनी की कांपती हुई परछाईं, और उसके आस-पास दूर्वादल

बिम्ब एक पूर्ण परिपक्व विचार की अपेक्षा उसकी प्राक्परिपक्वावस्था के घात-प्रतिघातों, अन्तर्विरोधों और विकल्पों को अधिक गहराई से प्रतिबिम्बित करता है ।

बिम्ब का दूसरा और कला की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है भाषा को संक्षिप्त, केन्द्रित और संघटित करना । भाषा को केन्द्रित करने के साथ-साथ वह काव्यगत अनुषंगो को भी केन्द्रित करता है । शब्द की अपेक्षा विम्ब अधिक संदर्भ-सापेक्ष होता है, क्योकि वह डा० केदारनाथ सिह के अनुसार, यथार्थ का एक सार्थक टुकड़ा होता है । वह अपनी ध्वनियों और संकेतो से भाषा को अधिक संवेदनशील और पारदर्शी बनाता है । उसका आधार कोशगत शब्द नही होता, सम्पूर्ण विस्तृत जीवन और इतिहास होता है । वह अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना पर आधारित होता है ।

कोई भी बिम्ब काव्य में अकेले होने पर विशेष कारगर नही होता जब तक उसका भी एक सम्पूर्ण परिवेश न बने । केवल सुन्दर और आकर्षक होने से ही कोई बिम्ब किसी कविता का अंग नहीं वन जाता । कविता में उसको लाने से पहले दो वाते आवश्यक है । पहली यह कि वह अनिवार्यतः कवि के ऋण को प्रेषित करने मे सहायता पहुँचाये और दूसरी यह कि वह अपने आस-पास के अन्य बिम्बो के साथ अपना सम्बन्ध प्रमाणित करे । इन दोनो शर्तो को पूरा करने के बाद ही कोई बिम्ब किसी कविता के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग बन सकता है । यदि वह केवल कविता का शोभावर्द्धक धर्म बन कर आया है तो इससे बिम्बों की अन्तर्निहित एकता खण्डित हो सकती है । एक सफल कविता का बिम्बविधान ऐसा होना चाहिए कि एक बिम्ब दूसरे के लिए, दूसरा तीसरे के लिए, तीसरा अपने बाद वाले बिम्ब के लिए मार्ग प्रशस्त करता सा जान पड़े । इस प्रकार प्रत्येक बिम्ब का दोहरा कार्य होता है । वह अपने पहले वाले बिम्ब की ध्वनि को तीव्रतर बनाता है और आगे वाले बिम्ब के लिए एक पर्यत्सुक वातावरण की सृष्टि करता है । इस पूरे संघटन में सबसे मत्त्वपूर्ण और निर्णायक स्थिति उस बिम्ब की होती है जो कविता के आरम्भ मे आता है । वह उस पत्थर के टुकड़े की तरह होता है जो अपने आघात से शान्त जल मे असंख्य लहरों की सृष्टि का कारण बनता है । उस प्रथम बिम्ब की सत्ता के प्रति कवि पूर्णतः आश्वस्त नही होता और उसकी काव्योचित उपयोगिता के सम्बन्ध मे उसके मन मे कई प्रकार के प्रश्न

व्योम से उतर रही चुपचाप ।
छिपी निज छाया-छवि मे आप,
सुनहला फैला-केश कलाप ।
मधुर मंथर, मृदु, मौन ।

दृश्य बिम्ब संश्लिष्ट रूपो में भी अधिक आकर्षक हो उठते है । कामायनी मे प्रसाद का यह वर्णन देखिए—

कोमल किसलय के अंचल मे नन्हीं कलिका ज्यो छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट मे दीपक के स्वर मे दिपती-सी;
मंजुल स्वप्नो की विस्मृति मे मन का उन्माद निखरता ज्यो,
सुरभित लहरो की छाया मे वुल्ले का विभव बिखरता ज्यों,
वैसी ही माया मे लिपटी अधरों पर उंगली धरे हुए;
माधव के सरस कूतूहल का आँखो मे पानी भरे हुए;
नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाए-सी आलिगन का जादू पढ़ती ?
किन इन्द्रजाल के फूलों से लेकर सुहाग-कणराग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला, जिससे मधु धार ढरे ?"

कपोलो की लाली, आँखो मे शील का अंजन, कुचित अलको की घुँघराली रूप का वर्णन कितना चाक्षुष है—

लाली वन सरल कपोलो में,
आँखो मे अंजन-सी लगती ।
कुँचित अलको सी घुँघराली,
मन की मरोर बन कर जगती ।
चंचल किशोर सुन्दरा की
मै करती रहती रखवाली,
मै वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनी कानो की लाली । (कामायिनी)

लज्जा के इस रूप को प्रमाता प्रत्यक्ष होकर अनुभव करता है । दृश्य विम्ब नेत्रो के विषय है तो श्रव्य बिम्ब कर्णो के । इनका ग्रहण नाद के द्वारा-वर्णध्वनि, छान्दस लय, तुकान्त आदि के द्वारा प्रमाता करता है । इस प्रकार

प्रतिपल-परिवर्तित व्यूह, भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह क्रुद्ध-कपि-विषम हूह ।

निराला ने 'बादल-राग', 'राग-अमर' आदि में श्रव्य-बिम्बो को उत्कीर्ण किया है । राग-अमर में देखिए कवि का यह प्रयत्न—

झूम झूम मृदु गरज-गरज घन घोर ।
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।
झर झर झर निर्झर गिरि-सर मे
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर मे,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन मे
मन मे, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन मे रव-घोर-कठोर
राग अमर ! अम्बर मे भर निज रोर ।

(परिमल पृ० १७५)

श्रव्य बिम्बो की, लड़ी बन गई है और इससे एक विराट् श्रव्य बिम्ब बन गया है । नाद प्रधान शब्दों के प्रयोग मे सुमित्रानन्दन पंत अधिक दक्ष है । शिशिर ऋतु की सीत्कार सुनिए पंत के पल्लव की इन पक्तियो मे—

"भूंकता सिडी शिशिर का स्वान ।"(पल्लव पृ० १५५)

चाक्षुप और श्रव्य बिम्बो की तरह स्पृश्य बिम्बे बहुप्रयुक्त नही है । स्पृश्य विम्व में स्पर्श-जन्य संवेदनो के समन्वय से बिम्ब का निर्माण होता है—पेशल या कोमल, कर्कश, कठोर आदि विशेषण इस प्रकार के स्पर्श-बिम्बों के वाचक होते है । 'मखमलीघास', 'रेशमी वर्ण-विन्यास' आदि सामान्य प्रयुक्त उदाहरण है । स्पर्श की अनुभूतियों के प्रति कवियों का झुकाव अपेझाकृत कम रहा है । प्राकृतिक वस्तुओ की स्पर्श-संवेदना की बहुलता अवश्य है पर मानवीय स्पर्श गिरिजाकुमार माथुर की 'तारसप्तक' मे संगृहीत यह कविता देखिए—

दूर-दूर के छाँह-भरे सुनसान पथो मे
चलने की आहट-ओले सी जमी पडी थी,
भूरे पेड़ो का कम्पन भी ठिठुर गया था,
कभी-कभी बस

विपर्यय होता रहता है। 'मधुर रूप' में दृश्य के लिए आस्वाद बिम्ब का प्रयोग है, 'कोमल स्वर' और कटु स्वर' मे श्रव्य के लिए क्रमशः स्पृश्य तथा आस्वाद बिम्बो का और कोमल पेय मे आस्वाद के लिए स्पृश्य बिम्ब का प्रयोग अनायास ही होता रहता है। इस विपर्यय का कारण यह है कि विभिन्न इन्द्रियाँ केवल एक ही चेतना के माध्यम-भेद है।

बिम्बों का विभाजन ऐन्द्रियता के अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी किया जा सकता है। सर्जक-कल्पना के आधार पर स्मृत और कल्पित बिम्ब, प्रेरक अनुभूति के आधार पर सरल, मिश्र, जटिल, पूर्ण या समाकलित बिम्ब-खण्डित अनुभूति के आधार पर खण्डित बिम्ब, बिखरी हुई अनुभूति के लिए विकीर्ण बिम्ब, काव्यार्थ की दृष्टि से एकल या मुक्तक, संश्लिष्ट या निबन्ध बिम्ब, काव्य-दृष्टि के आधार पर वस्तुपरक या यथार्थ, रोमनीय स्वच्छन्द बिम्ब, आदि की गणना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त विभिन्न आधारों पर बिम्बों के वर्गीकरण किए जा सकते है। घटना-बिम्ब, प्रकरण-बिम्ब, स्वप्न-बिम्ब, आद्य-बिम्ब, बौद्धिक या प्रज्ञात्मक बिम्ब, भावात्मक बिम्ब, आदिम बिम्ब, पौराणिक बिम्ब, निजधरी बिम्ब, सज्जात्मक बिम्ब, छायात्मक बिम्ब, ध्वनात्मक बिम्ब, मिश्रित बिम्ब, उदात्त बिम्ब, अमूर्त बिम्ब, प्रतीकात्मक बिम्ब आदि अनेक भेद उल्लेख्य है।

प्रश्न ४०—मिथक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इसके विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।

मिथक का प्रयोग अन्य आधुनिक विधाओं के समान पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सन्दर्भ मे ग्रहण किया गया है। मिथक के अर्थ-विकास को जानना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है हिन्दी मे यह अंग्रेजी के 'मिथ' (Myth) का समानार्थी शब्द है। मिथक का पहले अर्थ 'देवकथा' था, किन्तु कालान्तर में इसके अर्थ मे विकास हुआ और यह काव्य अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षो से सम्बद्ध हो गया। आज मिथक का क्षेत्र साहित्य ही नही, अपितु लोक-साहित्य, धर्म, समाजशास्त्र एवं मनोविश्लेपणशास्त्र भी हो गया है। दूसरे शब्दों मे, मिथक की परिधि अब विशाल एवं विस्तृत हो गई है। हिन्दी में भी मिथक प्रायः इसी रूप में ग्रहण किया जा रहा है, जैसे अंग्रेजी में। यहाँ मियक शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्दों का भी उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, जो हिन्दी-आलोचकों तथा विद्वानों द्वारा प्रयुक्त हो रहे है। **डा० कैलाश वाजपेयी** ने

रूप में होता है। सामान्य कथा से अंशतः यह इस रूप मे भिन्न है कि मनुष्यों मे यह कथा प्रथम बार प्रचारित होती है, वे अवश्य ही इसे कथ्यतः सत्य मानते है। इस प्रकार मिथक कथा, नीति-कथा या अन्योक्ति से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार कहानी या रोमांस से।"

समाजशास्त्र के अन्तर्गत मिथक को लोककथाओं के समान माना गया है और इसमें अलौकिक संसार की कहानियों की चर्चा की गई है। समाज-विज्ञान के **'इनसाइक्लोपीडिया'** मे मिथक की परिभाषा करते हुए कहा गया है : "मिथक लोक साहित्य के समान जातीय आकांक्षाओ का एक सुस्पष्ट माध्यम है। इसके भी आगे कहा गया है कि—"Myth like folk tales are primarily novelistic tales, the two are to be distinguished by the fact that myths are the talis of supernatural world and share also therefore the characteristic of religious complex."

इसी प्रकार 'स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर माइथॉलाजी एण्ड लीजेण्ड मे मिथक के साथ देवी-देवता का वृत्त जोड़ गया है।

कैसलस इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटलेचर मे भी मिथक मे धार्मिक तथा आलौकिक वातावरण पर बल दिया गया है। **इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** मे मिथक की परिभाषा इस रूप मे प्रस्तुत की गई है—"मिथक समूहगत विश्वासों को अभिव्यक्त, विकसित और संहिताबद्ध करना है; यह नैतिकता की सुरक्षा और प्रवर्तन करता है, यह धार्मिक अनुष्ठान की सफलता का साक्षी बनकर मानस के पथ-प्रदर्शन के लिए व्यावहारिक नियमो का निर्धारण करता है। मिथक इस प्रकार से मानव-सभ्यता का एक अत्यावश्यक उपादान है। यह एक निराधार प्रथा नही, अपितु एक सुपरिचित सक्रिय शक्ति है, यह कोई बौद्धिक व्याख्या या कलात्मक विधान प्रस्तुत नही करता, अपितु आदिम विश्वासो और नैतिक विवेचन का एक व्यावहारिक दस्तावेज है।" किन्तु इसके विपरीत मैक्समूलर ने मिथक को भाषा का एक रोग माना है। मिथक के जन्म के सम्बन्ध मे **मैक्समूलर** का कहना है—"What is commonly called mythology is but a part of a much more general phase through which all languages have at one time or other, to pass," इस प्रकार मैक्समूलर ने मिथक का जन्म भाषाओ के विकास से जोडा है।

अर्न्स्ट कैसिरर ने मिथक की परिभाषा को नए आयामो से सम्बद्ध करके देखा है उन्होने मिथक में से अतिप्राकृत तत्त्वं को भी निकाल दिया है।

मिथक रचना में कवि की निजी अनुभूति का कोई स्थान नही रहता। वास्तव में मिथक में व्यक्ति और समाज का तादात्म्य हो जाता है।

मिथक : प्रकार

ई० ए० गार्डनर ने विविध प्रकार के मिथकों को १२ श्रेणियों मे विभाजित किया है—

(क) प्राकृतिक परिवर्तनो से सम्बन्धित मिथक।
(ख) प्राकृतिक तत्त्वो से सम्बन्धित मिथक।
(ग) विशिष्ट या असामान्य प्राकृतिक तत्त्वो से सम्बन्धित मिथक।
(घ) सृष्टि के उद्भव से सम्बन्धित मिथक।
(ङ) देवताओं के जन्म से सम्बन्धित मिथक।
(च) मनुष्य और पशुओं के जन्म से सम्बन्धित मिथक।
(छ) आवागमन या रूपान्तरण से सम्बन्धित मिथक।
(ज) परिवारो एवं राष्ट्रो से सम्बन्धित मिथक।
(झ) सामाजिक संस्थाओ से सम्बन्धित मिथक।
(ञ) मृत्यु के उपरान्त आत्मा की स्थिति से सम्बन्धित मिथक।
(ट) दानवों और दैत्यो से सम्बन्धित मिथक।
(ठ) ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित मिथन।

प्रश्न ४१— पश्चात्य काव्य-शास्त्रियों द्वारा किए गए काव्य के वर्गीकरण का उल्लेख कीजिए और उसके विविध रूपों को स्पष्ट कीजिए।

काव्य मानवीय भावनाओ का सहज उच्छ्वास है। एतदर्थ, मानव की विभिन्न भावनाओं की तरह काव्य के भी अनेक रूप है तथा मानवीय विचारों की तरह काव्य का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। जैसे कवि किसी घटना, स्थिति अथवा दृश्य से अनुभूति के जाग्रत होने पर उसकी काव्य के रूप में अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार यह अभिव्यक्ति भी अनेक रूपो में आभासित होती है। कवि की अनुभूति मुख्यतः तीन प्रकार की होती है—(क) व्यक्तिगत अनुभूति, (ख) समाजगत अथवा समष्टिगत अनुभूति और (ग) दोनो की मिश्रित अनुभूति

इस आधार पर काव्य के भी तोन भेद किए जा सकते है—

(१) आत्मप्रधान काव्य (Subjective poetry)
(२) विपयप्रधान काव्य (Objective Poetry)
(३) मिश्रित अथवा नाट्यकाव्य (Dramatic Poetry)

himself and finds his inspirations and his subjects in his own experiences, thoughts and feelings."

आत्मप्रधान काव्य का प्रमुख रूप गीतिकाव्य है। इसका जन्म मानवीय वेदनामयी अनुभूति से ही होता है। एक हिन्दी कवि ने भी लिखा है—

"चाहे कोई लिखे किसी के लिए लिखे,
जन्म गीति का सदा दर्द से होता है।
अब तक का तो कहता है इतिहास यही
कवि पीछे लिखता, पहले तो रोता है।"

पर इस वेदना की अभिव्यक्ति भी अनेक रूपो में होती है। अतः मानवीय भावों के भेद के आधार पर गीतिकाव्य के भी अनेक भेद किए जा सकते है, जिसमे से निम्नलिखित मुख्य है—

(i) **स्तुति-गीति** (Hymns Lyrics)—गीतिकाव्य के भेदों में स्तुति-गीति का प्रमुख स्थान है। मनुष्य प्रारम्भ से ही किसी-न-किसी भावना से प्रेरित होकर किसी सत्ता की पूजा अर्चना करता आया है। वह कभी भयवश, कभी श्रद्धा से और कभी किसी अन्य विशेष भावना से प्रेरित होकर पूजा करता है। इस प्रकार वह भाव-गीतों की रचना में प्रवृत्त होता है। भावपूर्ण गीतों को ही 'स्तुति-गीत' कहते है।

(ii) **राष्ट्रीय गीत** (Patriotic Lyrics)—राष्ट्रीय गीतो के अन्तर्गत कवि के स्वदेश एवं सांस्कृतिक भावना से परिपूर्ण गीत आते है। अपने देश और जाति के प्रति कवि की भावपूर्ण प्रेमाभिव्यक्ति ही इस प्रकार के गीतों का मुख्य विषय होती है।

(iii) **प्रणय-गीत** (Love Lyrics)—प्रणय-गीतों मे कवि अपने व्यक्तिगत जीवन से ओत-प्रोत प्रेमभावना की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति शृंगारिक भी हो सकती है और कारुणिक भी; किन्तु उसके मूल मे प्रणय-भावना निश्चय ही विद्यमान रहती है। शृंगार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग प्रणय-गीतों के प्रेरक होते है।

(iv) **शोक-गीत** (Elegy)—शोक-गीतों की रचना के मूल में अत्यन्तिक दुःख की भावना होती है। इन गीतों मे दुःख की भावना ही प्रधान होती है। ये अधिकतर शोक आदि को व्यक्त करने के लिए ही लिखे जाते है। इसके मूल में हृदय का गहन आघात होता है, जो मानव-हृदय को भाव-विह्वल

उसमें अपने व्यक्तित्व का यथासम्भव कम-से-कम मिश्रण करके अभिव्यक्ति करता है।"

विपय-प्रधान काव्य के भी अनेक भेद किए जा सकते है जिसमे से सात-भेद प्रमुख है। ये भेद निम्नलिखित हैं—

(i) **महाकाव्य** (Epic)—महाकाव्य काव्य का प्राचीन स्वरूप है। पश्चिम मे इलियड और ओडेसी प्राचीनतम महाकाव्य है, परन्तु भारत में रामायण और महाभारत उनसे भी अधिक प्राचीन है। लाक्षणिक रूप मे महाकाव्य का स्वरूप निश्चित नही किया जा सकता, परन्तु विषय एवं शैली को दृष्टि में रखकर महाकाव्य के दो भेद किए जा सकते है—(क) विकसनशील महाकाव्य (Epic of growth) और (ख) साहित्यिक महाकाव्य (Epic of Art)। प्रथम काव्य पर लेखक का एकाधिकार होता है और समय-समय पर आवश्यकतानुसार वे उसे लिखते रहने है। विकसनशील महाकाव्य की रचना कई पीढ़ियों तक चलती रहती है। उसमें कई प्रक्षेप जुड जाते है और उसकी प्रामाणिकता सन्देहास्पद हो जाती है। साहित्यिक महाकाव्य और विकसनशील महाकाव्य में कथावस्तु और रचयिता का अन्तर होता है। साहित्यिक महाकाव्य की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा होती है और इसमें कथावस्तु का प्रतिपादन भी तर्कपूर्ण रीति से होता है। साहित्यिक महाकाव्य के चार भेद है—उपहास महाकाव्य (Mock Epic) प्रामाणिक नृत्य-गीत (Authentic) साहित्यिक नृत्य-गीत (Literary Balled) और उपहास नृत्य-गीत (Mock Balled)।

(ii) **रूपक-काव्य** (Allegory)—रूपक मे बाह्य एवं स्थूल रूप मे तो काव्यात्मकता होती है जो साहित्यिक रुचि को आकर्षित करने मे समर्थ होता है, किन्तु आन्तरिक एवं सूक्ष्म रूप मे प्रतिकार्थ भी होता है। इसमे कवि अपनी इच्छानुसार कोई आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा अन्य प्रकार का सन्देश उपदेशात्मक या व्यंग्यात्मक शैली में देता है।

(iii) **दृष्टान्त-काव्य** (parables)—दृष्टान्त काव्य मे पाठको को कवि द्वारा उपदेश मिलता है। इसके विषय विशेषतः सामाजिक होने है; जैसे—लोभ, स्वार्थ, अतिव्ययिता, प्रेम, मित्रता आदि। संस्कृत का 'पंचतंत्र इसका सुन्दर उदाहरण है।

(i) **नाट्यगीत** (Dramatic Lyric)—**हेनरी हडसन** ने नाट्यगीत की परिभाषा इस प्रकार की है, "यह (नाट्यगीत) भाव एवं पद्धति की दृष्टि से आत्म-प्रधान कविता है, किन्तु विषयी तत्त्व कवि से सीधे सम्बन्धित न होकर अन्य व्यक्ति से सम्बन्धित होते है। कवि उसके अनुभवों और स्थितियों में प्रविष्ट होकर उसके विचारों और भावो की विभिन्न अभिव्यक्ति प्रदान करता है।"

(ii) **नाट्यकथा** (Dramatic Story)—नाट्यकथा में संवादों या कथोपकथन के माध्यम से किसी कथा का वर्णन होता है। संवादों से कथा आकर्षक बनती है और संवादों से ही क़था की गति मे प्रवाह और कोतूहल आता है।

(iii) **नाट्य-स्वकथन** (Dramatic Monologue or Soliloquy)—नाट्य-स्वकथन उसे कहते है जहाँ स्वयं पात्र अकेले में स्वयं से बात करता है। स्वगत कथन की परिपाटी तो प्राचीन नाटको में प्राप्त होती है, पर नाट्य-स्वगत कथन का काव्य रूप आजकल दिखाई नहीं देता; क्योंकि, इन कथनों में स्वाभाविकता नही होती। भला यह कैसे सम्भव है कि जिन स्वगत-कथनों को दर्शक सुन सकता है, उन्हें मंच का दूसरा पात्र न सुने। चारित्रिक दृष्टि से यह असंगत है। यदि यह कहा जाए कि अभिनेता दर्शकों के लिए ही अपनी मानसिक स्थिति का द्योतन करता है, तो यह उसके अभिनय की कमी है कि वह अपनी मुख-मुद्रा से उसकी अभिव्यक्ति न कर पाए, लेकिन काव्य की दृष्टि से इस काव्य-रूप का काफी महत्त्व है।

हेनरी हडसन के अनुसार नाट्य-स्वकथन का मुख्य उद्देश्य वक्त के व्यक्तित्व का बाह्य परिस्थितियों के अभाव में स्वतः प्रकाशन करना होता है। वह लिखते है—

"The ideal aim of a dramatic monologue may, therefore be defined as the faithful self-portrayal, without ulterior purpose of the personality of the supposed Speaker."

काव्य के ये भेद विचार, विपय तथा आत्मरूप की दृष्टि से किए गए है। काव्य के इस वर्गीकरण को हम आगे दी गई तालिका द्वारा भली प्रकार स्पष्ट कर सकते है :

हुए है। यही कारण है कि वह काव्य का प्रयोजन लोकमंगल मानते है और इसलिए उन्होने होमर की भी निन्दा की है; क्योंकि, वह काव्य का प्रयोजन आनन्द मानते है—

"It would be wrong to honour a nan at the expense of Truth."

यही कारण है कि वह कविता के आकर्षण पर मुग्ध होने की अपेक्षा उसके बहिष्कार का समर्थन करते हैं और उसमें सत्य का समावेश मानते है—

"We are very conscious of her charms; but we may not on that account betray the truth."

इसलिए वह कवि को भी यह आदेश देते है कि वह सत्य का न्यायपूर्वक काव्य में वर्णन करे। कविता का प्रयोजन राज्य और मानव-जीवन के लिए उपयोगी होता है, उसका प्रयोजन इन्द्रिय-आनन्द न होकर बुद्धिगत आनन्द है, जो धार्मिक तथा नैतिक होता है। इसलिए प्लेटो काव्य के प्रयोजन को स्पष्टत: मानव-स्वभाव के उदात्त व महान् का उद्घाटन तथा सम्बर्द्धन मानते है। उसके अनुसार—

"The right function of art is to put before the soul the images of what is intrisincally great and beautiful."

अरस्तू—अरस्तू ने काव्य के दो प्रयोजन माने है—(१) ज्ञानार्जन तथा (२) आनन्द। यही उनकी सूक्ष्म दृष्टि ही थो जिसने उन्हें एकांगी दृष्टिकोण अपनाने से रोका और इसलिए उन्होंते सन्तुलित मध्यम मार्ग ग्रहण किया। उन्होने काव्य का मूल प्रयोजन आनन्द मानते हुए भी उसके नैतिक स्तर को भी पूर्ण महत्त्व दिया। उनका विचार था कि नैतिकता के द्वारा ही काव्य का पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है। "**कला का विशिष्ट उद्देश्य आनन्द है, पर यह आनन्द नीति-सापेक्ष है, यह अनैतिक नहीं हो सकता।**"

अरस्तू ने काव्य-प्रयोजन में जिस आनन्द को प्रयुक्त किया है, वह न तो आध्यात्मिक है, न मनोविनोद, न ऐन्द्रिय है और न बौद्धिक। वास्तव मे तो वह कल्पना विशिष्ट आनन्द है जो प्रत्यभिज्ञान से प्राप्त होता है और ऐन्द्रिय-आनन्द से पूर्णरूपेण भिन्न होता है।

लोंजाइनस—लोंजाइनस से पूर्व काव्य का प्रयोजन शिक्षा देना आह्लाद प्रदान करना और अपनी बात मनवाना समझा जाता था, किन्तु उसने काव्य के

इसी तरह समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए ड्राइडन ने भी लिखा है कि कविता का प्रयोजन मधुर रीति से शिक्षा देना है।

"To teach delightfully is the function of poetry."

स्पष्ट है कि ड्राइडन शिक्षा और आनन्द दोनों को समान रूप से महत्त्व ही नहीं देते, अपितु दोनों को अन्योन्याश्रित सिद्ध करते है। यही नही, वह आनन्द को—अरस्तू की तरह—मुख्य और शिक्षा को गौण मानते है। कविता की सफलता इसी में है कि वह आत्मा को प्रभावित करे और पाठक के मनोभावों को उद्वेलित करे—

"To effect the soul and excite the passions and above all to move admiration."

शिलर (Schiller) ने अठारवी शताब्दी में काव्य और कला के सम्बन्ध मे विचार करते हुए भी आनन्द पर ही बल दिया। उन्नीसवी शताब्दी मे यह धारणा और भी प्रबल हो गयी। शिलर के अनुसार काव्य का प्रयोजन आह्लाद है :

"समस्त कला का लक्ष्य है, आह्लाद, क्योकि मानव सुख से अधिक उदात्त और गम्भीर समस्या अन्य कोई नही है।"

कॉलरिज- वर्ड्सवर्थ, शैली तथा अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों ने काव्य को पूर्णरूपेण आनन्दवादी धरातल पर स्थित किया और उसका प्रयोजन केवल आनन्द माना है। यद्यपि **विक्टर कंजिन** ने कला का उद्देश्य नैतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति माना पर रोमाण्टिक कवियों ने नैतिकता का पूर्ण बहिष्कार किया और बाद मे सौन्दर्य की प्राप्ति का मूल आधार आनन्द हो गया।

रोमाण्टिक कवि **शैली** काव्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध मानते हैं और इसीलिए यह कहते है कि जिस कविता मे जीवन-जगत् के सत्य की अभिव्यक्ति नही होती, वह कविता, कविता के पद पर आसीन होने के उपयुक्त नही है। पर, साथ ही आनन्द प्रदान करना ही वह काव्य का अन्तिम लक्ष्य मानते है।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक यह माना जाने लगा कि कला और रीति मे कोई सम्बन्ध नही है। अतः साहित्य को लोकमंगल की दृष्टि से देखना व्यर्थ है। इन क्षिद्वाना ने 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त का प्रतिपादन

हो सकती; इसके लिए अन्य हेतु भी उतने ही आवश्यक हैं। अभ्यास और लोक-ज्ञान अध्ययन-सापेक्ष है, अतः प्रतिभा के साथ-साथ अध्ययन भी आवश्यक है; क्योंकि, इससे प्राचीन और नवीन गतिविधियो का स्वरूप स्पष्ट होता है।

प्रतिभा और अध्ययन—दोनों ही काव्य-हेतु काव्य-सर्जना के मूलकरण है। यह ठीक है, पर कभी-कभी केवल इन्ही दोनों से कार्य नही चलता। इनसे काव्य में यांत्रिकता तथा कलात्मकता तो आ जाती है, पर काव्य का जो मूलतत्त्व अनुभूति है, वह बिना भावों के उच्छलन के कहाँ संभव है ? अतः कवि के हृदय में भावों का जाग्रत होना भी आवश्यक है; क्योंकि, भले ही कवि प्रतिभावान है, उसका अध्ययन भी पर्याप्त है, पर जब तक काव्य-सर्जना के भाव जाग्रत नही होते, तब तक सब व्यर्थ है। इसीलिए 'मूड, शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'मूड' का बनना भी आवश्यक है और यह मूड प्रेरणा से बनता है। अत. काव्य का एक अन्य हेतु प्रेरणा भी है जो भावो को जाग्रत करती है। इस प्रेरणा के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने विचार किया है। **हीगेल** के अनुसार मानव का जन्मजात सौन्दर्य-प्रेम, आत्म-प्रदर्शन तथा अनुकरण की प्रवृत्ति साहित्य की मूलप्रेरणाएँ है। उनके द्वारा की गई काव्य की परिभाषा से यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। कवि सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है और फिर उसमें डूब जाता है और भावों के उद्‌बुद्ध होने पर फिर काव्य की सर्जना करता है। अतः सौन्दर्य के प्रति आकर्षण ही काव्य की मूल प्रेरणा है।

क्रोचे आत्माभिव्यक्ति की भावना को ही काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानता है; क्योकि, उसके अनुसार सौन्दर्य वस्तु मे नही, कवि के मन-मस्तिष्क मे रहता है; एक समय कवि को एक वस्तु असुन्दर और उपेक्षीय दिखाई देती है, पर दूसरे समय वही वस्तु सुन्दर और आकर्षणमय दिखाई देती है—इसके मूल में कवि की स्वतःप्रेरणा है। जब वह अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो जाता है, तो वर्ण्य-वस्तु उसे सुन्दर दिखाई देती है। जगत् के संसर्ग से उसके मन पर प्रतिक्रिया होती है, अनेक अरूप झंकृतियाँ होती है। कवि इन अरूप झंकृतियों को ही रूप प्रदान करता है और इसी प्रयास मे काव्य या कला का जन्म होता है। अतः क्रोचे के अनुसार आत्माभिव्यक्ति ही काव्य की मूल प्रेरणा है।

फ्रायड प्रत्येक कार्य और साहित्य-सर्जन के पीछे मूल वृत्ति काम को मानते

प्रकार अकेली प्रतिभा ही काव्य-सर्जना का मूल हेतु न होकर उसके साथ अध्ययन, अभ्यास, चिन्तन-मनन आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य की प्रेरक-वृत्ति भी एक न होकर अनेक होती है जो न्यूनाधिक रूप से कवि में विद्यमान होती है। वह सबके संयोग से ही काव्य-सर्जन में प्रवृत्त होती है।

समग्रत: काव्य-हेतु के सन्दर्भ में काव्य-सर्जना के तीन कारण देखे जा सकते है—(१) प्रेरक कारण, (२) निमित्त कारण, और (३) उपादान कारण। पहले कारणों में कवि की सामाजिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक स्थितियाँ प्रेरक प्रवृत्तियाँ आदि आती है दूसरे कारणो मे प्रतिभा और तीसरे कारणों मे लोकशास्त्र का ज्ञान, मनन-चिन्तन आदि आते है। ये तीनो ही काव्य के प्रमुख हेतु है, इसलिए **डा० भागीरथ मिश्र** ने लिखा है—"अपनी अनुभूति को प्रकट करने अथवा उसे दूसरों की अनुभूति में परिणत करने की विह्वलता का जब कवि अनुभव करता है; तभी प्रतिभा काव्य-रचना में प्रवृत्त होती है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से काव्य का विकास होता है।"

प्रश्न ४४—महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ देते हुए उसके तत्वों पर प्रकाश डालिए।

काव्य की विषय-प्रधान विधाओं में महाकाव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसका स्वरूप परिवर्तनशील रहा है, पर मूल रूप एक ही रहा है। महाकाव्य को प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। अत: इसमें वर्णनात्मकता तथा परस्पर सम्बद्धता का होना आवश्यक है। इसके स्वरूप पर पाश्चात्य विचारकों ने अनेक रूपों में विचार किया है। सर्वप्रथम इसके स्वरूप का विशदता से विवेचन **अरस्तू** के 'काव्यशास्त्र' में मिलता है। यद्यपि त्रासदी की तरह उन्होंने महाकाव्य की कोई परिभाषा नहीं दी है; फिर भी, उनके एतद्विषयक विचार सुस्पष्ट है। उनके अनुसार, "महाकाव्य वह काव्यरूप है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जिसमें उच्चकोटि के पात्र होते है, जिसका रूप समाख्यानात्मक होता है, जिसमे षट्पदी छन्द का प्रयोग होता है, जिसका कथानक दु:खान्त नाटक के समान अन्वितियुक्त होता है, जिनकी सीमाएँ विस्तृत होती है।"

अरस्तू के इस विवेचन के अनुरूप महाकाव्य दु:खान्त नाटक की भाँति अन्वितियुक्त होता है और इसका कथानक सम्पूर्ण आद्यन्त कथा का वर्णन

"महाकाव्य काव्य का वह परिष्कृत रूप है जो वृहदाकार होने के साथ-साथ समाज-सापेक्ष होता है और कवि अपनी अनुभूति को सम्पूर्ण युग के चित्रण में सन्निहित करके गम्भीर व महत्त्वपूर्ण घटनाओं के माध्यम से उसका उद्घाटन करता है और क्रियाशील जीवन-पक्ष का अपने महान् व उदात्त पात्रो के द्वारा लोकरंजक रूप में वर्णन करके कल्पना-प्रसूत उदात्त, सुष्ठ तथा प्रतीकात्मक शैली से महान् उद्देश्य का आधान करता है।"

महाकाव्य के तत्त्व—महाकाव्य के इस स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् हम उसके तत्त्वों पर विचार करते है। इन परिभाषाओं में ही महाकाव्य के तत्त्व सन्निहित है। **सी० एम० बोवरा** (C. M. Bowara) ने महाकाव्य के पाँच तत्त्व बतलाए है—(१) वृहद् प्रबन्धात्मक प्रबन्ध, (२) गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन, (३) पात्रों के क्रियाशील तथा प्रभावशाली जीवन-पक्ष का उद्घाटन, (४) रंजन-तत्व के द्वारा पाठकों का आह्लाद, और (५) घटनाओं व पात्रो के माध्यम से गौरव का संचार।

फ्रांसीसी आलोचक **ला बोस्यू** महाकाव्य के तीन आवश्यक तत्व मानते है—(१) प्राचीन घटनाओ का वर्णन, (२) पद्य-बद्ध रचना और (३) युग संस्कृति का चित्रण।

इटैलियन आलोचक **मिन्तुरनो** महाकाव्य के तत्वों का उल्लेख करते हुए लिखते है—"The hero must be a king or atleast a noble of birth and possessed of every virtue, vigorality, force, courage ability." इस प्रकार मिन्तुरनो के अनुसार महाकाव्य के निम्नलिखित तत्व होते है—(१) भव्य तथा महान् पात्र, (२) उदात्त उद्देश्य, (३) सम्यक् व अलंकृत शैली, जो जन-साधारण की भाषा से दूर असाधारण होनी चाहिए और (४) एक छन्द मे षट्पटी का प्रयोग।

रोमांचक महाकाव्यो के अभ्युदय के कारण विद्वानो ने रोमांच को भी महाकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्व माना है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अपने युग व समाज के अनुसार विभिन्न तत्व बताए है। स्थूल रूप से महाकाव्य के निम्नलिखित तत्व माने जा सकते है:

(१) महद् उद्देश्य, महत्प्रेरणा और महान् काव्य-प्रतिभा।

इसका प्रयोग करना ही हो तो इतना सौन्दर्य उत्पन्न किया जाय कि वह खटके नहीं; अरस्तू ने स्पष्ट कहा है—

"But here the absurdity is concealed under the various beauties of other kinds with which the poet has embellished it."

अतः महाकाव्य में युग-संस्कृति का समग्र जीवनपरक चित्रण होता है, परन्तु जीवन की कल्पनाजन्य यथार्थपरकता का चित्रण होने से कार्य की अन्विति होती है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—महाकाव्य का दूसरा अनिवार्य तत्त्व पात्र तथा चरित्र-च्त्रिण होता है। इसके अन्तर्गत उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्य-बद्ध अनुकृति आती है। महाकाव्यों के पात्र भद्र, कुलीन, वैंभवशाली, यशस्वी, सहज मानवीय गुण-दोषों से युक्त और उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण होते हैं। चरित्र-चित्रण के आधार पर पात्रों के तीन रूप होते हैं—(क) वास्तविक पात्र, (ख) परम्परागत पात्र, और (ग) आदर्श पात्र। इसके साथ ही अरस्तू नायक को महान् गुणों से परिपूर्ण तथा मुख्य घटना के अनुरूप होना आवश्यक मानते हैं—

"He must always be Portaying one of the three following types—the real (past of present), the traditional (or conventional) or the ideal."

(३) **कथा-वर्णन की शैली**—भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा-शैली ही होती है। कोई भी सशक्त-से-सशक्त कथानक तथा उदात्त पात्र तब तक महाकाव्य का स्वरूप धारण नही कर सकता, जब तक उसकी अभिव्यक्ति-शैली न हो। महाकाव्य का शैली का समाख्यानात्मक होना परम आवश्यक है। इसकी भाषा अलंकृत तथा जन-सामान्य की भाषा से पृथक् होनी चाहिए। अरस्तू महाकाव्य के लिए नाटकीय शैली को आवश्यक मानते है; क्योकि इसमें दृश्यात्मकता के साथ-साथ पात्रो के व्यक्तित्व से उत्पन्न सहज वैचित्र्य का भी समावेश होता है। इसमें रचना मनोरंजक तथा आह्लाददायक बन जाती है।

शैली को सुव्यवस्थित तथा अलंकृत करने के लिए महाकाव्य मे छन्द की भी अनिवार्यता मानी गई है। सम्पूर्ण काव्य मे अनेक छन्द प्रयुक्त हो सकते

तत्त्वो को किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। ये तत्त्व मूल रूप से प्रत्येक महाकाव्य में विद्यमान रहते है, चाहे समय और रुचि-भेद से इनका स्वरूप भले ही परिवर्तित हो जाए। **डा० नगेन्द्र** ने भी महाकाव्य के ये ही पाँच तत्त्व गिनाये है—उदात्त कथानक, उदात्त पात्र, उदात्त उद्देश्य (कार्य), उदात्तभाव और उदात्त शैली। इन तत्त्वों की व्यापकता के कारण ही प्रत्येक देश तथा काल के महाकाव्य इस सीमा मे आ जाते है—चाहे उनमे कितना ही भेद क्यों न हो। अतः यही उचित है कि परिभाषा के झमेले मे न पड़, हम इन्हीं कसौटियों पर महाकाव्य का परीक्षण करे।

प्रश्न ४५—विकसनशील महाकाव्य (Epic of Growth) **और साहित्यिक महाकाव्य** (Literary Epic) **किसे कहते है ? इनकी विशेषताएँ बतलाते हुए महाकाव्य के विभिन्न रूपों का उल्लेख कीजिए।**

अथवा

महाकाव्य के भेदों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

अरस्तू ने महाकाव्य पर विचार करते समय लिखा है, "महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए जितने त्रासदी के। अर्थात् सरल, जटिल, नैतिक और करुण।" परन्तु अरस्तूकृत यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नही है और वाद में इनका स्वयं अरस्तू ने भी अनुभव किया था, क्योकि महाकाव्यों मे सरलता और जटिलता, नैतिकता तथा करुणा—सभी साथ-साथ दिखाई देते है।

कुछ विद्वानो ने **रसों के आधार पर** भी महाकाव्यों का वर्गीकरण किया है; यथा—वीररस-प्रधान महाकाव्य, शृंगाररस-प्रधान महाकाव्य, भक्तिरस-प्रधान महाकाव्य, करुणरस-प्रधान महाकाव्य पर, अरस्तू के वर्गीकरण के समान यह वर्गीकरण भी अवैज्ञानिक है, क्योकि महाकाव्य मे प्रधानता किसी भी रस की क्यो न हो, पर अन्य सभी रसो का उसमे पूर्ण परिपाक होता है और किसी-किसी महाकाव्य मे तो दो-दो रस बिलकुल समान चलते है।

यदि **उद्देश्य के आधार पर** महाकाव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो नैतिकता की शिक्षा देने वाले महाकाव्य, धार्मिक महाकाव्य, मनोरंजक महाकाव्य तथा आदर्शवादी महाकाव्य आदि भेद हो सकते है। लेकिन इस वर्गीकरण में भी अवैज्ञानिकता है। कारण, प्रत्येक महाकाव्य मे येन-केन-प्रकारेण ये सभी उद्देश्य आ ही जाते है।

सी० एम० बोवरा ने इसके लिए लिखित काव्य (Written Epic) शब्द का प्रयोग भी किया है। इसकी रचना पढ़ने के लिए होती है और इसको साहित्य-क्षेत्र में परिगणित किया जाता है। इसमे भाषा के प्रसाधन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

विषय के आधार पर महाकाव्यों का वर्गीकरण—विषय के आधार पर महाकाव्यों के निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

ऐतिहासिक महाकाव्य—जिन महाकाव्यो की कथा इतिहास-प्रसिद्ध हो और जिनका उद्देश्य इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर प्रकाश डालना हो, वे महाकाव्य ऐतिहासिक महाकाव्य कहलाते है। इस प्रकार के महाकाव्यों की पृष्ठभूमि भी ऐतिहासिक होती है और कथानक से सम्बद्ध काल की युग-संस्कृति तथा भाषा आदि का इसमें प्रस्तुतीकरण होता है।

इन महाकाव्यों का उद्देश्य महान् होता है। इनके द्वारा देश के गौरव का चित्रण, इतिहास के भूले-बिसरे पृष्ठों का उद्घाटन अथवा किसी विश्व-विश्रुत पात्र के चरित्र की गरिमा का प्रस्तुतीकरण होता है!

इसकी शैली सचेष्ट, कलात्मक तथा प्रयत्न साध्य होती है; क्योकि, वर्तमान से हटकर प्राचीन कालीन सभ्यता-संस्कृति को प्रस्तुत करने के लिए कवि को उस काल की परिस्थितियाँ, देश-भूषा, बोलचाल आदि बातो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होता है।

धार्मिक तथा नैतिक महाकाव्य—जब कवि किसी सुधार भावना मे अथवा किसी नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए महाकाव्य की रचना करता है या धार्मिक भावनाओ के प्रस्तुतीकरण की धारणा रखता है, तो ऐसे महाकाव्य धार्मिक अथवा नैतिक कहलाते है। इनका उद्देश्य अधिकतर प्रचारात्मक होता है। इनमे अलौकिक तथा अतिप्राकृतिक तत्त्वो का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग होता है। पात्र दैवी अथवा दैवी-कृपा के आश्रित होते हैं; मानवीय पात्रों को नही लिया जाता और अस्वाभाविकता के दर्शन से पाठकों के मन मे आश्चर्य भाव जाग्रत कर उनसे अपनी बात मनवायी जाती है; यहाँ तक कि रोमास का चित्रण भी देवी-देवताओ द्वारा ही किया जाता है।

इन महाकाव्यो को पढ़ने समय पाठक श्रद्धाभक्ति से परिपूर्ण रहता है, अतः ये महाकाव्य पाठकों से अपना तादात्म्य स्थापित नही कर जाते।

शास्त्रीय महाकाव्य—काव्यशास्त्रियो ने महाकाव्य के जो नियम निर्धारित

रोमांचक महाकाव्य—यूरोप के मध्ययुग मे रोमांचक महाकाव्यो का प्रणयन हुआ। यद्यपि आरम्भिक महाकाव्यो में भी रोमांच-तत्व होता था, पर उस समय वह गौण रहता था। रोमांचकारी कथाओं के ऊपर रचना होने से इस तत्व का बहुत प्रयोग होने लगा, फलतः इसका एक स्वतन्त्र स्वरूप ही विकसित हो गया। लैटिन भाषा मे टैसो का 'यरुसलम लिबरेटा' तथा अंग्रेजी में स्पेन्सर का 'फेयरी क्वीन' इसी प्रकार के महाकाव्य है।

रोमांचक महाकाव्यों मे बौद्धिक स्तर की अपेक्षा भावुकता तथा कल्पना की प्रधानता होती है और युद्ध, प्रेम, यात्रा की भयंकरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होता हैं। इसका प्रधान उद्देश्य पाठको का मनोरंजन होता है। न यह यथार्थ जीवन का ही सहारा लेता है और न ही उसमे किसी ऊर्ध्व-आदर्श की ही अन्विति रहती है। इसका कथानक सरल, प्रवाहमय तथा वैविध्यपूर्ण होता है।

मनोवैज्ञानिक महाकाव्य—मनोवैज्ञानिक महाकाव्यों मे मानसिक संकल्पो-विकल्पों तथा मानसिक दशाओ का चित्रण होता है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्जिल के 'एनीड' में भी मिलती है। पर इसका विवेचन शास्त्रीय पद्धति से हुआ है। गेटे का 'फाउस्ट' और टामस हार्डी का ' दि डाइनेस्ट्स' इसके सुन्दर उदाहरण है। इनमे पात्रों के मन का विश्लेपण मुख्य होता है, अतः इन्हें स्वच्छन्दतावादी मनोवैज्ञानिक महाकाव्य भी कहा जाता है।

इस प्रकार यूरोपीय साहित्य में अनेक प्रकार के महाकाव्यों का प्रचलन है।

प्रश्न ४६—महाकाव्य की रचना का युग बीत चुका है। क्यों और कैसे स्पष्ट करें ?

आज का जीवन इतना संघर्षमय, द्वन्द्वप्रधान तथा स्पष्टतापूर्ण है कि कोई भी बात जितने कम तथा सरल शब्दो में कह दी जाए, उतनी ही वह प्रभावपूर्ण होती है। यदि महाकाव्य के विकास पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि महाकाव्य सामन्तवादी युग का साहित्य है। उस समय लेखक के पास, राज्याश्रय के कारण इतना समय होता था कि वह अधिकाधिक समय लगाकर अपने भावों को कृत्रिमता का बाना पहनाकर पद्यमय रूप मे प्रस्तुत कर सके। इसी प्रकार पाठकों तथा श्रोताओं के पास भी इतना समय था कि वे चमत्कार-प्रधान रचना सुन-पढ़ कर वाहवाही अथवा प्रशंसा कर सके। राज-दरबारों में

(३) फिर महाकाव्यो में विचार की अभिव्यक्ति स्पष्टतः नही हो पाती। छन्दबद्ध रचना होने के कारण कवि का ध्यान विचारों की अपेक्षा कला-चमत्कार की ओर ही अधिक रहता है। कलापक्ष को सबल बनाने के फेर में भावानुभूति गौण पड़ जाती है, परिणामतः महाकाव्य में स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक दिखाई देती है। पर आज का पाठक कृत्रिमता की अपेक्षा स्वाभाविकता को ही अधिक पसन्द करता है। यही कारण है कि कविताओं में भी गद्यात्मकता की ओर लेखको का रुझान है, ताकि अनुभूति में कोई कमी न रहे—वह प्रौढ़ तथा सशक्त रहे।

(४) मनुष्य की रुचि भी परिवर्तनशील रही है। किसी समय उसे कोई वस्तु पसन्द आती है और दूसरे समय अन्य कोई वस्तु। एक समय था जब मनुष्य महाकाव्यों को बहुत पसन्द करता था, पर अब उसकी रुचि उसकी ओर से हट गयी है, अब वह गद्य शैली को ही अधिक पसन्द करता है। अतः महाकाव्यों का वहिष्कार होने में मानव की रुचि भी एक प्रमुख कारण है।

(५) हिन्दी साहित्य में उपन्यासों के आ जाने से महाकाव्यों का रहा-सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया। आज के उपन्यास वही कार्य करते है, जो पहले महाकाव्य किया करते थे। जैसे महाकाव्यो का उद्देश्य मानव का मनोरंजन के साथ-साथ उसे कान्तासम्मित उपदेश देना होता था, उसी प्रकार के आज महान् उपन्यासकार मनोरंजन के साथ-साथ जनता का मार्गदर्शन भी करते है। आज का उपन्यास जनरुचि के काफी अनुकूल है। इसमे विचारों पर कृत्रिमता का आवरण नहीं रहता, उपन्यासकार गद्यमय भाषा में सन्तुलित रूप मे अभिव्यक्ति में सक्षम होता है। कथात्मक प्रवाह भी इसमें महाकाव्य की अपेक्षा अधिक होता है। वातावरण का चित्रण तथा पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकृति का आश्रय भी आज के उपन्यासों की विशेषता है। इस नयी साहित्य-विधा ने महाकाव्य की कमियो को दूर किया—छन्द का इसमे कोई स्थान नही, पद्य की अपेक्षा गद्य को ग्रहण किया और शब्द-अर्थ चमत्कार की अपेक्षा अनुभूति की अभिव्यक्ति को प्रश्रय दिया। इससे महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यासो का प्रचलन होने से महाकाव्यो का युग समाप्त-सा हो गया है।

(६) महाकाव्य का रूप ऐसा सीमाबद्ध है कि उसमे वर्तमान समस्याओं के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रायः सभी महाकाव्य इतिहास-प्रसिद्ध कथा पर आधारित है। चाहे वीरगाथाकालीन महाकाव्य हो या भक्तिकालीन-रीतिकालीन

साहित्य-विधाओं का अध्ययन करने पर अनेक समानताएँ दिखाई देती है। ये समानताएँ मुख्य रूप से इस प्रकार है—

(१) महाकाव्य समाज-सापेक्ष होता है, इसमें जीवन का तत्कालीन परिवेश में विशद् वर्णन होता है। महाकाव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करने के साथ-साथ जीवन का विशद् चित्रण करना होता है; आज के उपन्यास का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ जीवन की विशद् व्याख्या भी होती है। आज का उपन्यास जीवन के विशद् परिवेश को अपने में समाहित करता है। मैखाइली शोलोखोव का उपन्यास 'And the quite Flows the Doan' (धीरे बहो दोन रे) अथवा विमलमित्र का उपन्याम 'खरीदी कौड़ियों के मोल' अथवा शंकर का उपन्यास 'चौरंगी' आदि ऐसे उपन्यास है, जिनके परिवेष में तत्कालीन सम्पूर्ण सामाजिक जीवन एवं वातावरण आ जाता है। जिस प्रकार महाकाव्य जीवन का व्यापक परिवेश में चित्रण करते थे, उसी प्रकार आज के उपन्यास जीवन का विषद्‌रूप से मूल्यांकन करते है।

(२) कथानक की दृष्टि से भी उपन्यास तथा महाकाव्य में पर्याप्त समानता है। स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों में संकल्प-विकल्पो और पात्रों की मानसिक दशाओं का चित्रण और विश्लेषण होता है। उसमें आवश्यकता उदात्त कथानक की ही है। इस प्रकार उपन्यासों में भी उदात्त कथानक होता है और दोनों का विकास इस तरह होता है कि कौतूहल की निरन्तर वृद्धि होती रहे। पाठक की उसमें आदि से अन्त तक जिज्ञासा बनी रहे।

(३) महाकाव्य और उपन्यास दोनों में विचारों, भावनाओ, अन्तर्वेगो, सुख-दुःख, संघर्ष, सफलता-विफलता आदि का चित्रण होता है। और यह चित्रण करते समय कृतिकार अपने दृष्टिकोण को भी अभिव्यक्त करता है। महाकाव्य में भी सिद्धान्तो का प्रतिपादन होता है और उपन्यासो मे भी। कथानक की परिणति पात्रों के चरित्र और संवाद आदि के द्वारा होती है। महाकाव्यकार की तरह महान् उपन्यासकार भी गम्भीर विचार प्रस्तुत करने वाले तथा जीवन-द्रष्टा होते है और उनमें जीवन-सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप मे होती है। दोनो में ही सिद्धान्त इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि पाठक को उनके पृथक् अस्तित्व का भान ही नही होता। उपन्यास और महाकाव्य—दोनों का ही उद्देश्य जीवन को विविध पक्षों मे प्रस्तुत करना और चित्रण द्वारा उसकी व्याख्या करना है तथा कथानक के द्वारा अपना

इस प्रकार प्रकृति रसोद्रेक में सहायक होती है तथा चित्रण को गरिमामय बनाती है।

(७) अरस्तू ने महाकाव्य शैली के लिए समाख्यानात्मक होना आवश्यक माना है। कवि कुछ अपनी ओर से कहता है, कुछ कथा का विकास पात्रों द्वारा करता है और इसके लिए नाटकीय शैली की आवश्यकता होती है; क्योंकि, समाख्यानात्मक शैली से एकरसता पैदा होती है और नाटकीय शैली से विचित्रता, जिससे रचना अधिक आह्लादकारी बन जाती है। इसी प्रकार उपन्यास में भी वर्णनात्मकता तथा नाटकीयता का पर्याप्त समावेश होता है। कोई भी उपन्यास तब तक सफल नहीं माना जा सकता, जब तक उसमें एक-रसता और विचित्रता का समावेश न हो।

उपन्यासों द्वारा महाकाव्य के उद्देश्य की पूर्ति—इस समानधर्मी विवेचना से यह स्पष्ट है कि वर्तमान उपन्यास भी वही कार्य करते हैं जो प्राचीन समय में महाकाव्य किया करते थे। महाकाव्यो का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ जनता की भावना मे सुधार करना होता था और यह सुधार वह मोहक रूप मे यथार्थ को प्रस्तुत करके करता था। इसी प्रकार आज के उपन्यास का उद्देश्य भी पाठको का मनोरंजन करने के साथ-साथ समाज का विशद् चित्रण करना तथा जनता की भावनाओं को उदात्त बनाना होता है। जिस प्रकार महाकाव्यों मे गम्भीर विचार मिलते है, उसी प्रकार आज के उपन्यासों में भी गम्भीरता दिखाई देती है। इसीलिए महाकाव्य तथा उपन्यास इतिहास की अपेक्षा महान् होते है तथा इनमे दर्शन नहीं होता, दार्शनिकता का पुट होता है। उपन्यास और महाकाव्य में केवल शैली का ही अन्तर होता है। महाकाव्य पद्यमय होते है और उपन्यास गद्यमय, परन्तु उद्देश्य की दृष्टि से दोनों ही समान होते है। इसलिए कहा जा सकता है कि उपन्यास और महाकाव्य—शैली-भेद के होते हुए भी—उद्देश्य की दृष्टि से समान होते है और आज का युग उपन्यासों का युग है, पाठक पद्य की अपेक्षा गद्य को पढना ही अधिक उपयुक्त समझता है; इसीलिए उदात्तता का समावेश आज के उपन्यासो में भी महाकाव्यों की तरह हो गया है।

निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति महाकाव्य किया करते थे, उसकी पूर्ति अब उपन्यासों के द्वारा होती है।

सुश्री महादेवी वर्मा सुख-दुःखात्मक अनुभूति के गेय शब्द रूप को गीति-काव्य अथवा गीत मानती है। उनका विचार है, "गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

इस प्रकार महादेवी वर्मा व्यक्तिगत अनुभूतियों के आरोह-अवरोह की भाँति गीत में भी गेयता मानती है और साथ ही, यह आवश्यक है कि उसका जन्म तीव्र भावानुभूति के क्षणों में हुआ हो।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी गीति पर विशद् रूप से विचार किया है। **'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'** मे गेयता पर ध्यान केन्द्रित करके कहा गया है—

"Lyrical poetry a general team for all poetry which is, or can be suppose to be, suscapteble of being sung to accompaniment of a musical instrument."

अर्नेस्ट राइस गीतिकाव्य की परिभाषा देते हुए कहते है कि सच्चा गीत वही है, जिसमें भाव या भावात्मक विचार का भापा में स्वाभाविक विस्फोट हो। इस प्रकार गीतिकाव्य उनके अनुसार एक स्वाभाविक भाव-विस्फोट है, जो प्रवाह और चयन की कुशलता से स्वाभाविकता लाता है।

हीगेल के मतानुसार, गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपो एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक विशेष रूप का प्रतिविम्व होता है। इसका उद्देश्य कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, आशाओ, आह्लाद-विषाद की तरंगों और चेतना की चीत्कारो का उद्घाटन करना होता है।

गोमर महोदय ने गीतिकाव्य की जो परिभापा दी है, इससे उसके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनके मतानुसार, "गीतिकाव्य वह अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूतियो से पोषित होती है, जिसका सम्वन्ध घटनाओ से नही, अपितु भावनाओ से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।"

हडसन भी इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते है, "गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी वैयक्तिकता की छाप है। किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओ पर आधारित होती है, जिससे

(च) सुकुमारता—गीतिकाव्य सुकुमार भावनाओं का प्रेरक होता है, अतः इसकी एक अन्य विशेषता सुकुमारता है। कोमल मसृण भावनाएँ ही कवि-हृदय से निःसृत होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करती है और इसके लिए गीत में संगीतात्मकता का प्राधान्य होता है।

(छ) स्पष्टता—अलंकार तथा क्लिष्ट भाषा बुद्धि के लिए भले ही सामग्री प्रदान करे, हृदय-पक्ष के लिए घातक ही सिद्ध होती है। गीति, चूँकि अनुभूतिप्रधान होता है, अतः इसकी एक विशेषता यह है कि वह सरल शब्दों में हृदयगत भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति करे। इस स्पष्टता के कारण ही कवि अपनी भावनाओं को उसी रूप में पाठकों तक पहुँचा पाता है, जिस रूप मे वह अनुभव करता है। स्पष्टता गुण के कारण ही गीतिकाव्य अन्तर्वृत्तियों का सहज प्रकाशन समझा जाता है।

गीतिकाव्य के तत्त्व—विशेषताएँ तो वे होती है जिनके होने से कोई भी भाव या अभिव्यक्त काव्य सुन्दर व आकर्षक बनता है, पर तत्त्व वे होते है जिनसे काव्य को कलेवर प्राप्त होता है, अर्थात् विशेषताएँ तो प्रसाधन है पर तत्त्व मूल है, काव्य का शरीर और प्राण है। इन्ही तत्त्वों के माध्यम से काव्य के स्वरूप का निर्माण होता है। गीतिकाव्य के प्रमुख मूलतत्त्व निम्न-लिखित है :

(क) तीव्र भावावेग—तीव्र भावानुभूति के विना गीतिकाव्य का निर्माण हो ही नही सकता। कवि की तीव्र भावनाएँ अनुभूति द्वारा भाव बनकर ही अभिव्यक्त होती है। अतः यदि भावावेग नही है तो काव्य का स्वरूप ही क्या होगा ? अतः गीतिकाव्य की आत्मा भाव है। तो काव्य किसी प्रेरणा के भार से दवकर एक साथ गीत रूप में फूट पड़ता है। एक कवि ने लिखा है :

"गीत तुम कहते जिसे हो, प्रेरणा का व्रण है आकुल।
और है वह शक्ति जिसमें, वेदना व्रण भी सके घुल।"

इसी से गीतिकाव्य मे हार्दिकता (Spontaniety) तत्त्व आवश्यक है और यह तत्त्व भाव ही है। **ब्रूनलियर** ने भी स्पष्ट लिखा है, "गीतिकाव्य में कवि भावानुकूल लयों मे अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना का प्रकाशन करता है।" **विलियम वर्ड्सवर्थ** ने भी कविता की जो परिभाषा दी है, वह भी भावतत्त्व को ही ध्यान में रखकर दी है; क्योंकि, कविता तीव्र भावों का तीव्र उच्छलन है—

चाहिए। यदि पाठक पढ़ते समय उसमे कोई व्याघात का अनुभव करे तो वह इसकी असफलता है। प्रवाहमयी शैली से ही प्राणतत्त्व की स्थापना होती है।

(च) आन्तरिक प्रेरणा—सम्पूर्ण गीति-कविता आत्मद्रव की अन्तर्धारा से प्रवाहित होती है और यह आत्मद्रव कवि की आन्तरिक प्रेरणा से अनुस्यूत होता है। कवि की प्रेरणा जितनी अधिक होगी, गीतिकाव्य उतना ही भावमय बन सकेगा। आवेग का इसीलिए स्वाभाविक होना आवश्यक है, क्योंकि कृत्रिम आवेग से प्रवाह नहीं आ पाता। यह आवेग पीड़ा और दर्द के क्षणो में बहुत ही तीव्र तथा घनीभूत हो जाता है। जितने भी महान् गीतिकार हुए है, सभी ने अपनी वेदना तथा पीड़ा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इसीलिए एक कवि ने लिखा है :

> **"चाहे कोई लिखे, किसी के लिए लिखे,**
> **पर जन्म गीति का सदा दर्द से होता है।**
> **अब तक का तो कहता है इतिहास यही,**
> **कवि पीछे लिखता पहले तो रोता है॥"**

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन्ही तत्त्वो से गीतिकाव्य का निर्माण होता है और विशेषताएँ उसके स्वरूप को सुन्दर तथा आकर्षक बनाती है। अतः गीति के लिए दोनों की ही अनिवार्यता ग्राह्य है।

प्रश्न ४९—गीतिकाव्य अथवा प्रगीत के प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

गीतिकाव्य का उपयुक्त वर्गीकरण कीजिए।

गीतिकाव्य का अनेक दृष्टियो से वर्गीकरण किया जा सकता है। यो तो गीतिकाव्य कवि की अनुभूति का सहज प्रकाशन है, अर्थात् अनुभूति प्रकाशक काव्य गीति है, पर अनुभूति मे भी अनेकरूपता होती है। अतः गीतों के भी अनेक रूप हो जाते है। उनके प्रमुख भेद संक्षेप मे निम्नलिखित है—

तत्त्वों की दृष्टि से वर्गीकरण—तत्त्वो की दृष्टि से गीत के दो भेद किए जा सकते है :

(क) भाव-प्रधान गीत और (ख) विचार-प्रधान गीत।

(क) **भाव-प्रधान गीत**—जिन गीतों मे आत्माभिव्यक्ति की भावना प्रमुख होती है, अर्थात् जिनमे कवि अपनी अनुभूतियों मे ही लीन रहता है, वे भाव-

सॉनेट के स्थूल रूप में दो वर्ग किए गए है—शैक्सपीरियन सॉनेट और मिल्टानियन सॉनेट ।

शैक्सपीरियन सॉनेट—में दो भाग होते है, पहले १२ चरणों का एक तथा अन्तिम दो चरणों का दूसरा । प्रथम १२ पंक्तियों में एक विचार होता है और अन्तिम दो पंक्तियो में या तो उस विचार को पलट दिया जाता है अथवा उसका विस्मयपूर्ण ढंग से उपसंहार कर दिया जाता है। इसकी अन्तिम दो पंक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है । शैक्सपीयर की 'On love' इसी प्रकार की गीति-रचना है।

मिल्टानियन सॉनेट—प्रथम आठ पंक्तियों का एक खण्ड तथा शेष छह पंक्तियों का दूसरा खण्ड होता है । पहली आठ पंक्तियो मे एक भावना या विचार होता है, शेष छह पंक्तियों में इस विचार या भावना की विरोध भावना होती है, उसका प्रतिपक्ष होता है अथवा उसका प्रत्युत्तर होता है । जॉन मिल्टन की 'On his blindness' इसी प्रकार की प्रगीतात्मक रचना है ।

सॉनेट में इस कारण भावना का स्वच्छन्द रूप न रहने से कृत्रिमता आ जाती है । अतः भावों का सहज उच्छलन न होने से वह सॉचेदार कलात्मक काव्यरूप ही है जो गीतिकाव्य के मूलतत्त्व—स्वाभाविकता से हट जाता है ।

वृत्ति के आधार पर वर्गीकरण—मानव की अनेक वृत्तियाँ होती है; विषय और वृत्ति के आधार पर गीतिकाव्य के भी अनेक भेद हो जाते है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित है :

(क) प्रेम-गीत, (ख) व्यंग्य गीत, (ग) शोक-गीत, (घ) शिशु-गीत, (ङ) नृत्यगीत, (च) भक्तिपरक गीत, (छ) वीर-गीत, (ज) विरह-गीत, (झ) सम्बोधन गीत और (ञ) आख्यायिका गीत ।

प्रेमगीत (शृंगारिक गीत)—प्रेम गीतो मे कवि अपनी प्रेमानुभूति अथवा शृंगारिक भावनाओ की सहज अभिव्यक्ति करता है । इसका उच्छलन तारुण्य की कोमल रसिकता से होता है । इस प्रकार के गीत पाश्चात्य साहित्य और हिन्दी साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होते है ।

व्यंग्य गीत—व्यंग्य गीत पाठक के मन मे गुदगुदी उत्पन्न करते है । वही कवि सफल व्यंग्य-गीत[illegible] हो सकता है, जिसकी बुद्धि चपल है तथा जि[illegible] **जीवन की** असंगति[illegible] या परखने की सूक्ष्म शक्ति है । **ये गीत** [illegible]**टकी** लेते [illegible] माध्यम से, व्यंग्य-विनोद **का** [illegible]

अतीत गौरव का स्मरण और वर्तमान की हीनता के प्रति विक्षोभ व्यक्त करने के लिए इस प्रकार के गीतों का प्रयोग करता है। राष्ट्रीय भावना में भी कवि स्वानुभूति का वीरतापरक प्रकाशन करता है।

विरह-गीत—कवि प्रिय-विरह में अश्रु प्रवाहित करने के बाद अथवा उसके जाने के बाद स्मृति के माध्यम से अपने प्रिय का स्मरण करता है और उसके वियोग में व्यक्त विरह का जिन गीतो में वर्णन करता है, वे विरह-गीत कहलाते है।

सम्बोधन-गीत अथवा गौरव-गीत (Ode)—इन गीतों में किसी को सम्बोधित करके स्तुतिपरक भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है। किसी महान् तथा आदरणीय व्यक्ति के प्रति कवि अपनी भावनाओं को गम्भीर तथा आदर भाव से युक्त करके अभिव्यक्त करता है। शैली का 'Skylark' तथा कीट्स का 'Ode to the Nightingale' इसके सुन्दर उदाहरण है।

आख्यायिका गीत (Ballad)—मध्यकालीन पद्यबद्ध कहानी को ही आजकल आख्यान्क गीत कहते है। इन गीतों में युद्ध, वीरता तथा पराक्रम-पूर्ण कृत्यों का प्राधान्य होता है और इसे प्रेम, घृणा, कलह, करुण आदि भाव प्रेरणा देते है। यह समाख्यान कवि स्वयं प्रस्तुत करता है या किसी पात्र के द्वारा प्रस्तुत कराता है। इसी कारण इसकी शैली में अन्त.स्फूर्ति और सरलता आ जाती है। और अनुभूति-सापेक्ष होने के कारण ही इसे गीतिकाव्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। श्री जयशंकर प्रसाद का 'शेरसिह का शस्त्र-समर्पण' आख्यानक गीति का सुन्दर उदाहरण है।

शैली के आधार पर वर्गीकरण—शैली के आधार पर गीतो के दो भेद किए जा सकते है—

(क) लोकगीत, और (ख) कलागीत।

लोकगीत—लोकगीतों में गाँव के लोग अपने भोले-भोले, सरल-सीधे भावों और मनोवेगों को सरल भाषा में अभिव्यक्त करते है। इनमें लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और उसका अन्तर्वेग तीव्रोच्छ्वास स्वत: गीतिकाव्य का रूप धारण कर लेता है। इसमे सजीवता, मर्मस्पर्शिता तथा हार्दिकता प्रचुर मात्रा में होती है। सहज गेयता इनका प्रमुख गुण है। इन लोकगीतों के दो रूप होते है—(१) अकेले गाए जाने वाले लोकगीत और

स्वरूप पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त है, अतः इसकी परिभाषा भी मूलरूप से पाश्चात्य समालोचकों की धारणाओं से सम्बद्ध है। अतः समालोचना की परिभाषा करते समय पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं की विवेचना आवश्यक है।

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' मे समालोचना (Criticism) की परिभाषा देते हुए लिखा है कि समालोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोष की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य के क्षेत्रों में की गयी हो अथवा ललित कला के क्षेत्रों में। इसका विकास स्वरूप-निर्णय मे सन्निहित रहता है—

"Criticism is the art judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or in fine arts. It involves the formation and expression of judgement."

मैथ्यू आर्नाल्ड समालोचना के मुख्य गुण तटस्थता के आधार पर इसकी परिभाषा करते है कि समालोचक तटस्थ होकर वस्तु के स्वरूप को जानने की आकांक्षा से आलोचना करता है। अतः समालोचना संसार के सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम विचारों को व्यक्त करती है :

"The Criticism, real criticism, is essentially the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind). It obeys on instinct prompting to try to know the best that is known and thoughts in world."

इसी प्रकार **आई० ए० रिचर्ड्स** ने मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि आलोचना साहित्यिक अनुभूति के विचारोपरान्त उनका सम्यक् विवेचन करती है, "To set up a criticism is to set up as a judge of values." ड्राइडन के अनुसार आलोचना वह कसौटी है, जिसकी सहायता से किसी रचना का मूल्यांकन किया जाता है। कॉलरिज के अनुसार समीक्षा का उद्देश्य साहित्य-निर्माण के नियमों का निश्चितीकरण है, न कि निर्णयात्मक नियमों का संकलन तैयार करना।

सेट्सबरी ने वृत्तियों के आधार पर समालोचना की परिभाषा दी है। इनके अनुसार, "साहित्यिक सुरुचि के तर्कपूर्ण प्रयोग का नाम ही समालोचना है।" यह साहित्य की परीक्षा करती है और उनके श्रेष्ठ तथा आनन्ददायी तत्त्वो की ओर संकेत करती है।

समालोचना का स्वरूप—इन परिभाषाओं के आधार पर समालोचना मे

"To feel the virtue of the poet or the painter to disengage it, to set it forth—these are the three stages of the critic's duty."

किन्तु आलोचक का कार्य अथवा उद्देश्य निश्चित रूप से निर्णय देना है; क्योंकि उसके बिना पाठक बीच मे ही रह जायेगा। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि निर्णय प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप से ही हो—समालोचक मार्ग दिखा दे, पाठक निर्णय स्वयं ले-ले।

आलोचना की प्रक्रिया—आलोचना समालोचक की रुचि, जिज्ञासा और आत्माभिव्यक्ति के कारण ही आवश्यक होती है; अर्थात् समालोचना प्रतिक्रियाओं की देन है। ये प्रक्रियाएँ सदैव परिवर्तित होती रहती है, यह परिवर्तन चाहे रुचि-भेद से हो, या चिन्तन-क्षमता से या अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं से हो। इसलिए आलोचना की प्रक्रिया मे तीन आयाम है—**प्रभाव-ग्रहण, व्याख्या तथा निर्णय व मुल्यांकन**। इन तीनों के सम्मिलित रूप से ही आलोचना की प्रक्रिया पूर्ण होती है। इन तीनों का संक्षेप में उल्लेख, आलोचना को जानने के लिए आवश्यक है।

(क) प्रभाव ग्रहण—प्रभावग्रहण से आलोचना की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, अतः यह समालोचना का प्रथम तत्त्व है। प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया कलाकृति के विपय-बोध पर आधारित है। जब तक किसी कृति को पूर्ण रूप से समझ कर उसका मन पर प्रभाव न पड़े, तब तक आलोचना अपूर्ण है। प्रभाव ग्रहण करने के पश्चात् ही कोई समालोचक एक निश्चित निर्णय ले सकता है। इस प्रभाव-ग्रहण में समालोचक की वैयक्तिक रुचि-विरुचि एवं संस्कारों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जिन विषयो के प्रति समालोचक की विशेष रुचि होगी वह उन्ही से अधिक प्रभाव ग्रहण करेगा। यद्यपि यह सत्य है कि समालोचक का मुख्य गुण तटस्थता है, पर फिर भी उसकी व्यक्तिगत रुचि का पर्याप्त प्रभाव—चाहे वह परोक्ष ही सही, पड़ता अवश्य है। पर प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया के समय बुद्धि का व्यापक तथा विचारो का विशद होना आवश्यक है।

(ख) व्याख्या—प्रभाव ग्रहण के पश्चात् समालोचना की जो दूसरी प्रक्रिया है, वह है व्याख्या-विश्लेषण। जब समालोचक के मन पर किसी कृति का पूर्ण प्रभाव पड़ जाता है तो वह उसकी व्याख्या में प्रवृत्त हो जाता है। व्याख्या का अर्थ है—किसी कृति का सर्वांग विश्लेषण और विवेचन। **मैथ्यू आर्नाल्ड**

आलोचना के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए समालोचक के गुणों का निरूपण कीजिए।

अथवा

कवि के समान समीक्षक का कार्य भी सर्जनात्मक कहा जा सकता है या नहीं ? काव्य और समीक्षा के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए समालोचक के गुण बताइए।

मूलतः साहित्य की व्याख्या को समालोचना कहते है। आलोचक किसी कृति की व्याख्या-विश्लेषण करके पाठको की रुचि को मार्ग दिखाता है; पर इसके साथ ही, यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है कि साहित्य का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक क्यो है। जब साहित्यकार किसी रचना का स्रष्टा है और उसका आस्वादक पाठक या श्रोता है, तो इनके बीच समालोचक की आवश्यकता ही क्या है ? यही आवश्यकता जानने की प्रवृत्ति आलोचना के प्रयोजनों की ओर संकेत करती है। ये प्रयोजन आलोचक के उद्देश्य को भी स्पष्ट करते है।

आलोचक के प्रयोजन—डा० गुलाबराय ने आलोचना के प्रयोजनो पर विचार करते हुए लिखा है, "आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणो से आस्वाद कर पाठको को उस प्रकार के आस्वादन मे सहायता देना, उसकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति-विधि निर्धारित करने मे योग देना है।" वस्तुतः आलोचना साहित्य का मार्ग ही प्रशस्त नही करती है वरन् उसका नियमन भी करती है।

समग्रतः आलोचना के निम्न प्रयोजन माने गए है :

(१) **लेखकों और कवियों का पथ-प्रदर्शन**—पाश्चात्य विचारकों का मत है कि समालोचना कवि और लेखक का पथप्रदर्शन करती है। कारण, आलोचक आलोच्यकृति की सम्यक् विवेचना कर उसके गुण-दोषो का स्पष्टीकरण कर देता है। फलस्वरूप रचयिता उनसे प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कृतियो में दोषों का परिहार करता है। अरस्तू के शिष्यो ने भी आलोचना के प्रयोजन पर विचार करते हुए यह माना है, "आलोचक का प्रयोजन है—लेखकों का मार्ग प्रदर्शन करना और जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए विधान बनाना।"

(२) **अच्छे लेखन-सिद्धान्तों का अन्वेषण और प्रयोग**—आलोचना का

नापतौल ही सामने रहती है। मैं समझता हूं कि यहाँ साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। अतः साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण करने की महत्त्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकती।

(६) **महत्त्व सिद्धि**—आलोचना का यह प्रयोजन स्वयं आलोचना के ही संदर्भ में है। जो साहित्यकार आलोचक भी होता है वही इस प्रयोजन का प्रयोग भी करता है। रचयिता स्वयं अपनी रचना की आलोचना करके उसके महत्त्व की सिद्धि करता है। अनेक हिन्दी तथा पाश्चात्य साहित्यकारों ने अपनी कृति की समालोचना इसी दृष्टि से की है।

(७) **सामाजिक उपयोगिता**—आलोचना का कार्य ही यह है कि वह समाज में स्वस्थ रुचि उत्पन्न करके साहित्य की श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके समाज को समुन्नत करे और उसके शील तथा सदाचार को पुनः व्यवस्थित करे।

इस प्रकार समालोचना के अनेक प्रयोजन बताए गए है। पर इसका मूल प्रयोजन रचना की उपयुक्तता का प्रस्तुतीकरण ही है। यही विवेचना साहित्यकार को प्रेरणा देती है। वस्तुतः समालोचना किसी भी कृति की वस्तु-स्थिति का स्पष्टीकरण कर देती है और यह पाठकों का काम है कि वह उससे कैसा प्रभाव ग्रहण करे।

समालोचक के गुण—समालोचक किसी कृति की विवेचना करके उसका प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करता है तथा रचना-गत भाव सौन्दर्य का उद्घाटन करके उसका स्पष्टीकरण करता है। यह अत्यन्त कठिन कार्य है, इसीलिए विद्वानो ने समालोचक के लिए कुछ आवश्यक गुणो का होना आवश्यक माना है। **डा० सीताराम चतुर्वेदी** ने लिखा है, "आलोचक वास्तव में पठित समाज का अग्रणी नेता या मुखिया है जिसका कार्य सम्बद्ध होकर दूसरों को सजग और प्रबुद्ध करना है और जिसके स्वयं सशक्त, प्रबुद्ध और सज्ञान न होने से समाज-गत सौन्दर्य-भावना और विवेचना-वृत्ति में अनेक दोष आ सकते है।

समालोचक के गुणों पर विचार करने से जो गुण ज्ञात होते है, उनमें भारतीय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा समन्वित निम्नलिखित प्रमुख गुण इस प्रकार है :

(१) **विस्तृत अध्ययन और ज्ञान**—जब तक समालोचक आलोच्य कृति के

करे जिनमें आलोच्य कृतिकार रहा हो इस तादात्म्य से कृति की गहराई से समालोचना हो सकेगी।

(७) **कवित्व-शक्ति**—अनेक विचारकों ने यह भी माना है कि समालोचक में भी कवि की तरह कवित्व शक्ति होनी चाहिए। **वेन-जानसन** ने तो यहाँ तक कहा है, "कवियो की आलोचना केवल कवि ही कर सकते है—केवल वे ही कवि जो काव्य-रचना में श्रेष्ठ समझे जाते है।"

(८) **निर्णयात्मक शक्ति**—आलोचक का कर्म निर्णय-प्रधान होता है। अतः उसका यह सर्वोपरि गुण है कि वह स्पष्ट और सही निर्णय ले सके। यही विषय-बोध, अपने व्यक्तित्व की सशक्तता एवं अभिव्यक्ति की स्पष्टता से ही समालोचक सही निर्णय ले सकता है।

(९) **भाषा-प्रयोग तथा अर्थ-सम्बन्धी सामर्थ्य**—कवि की तरह आलोचक के लिए भी यह आवश्यक है कि यह भाषा का हस्तामलक की तरह प्रयोग कर सके और शब्द के अर्थ को भली प्रकार जानता हो, ताकि कृति को भली प्रकार समझ सके।

(१०) **अभिव्यक्ति-कौशल**—यदि समालोचक मे अभिव्यक्ति-कौशल नही है तो समालोचना स्वयं में प्रभावहीन हो जाएगी। जब समालोचना ही नीरस और प्रभावहीन होगी, तो वह जो निर्णय देगी, उसका पाठकों पर प्रभाव ही क्या पड़ेगा? अतः समालोचक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति सक्षम हो।

पोप के अनुसार, आलोचक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है:

(१) प्रकृति तथा जीवन के नियमों का पालन।
(२) गर्वहीनता।
(३) कलाकार के उद्देश्य तथा भावों का ज्ञान।
(४) सम्पूर्ण काव्य को हृदयंगम करना।
(५) कलाकार के ध्येय का ध्यान रखना।
(६) श्रेष्ठ काव्य के लिए बौद्धिक तत्त्वों की आवश्यकता।
(७) कला की आलोचना में केवल भाषा पर ही ध्यान न रखना।
(८) विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न शैलियों का ज्ञान।
(९) केवल छन्द या तुकान्त शैली को ही श्रेष्ठ न मानना।
(१०) शब्दों को भावों का प्रतीक समझना।

(१) **विषय-बोध**—समालोचना का प्रथम तत्व विषय-बोध है। जब तक समीक्षक के समक्ष विषय का स्पष्टीकरण न होगा, तब तक वह समालोचना किसकी करेगा ? विषय-बोध में कृति का सम्यक् ज्ञान तो सम्मिलित है ही, उसका पूरा निरीक्षण, उसमें पूरी पैठ तथा उसकी छान-बीन भी आती है। विषय का पूर्ण ज्ञान होने पर ही हमे उसके प्रभाव की पूर्णानुभूति होती है, जिसे आलोचना के रूप में अभिव्यक्त कर देते है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि सम्बन्धित कृति से सम्बद्ध तत्कालीन परिस्थितियों, समसामयिक लेखक व उनके साहित्य आदि का भी पूर्ण ज्ञान हो जिससे समालोचक कृति पर पड़े प्रभाव का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके।

विषय-बोध ऐसा तत्व है जिसके विना समीक्षा हो ही नही सकती; यदि विपय-बोध नही है तो समालोचना कैसी ? वस्तुतः यही से समालोचना की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

(२) **व्याख्या-विश्लेषण**—विषय-बोध के पश्चात् समीक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व व्याख्या-विश्लेषण है। व्याख्या-विश्लेषण को अभिव्यक्ति भी कह सकते है। किसी कृति के विषय को समझ लेने के पश्चात् समीक्षक उसकी व्याख्या और विश्लेषण करता है। इसमें कृति तथा लेखक के सम्बन्ध मे सभी कुछ आ जाता है। इस तत्व के अन्तर्गत विपय-बोध का समग्र रूप प्रकट होता है। समीक्षक ने आलोच्य-कृति और कृतिकार के सम्बन्ध मे जो कुछ भी जाना और समझा, वह उसकी व्याख्या तथा विश्लेपण करता है तथा यह बतलाता है कि कृतिकार ने किस प्रकार अपनी अनुभूति को वाणी दी है ? कृति का प्रतिपाद्य क्या है और उसके प्रस्तुतीकरण मे लेखक कहाँ तक सफल हो सका है ? कृति की मूलभूत विशेषताएँ क्या है तथा अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है ? शास्त्रीय दृष्टि से उसका स्वरूप कहाँ तक सही बैठता है और आलोच्य कृति में उसके रचयिता का दृष्टिकोण क्या है आदि तथ्यो पर इसी तत्व के अन्तर्गत प्रकाश डाला जाता है।

व्याख्या-विश्लेषण-तत्व का सम्बन्ध आलोचना से न होकर मूलतः स्वरूप के दिग्दर्शन से होता है। इस तत्व के द्वारा वह कृति के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करता है। इसे पढ़कर पाठक आनन्द की प्राप्ति करता है। कृति के अध्ययन से पाठक को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह बहुत कुछ इसी तत्व की देन है; क्योंकि, यह आवश्यक नही है कि पाठक किसी कृति को समग्रता से

साहित्यिक कृति के मूल तथा अन्तर्निहित गुणों का निर्णय करती है, वह गुण दोष-विवेचन की कसौटी प्रस्तुत करती है, जो कुछ भी विश्व में ज्ञातव्य और विचारणीय है, उसका ज्ञान और प्रचार कराती है। "उसमें तर्क और विश्लेषण होता है, कृति का क्रमबद्ध विवेचन होता है, ज्ञानवर्द्धन होता है और ये सब बातें विज्ञान से सम्बद्ध है।" अतः समालोचना विज्ञान है।

इसके विपरीत जो साहित्य-शास्त्रीय समालोचना को विज्ञान नही मानते उनका कथन है :

(१) व्यक्ति की रुचि ही मुख्य है और उसकी अपील कही नही हो सकती। अतः न तो बाह्य कसौटी बनाना ही औचित्यपूर्ण है और न उस कसौटी पर कृति का परीक्षण और मूल्यांकन करना ही। कभी-कभी विभिन्न रुचि होते हुए भी कुछ बातें ऐसी है जो सर्वमान्य है और उन पर कृति को परखा जा सकता है। विज्ञान के नियम व सिद्धान्त अटल होते है जो साधारणतः परिवर्तित नही होते जैसे होमर या वाल्मीकि का काव्य आज भी महान् माना जाता है। मानव-रुचि और स्वभाव मे कुछ तत्त्व ऐसे है जो सनातन है और जिनमे युगो बाद भी कोई परिवर्तन नही होता। कुल मिलाकर **सी० टी० विंचेस्टर** के शब्दों में कहा जा सकता है :

"The diversity of taste among different races, ages and individuals is much less than the agreement."

(२) साहित्यिक प्रभाव इतने विविध प्रकार के होते है कि सभी कृतियों के लिए समान नियम निर्धारण करना सम्भव नही है; ऐसे सर्वमान्य गुणों का निर्देश नही कर सकते, जिनके कारण कोई रचना साहित्यिक कही जा सके। रचना को साहित्यिक रूप देने के लिए प्रयुक्त उपकरण भी पृथक्-पृथक् होते है। कोई रचना बुद्धि को प्रभावित करती है तो कोई हृदय को; कभी उसकी रूप-विधा प्रभावित करती है तो कभी उसकी शैली, अतः उनका सुनिश्चित वर्गीकरण नही हो सकता। अतः आलोचना मे कार्य-कृति के गुणो का उद्घाटन होना चाहिए न कि उसका वर्गीकरण अथवा उसे अच्छा-बुरा कहना।

(३) साहित्य व्यक्तिगत कर्म है। उसमे लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व का प्रकटन होता है और प्रतिभा के मूल्यांकन की कोई कसौटी निर्धारित नही हो सकती। अतः मूल्यांकन की कोई एक कसौटी निर्धारित करना औचित्य-

प्रश्न ५३—समालोचना के प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए तथा साहित्यिक समीक्षा के प्रकार बताइए।

अथवा

हिन्दी की नव्यतम समीक्षा-शैलियों का परिचय दीजिए।

अथवा

"इस समय हिन्दी में प्रचलित समीक्षा-पद्धतियों पर स्पष्टतः पाश्चात्य प्रभाव है।" समीक्षा-प्रणालियों के प्रमुख भेदों का उल्लेख करते हुए इस कथन की विवेचना कीजिए।

आलोचना की प्रक्रिया में आलोचक के मुख्यतः दो कार्य होते है—समालोचना के द्वारा किसी आलोच्यकृति की व्याख्या-विश्लेषण तथा दूसरे आलोच्य कृति का मूल्यांकन। मूल्यांकन मे समालोचक समालोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी निरूपण करता है। पर यदि किसी आलोचना मे इसमे से किसी कार्य की प्रधानता हो जाती है तो यह समालोचना का एक प्रकार बन जाती है। यद्यपि प्रत्येक आलोचना मे न्यूनाधिक दोनों के कार्य सन्निहित होते है, पर इस प्रधानता के कारण ही समालोचना के दो रूप हो जाते है—

(१) सिद्धान्त-निरूपण करने वाली समालोचना, अर्थात् सैद्धान्तिक समालोचना।

(२) व्याख्या व मूल्यांकन से सम्बद्ध व्यावहारिक समालोचना।

अब हम संक्षेप में इन दोनो समालोचना-रूपो का विश्लेषण करेंगे—

(१) **सैद्धान्तिक समालोचना**—सैद्धान्तिक समालोचना से आलोचनाशास्त्र के सिद्धान्तो का निरूपण तथा काव्यशास्त्रीय मूल्यों का निर्धारण होता है। साहित्य और उसके विविध अंगों का स्वरूप-विश्लेषण भी इसी के अन्तर्गत आता है। अंग्रेजी समालोचक मोल्टन के अनुसार, "साहित्य के सिद्धान्तो और साहित्य-दर्शन का विवेचन सैद्धान्तिक समालोचना कहलाता है।" यह समालोचना का सम्पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रूप है। यह व्यापकता की दृष्टि से सार्वकालिक तथा सार्वभौमीय होती है; क्योंकि, इसमे सभी कालों तथा सभी देशों की साहित्यिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा रहती है। रीति-ग्रन्थ, लक्षण-ग्रन्थ तथा काव्य-शास्त्र इसी के अन्तर्गत आते है। इस प्रकार की आलोचना का निर्माण दो प्रकार से होता है—

(क) प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर सिद्धान्तो का निर्माण।

समालोचक अपनी रुचि के अनुसार कृति का मूल्यांकन करता है, अपने मन पर पड़े हुए प्रभाव का प्रस्तुतीकरण करता है। मूल्य-निर्धारण की अपेक्षा कलात्मक अनुभूति से स्पन्दनो को व्यक्त करता है। ऐसे आलोचकों की आलोचनाओं में उनके व्यक्तित्व का अदम्य आग्रह रहता है। अंग्रेजी में आर्थर साइमन्स, राबर्ट लिण्ड तथा आर्थर क्विलरकूच इसी प्रकार के समालोचक है और हिन्दी में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मेघदूत, शकुन्तला आदि की समालोचनाएँ इसी कोटि की समालोचनाएँ है।

(ख) **व्याख्यात्मक समालोचना**—आलोचना के प्रकारों मे आलोचना का यह रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा आलोचन के प्रकृत स्वरूप के सर्वाधिक निकट है। व्याख्या और विश्लेषण करना इसकी विशेषता है। इस प्रणाली को लाने का श्रेय शेक्सपीयर के प्रसिद्ध आलोचक डा० मोल्टन को है। व्याख्यात्मक समालोचना कृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके गुण-दोषों का तटस्थ भाव से सम्यक् मूल्यांकन करती है, कृति का व्यवस्थित रूप से सौन्दर्योद्घाटन करती है और उसे व्यवस्था देती है।

व्याख्यात्मक समालोचना के भी अनेक रूप हो सकते है, जिनसे इसके प्रभाव तथा विस्तार का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। व्याख्या-विश्लेषण करते समय समालोचक कहीं तो उसकी तुलना करता है, कही शास्त्रीय नियमों का विवेचन करता है, कहीं उसके इतिहास को देखता है तो कही वैज्ञानिक विश्लेषण करता है; इस प्रकार इसके निम्नलिखित रूप हो जाते है :

(i) **शास्त्रीय समालोचना**—काव्यशास्त्र के आधार पर व्यावहारिक समालोचना करना शास्त्रीय समालोचना है। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विपयो—रस, छन्द, अलंकार, ध्वनि, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से, परम्परागन काव्यशास्त्रीय भूमियो के आधार पर किसी आलोच्यकृति की व्याख्या-विश्लेपण इस समालोचना-पद्धति की विशेपता है।

इस शैली का दोष यह है कि समालोचक का ध्यान कृति के वाह्य रूप-विधान और बाह्याकार-अभिव्यक्ति पक्ष के प्रति ही अधिक रहता है, वह अंतरंग पक्ष का पूर्ण विवेचन नही कर पाता, इसलिए इसे **रूप-विधायिनी आलोचना** (Formal Criticism) भी कहते है। इस पद्धति का गुण यह है कि इसकी **दृष्टि** काव्य-कृति पर ही विशेषत. रहती है। किन्तु यह पद्धति अब अधिक प्रचलित नहीं।

डा० श्यामसुन्दरदास और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओ में इस पद्धति के दर्शन किए जा सकते है ।

(v) **तुलनात्मक आलोचना**—तुलनात्मक आलोचना-पद्धति काव्य-सम्बन्धी नाना तत्वों की दृष्टि से दो या दो से अधिक साहित्यिक कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है । तुलना आलोचना का एक आवश्यक अंग है । इससे साहित्य की सम्पूर्ण तथा सांगोपांग विवेचना हो जाती है । साहित्य के सामयिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है । कभी-कभी इस प्रकार की समालोचना निष्पक्ष न होने पर कवि के साथ अन्याय अधिक किया करती है । पण्डित पद्मसिह शर्मा की आलोचना इसी प्रकार की है ।

(vi) **मार्क्सवादी समालोचना**—मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित होती है । इसका आधार कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है । इसको ऐतिहासिक आलोचना का एक अंग भी माना जा सकता है, पर अन्तर यह है कि इसमें आलोचक की दृष्टि मार्क्स दर्शन पर केन्द्रित रहती है । पूर्वाग्रह प्रेरित होने के कारण यह समीक्षा-पद्धति विशेष लोकप्रिय नही हो सकी है । डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदान सिह चौहान की आलोचना इस प्रकार की है ।

(vii) **चरित-मूलक समालोचना**—कृति-विशेष की आलोचना से पहले उसके रचयिता के मानव-विश्लेषण पर बल देने वाली समालोचना को चरित-मूलक समालोचना कहते है । इसमें लेखक की जीवनी के संदर्भ मे उसकी अन्तर्वृत्तियों और विचारधाराओं का अध्ययन किया जाता है । स्थूल रूप से यह ऐतिहासिक मनोविश्लेषणात्मक और प्रभावात्मक समीक्षा का मिला-जुला रूप है ।

(ग) **निर्णयात्मक आलोचना**—निर्णयात्मक पद्धति में समालोचक न्यायाधीश की तरह आलोच्य कृति का मूल्यांकन करता है और अन्त मे अपना मत देता है । साहित्य-क्षेत्र मे उसके योगदान का भी विश्लेषण करता है । यद्यपि उसके निर्णय का कोई मानदण्ड नही होता; फिर भी प्राय: वह व्यक्तिगत रुचि, सामाजिक तथा नैतिक मूल्य और मानव-मूल्य आदि की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित अपना निर्णय देता है । **डा० मोल्टन** ने इस आलोचना-प्रणाली का खण्डन किया है । डा० **नगेन्द्र** ने भी समालोचक का कार्य निर्णय देना न

है, उसका उसी रूप मे विश्लेषण करता है। न तो वह किसी कृति की बुराई ही करता है और न अच्छाई ही। इसीलिए **डा० सैम्यूल जॉनसन** का मत है, "आलोचक का कर्त्तव्य न तो किसी रचना का अवमूल्यन करना है और न आंशिक विवेचन द्वारा उसे गरिमा-मण्डित करना। उसका कार्य तो विवेक के आलोक में जो दिखाई दे, उसका उद्घाटन करना और सत्य के निर्देश में जो निर्णय हो, उसका आख्यान करना है।"

प्राचीन समालोचक किसी भी कृति की आलोचना करने से पूर्व अपने मन में एक खाका बना लेते थे और उन पूर्वाग्रहों के आधार पर ही प्रत्येक रचना का मूल्यांकन करते थे। रचना चाहे कितनी ही सुन्दर तथा कलात्मक दृष्टि से उच्च क्यों न हो, यदि समालोचकों के दृष्टिकोण तथा मन से वह मेल नहीं खाती तो वे उसको निकृष्ट ही ठहराते थे। इस प्रकार यदि कोई कृति उनकी भावनाओं अथवा विचारों के अनुरूप हुई तो भाव और कलापक्ष के नितान्त निकृष्ट होने पर भी वह कृति उनकी प्रशंसा का अनायास ही पात्र हो जाती थी।

पर प्राचीन समीक्षकों की यह प्रवृत्ति समालोचना का स्वस्थ स्वरूप प्रशस्त नहीं करती। समीक्षा का कार्य है—वस्तु का यथातथ्य निरूपण करना और कृति तथा कृतिकार का परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य मे मूल्यांकन करना। और इसके लिए आवश्यक है कि समीक्षक पर किसी मत विशेष का प्रभाव न हो, वह अपने स्वस्थ दृष्टिकोण से उसकी समीक्षा करे।

यदि हम समालोचना के कार्य पर विचार करे तो यह अत्यन्त व्यापक तथा दायित्वपूर्ण दिखाई देता है। समीक्षक एक ओर तो कृति के गुण-दोषों का विवेचन करता है तो दूसरी ओर कृति-विशेष का वास्तविक मूल्य आँकता है। **डा० गुलाबराय** के मतानुसार, "आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठको को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना, उनकी रुचि को परिवर्तित करना और साहित्य की गति-विधि निर्धारित करने में योग देना है।"

समीक्षक का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। समाज किसी कृति विशेष के सम्बन्ध में अपनी राय समीक्षा के माध्यम से ही बनाता है। यदि समीक्षा किसी मतवाद से प्रभावित होगी तो उसके अग्रलिखित **दो दुष्परिणाम** हो सकते है—

सकता। विशेष अलोचना-प्रणाली के प्रति पक्षपात रहने से साहित्य की विशुद्ध आलोचना नही हो पाती। आलोचना लिखते समय यदि समीक्षक का पक्षपात बार-बार अपनी रुचि की आलोचना-प्रणाली अपनाने की प्रेरणा दिया करता है तो आलोचक स्वस्थ स्वरूप प्रस्तुत नहीं कर पाता और वह आलोचना नहीं होती। इस प्रकार की पक्षपातपूर्ण आलोचना को आलोचना कह भी नही सकते।

समीक्षक की परिभाषा, जो **'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'** में दी गयी है, इस प्रकार है—

"Criticism is the art of judging the qualities values of an aesthetic object whether in literature or in fine arts. It involves the formation and expression of judgement."

इस तरह समीक्षा किसी कृति की प्रवृत्ति, गुण, मूल्य और सौन्दर्य आदि का सन्तुलित न्याय करती है। यह रचना व उसके उद्देश्य—दोनों का सम्यक् उद्घाटन करती है और इसके लिए आवश्यक है कि समीक्षा निष्पक्ष हो, उसके दृष्टिकोण पर किसी पूर्वाग्रह का प्रभाव न हो।

प्रश्न ५५—निबन्ध की परिभाषा देते हुए उसकी विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

निबन्ध के स्वरूप का विवेचन कीजिए और वैयक्तिक निबन्ध के स्वरूप का उल्लेख करते हुए बतलाइए कि क्या हिन्दी में कोई वैयक्तिक निबन्ध-लेखन भी है। अपनी परिभाषा के आधार पर उत्तर दीजिए।

गद्य-साहित्य में निबन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है; साथ ही, यह गद्य की कसौटी भी है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने लिखा है कि यदि पद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। गद्य-शैली का पूर्ण विकास निबन्ध में ही देखने को मिलता है। निबन्ध का आधुनिक रूप अधिकांशतः पाश्चात्य है और यह अंग्रेजी शब्द ऐस्से (Essay) का हिन्दी पर्याय का है। ऐस्से (Essay) शब्द लैटिन के 'एगजीजियर' से तथा फ्रेंच शब्द 'एसाई' (Essai) से निकला है। इसका शाब्दिक अर्थ प्रयोग अथवा परीक्षण करना होता है।

इन परिभाषाओं के आधार पर निबन्ध में विचार गम्भीर तथा प्रौढ़ रूप में अभिव्यक्त होते है। इन दोनों प्रकार के विचारकों में यद्यपि बाह्य स्तर पर विरोध एवं मत-वैभिन्न्य दिखाई देता है, परन्तु मूलतः दोनों एक ही है कारण, पहले प्रकार के विचारकों ने निबन्ध को मुक्त मन की मौज मानकर ही उसके अनुभूतिपक्ष पर विचार किया है और उसके कलात्मकपक्ष का त्याग कर दिया है। दूसरे प्रकार के विचारकों के दोनों ही पक्षों पर समान रूप से विचार किया है।

हालवर्ड (Hallword) **और हिल** (Hill) ने निबन्ध के स्वरूप को भली प्रकार से स्पष्ट किया है। लिखते है—

"The essay proper or the literary essay is not merely a short analysis of a subject, nor a mere epitone, but, rather a picture of wandering minds affected for the moment by the subject with which he dealing Its most distinctive feature is the egoistical element."

साहित्यिक निबन्ध किसी विषय का कोई संक्षिप्त रूप ही नही होता, अपितु उसे हम लेखक के मस्तिष्क से उत्पन्न वस्तु-विशेष के प्रति उद्भूत प्रतिक्रियात्मक चित्र की अभिव्यक्ति कह सकते है। इसकी सबके प्रमुख विशेषता वैयक्तिकता अथवा अहं की भावना का प्रकाशन है।

निबन्ध की विशेषताएँ—निबन्ध के इस स्वरूप के आधार पर निबन्ध की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। संक्षेप मे, ये विशेषताएँ इस प्रकार है:

(१) निबन्ध लघु आकार की एक ऐसी रचना होती है जिसे सरलता से पढा तथा समझा जा सके। किसी भी अवकाश के समय इसको सामान्य रूप से मनोरंजनार्थ पढ़ा जा सके।

(२) इसमे किसी सिद्धान्त-विशेष का परिचय देने की अपेक्षा सामान्य वातों को हल्के-फुल्के तथा रोचक ढंग से प्रस्तुन किया जाता है। सिद्धान्त-प्रतिपादन से इसकी रोचकता के नष्ट होने का भय रहता है:

(३) निबन्ध मे एक साथ अनेक भावो को अभिव्यक्ति न हाकर एक ही विपय, विचार या अनुभूति का वर्णन होता है और इसलिए उसमे सर्वत्र एकात्मकता तथा अन्विति पायी जाती है।

(४) निबन्ध में कलात्मक स्पर्श भी होता है। यह स्पर्शता आन्तरिक और

and yet making them for the moment interesting by the charm of speakers manners."

अर्थात् निबन्ध एक नितान्त स्वीकारात्मक रचना-शैली है, जिसमे लेखक पाठक को अपने विश्वास का पात्र बनाकर इस प्रकार वार्तालाप करता है, मानो वह एक श्रोता हो वह सामान्य तत्त्वों के सम्वन्ध में भी इस प्रकार बातें करता है जैसे कि वे ही महत्वपूर्ण एवं सुरुचिपूर्ण हो। वह उसमे वक्ता के मनोभावों को भी रोचकता के साथ प्रतिष्ठित करता है।

परन्तु श्रोता के मनोभावों का ध्यान तथा वक्ता के मनोभावो पर ध्यान देना ही वैयक्तिक स्तर का बोध करता है। **ए० जी० गार्डनर** ने तो स्पष्ट ही निबन्ध की वैयक्तिकता पर बल देते हुए लिखा है :

"It is not so much that you have something you want to say as that you must say something. And after all what dose the subject matter. And peg will do to hang your hat on. That hat is the king."

इसका अभिप्राय यही है कि निबन्ध में वह नही होता जो श्रोता कहना चाहता है, वरन् वह होता है जो लेखक कहना चाहता है। स्पष्ट ही, इस तरह गार्डनर ने निबन्धों मे वैयक्तिकता पर विशेप बल दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—ने भी निबन्ध को लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब ही कहा है। उन्होने लिखा है कि—

"आधुनिक लक्षणो के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व, अर्थात् व्यक्तिगत विशेषताएँ हों। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाए या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाए।'

इन सब परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि वैयक्तिक निबन्धो मे लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता होती है और जिस विषय का प्रतिपादन किया जाता है, वह लेखक की मान्यताओं तथा दृष्टिकोणों आदि से अभिप्रेरित होता है। यद्यपि इसमे भी लेखक का उद्देश्य वही होता है, जो विषयप्रधान निबन्धों में होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन निबन्धों पर लेखक का पूर्ण अनुशासन होता है ओर वह स्थान-स्थान पर अपने मन्तव्य का प्रकाशन करता

पत्ति और (३) उपसंहार। इसमे आकार की दृष्टि से उपपत्ति सबसे बड़ा होता है। इसे विषय-प्रतिपादन भी कह सकते है। पर सबसे महत्त्वपूर्ण (कलात्मक दृष्टि से) उपसंहार होता है। विषय प्रतिपादन में यदि कुछ शिथिलता रह जाए तो वह छिप भी जाती है, पर प्रस्तावना तथा उपसंहार की शिथिलता अक्षम्य है।

यदि निबन्ध का आरम्भ ठीक हो जाए तो निबन्ध का पूरा करना सरल हो जाता है, कहा गया है—Well begun, half done। यह प्रस्तावना ऐसी होनी चाहिए कि वह पाठक का ध्यान तुरन्त अपनी ओर आकृष्ट कर ले कौतुहलता की जाग्रति भी इसका विशेष गुण है और इसके लिए निबन्धकार किसी समस्या अथवा मनोवृत्ति का उद्घाटन करके पाठको की उत्सुकता जाग्रत करता है। विषय-प्रतिपादन भी सरल, सुगठित तथा सुविन्यस्त होना आवश्यक है। इसी प्रकार उपसंहार भी रोचक तथा सँवारने वाला होना चाहिए।

इन तीनों अंगो के रोचक व सुन्दर होने से ही निबन्ध को पूर्णता प्राप्त होती है। संक्षेप में, इन्ही से निबन्ध का स्वरूप निखरता है।

प्रश्न ५६—निबन्ध के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिए तथा इन तत्त्वों के आधारों का भी वर्णन कीजिए।

पाश्चात्य तथा आधुनिक हिन्दी निबन्धकारो ने निबन्ध की जो परिभाषाएँ दी है, उनके अनुसार निबन्ध के तत्त्व अनेक हो सकते है। निबन्ध के ये तत्त्व वे हैं जिनके बिना उसका कलेवर बन ही नही सकता। इन्ही तत्त्वो से उसे मूर्तता प्राप्त होती है। अतः इनका विवेचन करना भी यहाँ आवश्यक है।

निबन्ध के तत्त्वों का हम निम्नलिखित आधार पर वर्णन कर सकते है—

(१) अंगो के आधार पर,

(२) व्यक्तित्व के आधार पर, और

(३) अभिव्यक्ति के आधार पर।

अब हम संक्षेप में इनका विवेचन-विश्लेषण करेगे।

(१) **अंगों के आधार पर तत्त्वों का विवेचन**—निबन्ध के मूलतः दो पक्ष होते है—भावपक्ष तथा कलापक्ष। इन दोनों पक्षों का समन्वव होने पर ही निबन्ध जो स्वरूप ग्रहण करता है, वह एक विशिष्ट आकार का होता है। निबन्ध का यह विशिष्ट आकार तीन तत्त्वों मे निर्मित होता है, जिन्हें निबन्ध

पहले जिन भावों की उत्पत्ति होती है, उनका बुद्धि द्वारा मनन किया जाता है और इसी से निबन्ध में व्यक्तित्व की प्रधानता दिखाई देती है। निबन्धकार वर्ण्य विषय को अपनी बुद्धि द्वारा चिन्तन-मनन करके सुनियोजित स्वरूप प्रदान करता है। तदुपरान्त तर्क आदि का सहारा लेकर उसे शृंखलाबद्ध करता है।

सौन्दर्य-तत्त्व—निबन्धों का अनुभूति के आधार पर तीसरा तत्त्व सौन्दर्य-नुभूति है। निबन्धकार अपनी बुद्धि तथा कल्पना से वर्ण्य-विषय में ऐसी रोच-कता तथा सुन्दरता उत्पन्न कर देता है कि वह सभी को ग्राह्य होने लगता है। सामान्य विषय भी निबन्धकार की सौन्दर्यानुभूति के कारण सुन्दर तथा सर्वग्राह्य हो जाता है। वह सौन्दर्य दो प्रकार का होता है—(१) आन्तरिक सौन्दर्य (Grace), और (२) बाह्य-सौन्दर्य (Beauty)। आन्तरिक सौन्दर्य का सम्बन्ध आनन्द से है और बाह्य-सौन्दर्य का सम्बन्ध अभिव्यक्ति तथा कला-पक्ष से। निबन्ध में प्रयुक्त भाव इस प्रकार से हों जो पाठक को स्वतः अपनी ओर आकृष्ट कर लें। निबन्ध का परमावश्यक गुण आकर्षण (Charm) है। इसके बिना निबन्ध मे सरलता, प्रभाव आदि का सर्जन नही हो सकता। संगीतात्मकता (Music) को भी सौन्दर्यानुभूति का तत्त्व माना गया है और इसका भी समावेश निबन्ध में होना चाहिए।

(३) **अभिव्यक्ति के आधार पर तत्त्वों का विवेचन**—निबन्ध के लिए जितनी आवश्यक अनुभूति है, उतनी ही आवश्यक अभिव्यक्ति भी है। कारण कोई भी निबन्ध, चाहे उसके भाव कितने ही सुन्दर, पुष्ट एवं सुविन्यस्त क्यों न हों, तब तक स्वरूप ग्रहण नही कर सकता, जब तक उसकी अभिव्यक्ति न हो। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि निबन्ध मे भाव यदि आत्मा है तो अभिव्यक्ति उसका शरीर। यह अभिव्यक्ति भी अनेक तत्त्वो से स्वरूप ग्रहण करती है। इसमे से चार तत्त्व प्रमुख है—(क) भाषा-शैली, (ख) अलंकार (ग) ध्वन्यात्मकता, और (घ) औचित्य।

अभिव्यक्ति का प्रमुख तत्त्व भाषा-शैली है। निबन्ध जिस भाषा मे लिखा जाए, उस भाषा का निबन्धकार को पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। भाषा सरल, सुष्ठ तथा वाक्य-विन्यास सरल और प्रवाहमय होना चाहिए। शब्द ऐसे न हों जो क्लिष्ट हों अथवा अप्रलिचित हो वाक्य समास प्रधान होने की अपेक्षा व्यास-प्रधान ही होने चाहिए।

उसके दोष बतलाकर उस पक्ष का खंडन करके अपने पक्ष की स्थापना करता है अपना पक्ष चाहे कुछ भी क्यों न हो, किन्तु अच्छा निबन्धकार अपने विरोधी पक्ष की अवहेलना नहीं करता। यदि विरोधी पक्ष में कुछ जोरदार उक्तियाँ है, तो वह उन्हें उतने ही जोर के साथ प्रस्तुत करता है, जितने जोर के साथ अपने पक्ष को। उसके बाद वह उन उक्तियों का बुद्धिसंगत तर्क द्वारा खण्डन करता है। यदि वह उन उक्तियो का खण्डन न कर सके तो उनका विरोध करना उचित नही कहा जा सकता।

अनेक बार विचारात्मक निबन्धो में भी किसी एक ही सिद्धान्त अथवा ग्रन्थ के गुण-दोषो का स्पष्टीकरण और व्याख्या रहती है। इस प्रकार के निबन्धों में निबन्धकार प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध मे अपने विचारों को क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत करता चला जाता है। इन विचारो का सुव्यस्थित और परस्पर संगत होना अत्यावश्यक है। यदि ये दो गुण निबन्ध में न होंगे तो वह निबन्ध शब्दजाल मात्र बनकर रह जायेगा।

(४) **भावात्मक निबन्ध**—भावात्मक निबन्ध विचारों से प्रेरित नही होते अपितु भावनाओं से प्रेरित होते है। इस प्रकार के निबन्धों की गणना गद्य-काव्य के अन्तर्गत की जाती है। भावात्मक निबन्धों मे लेखक अपने हृदय को खुली छूट देता है और प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क प्रस्तुत न करके पाठक के मन को प्रसन्न करने के लिए कोमल भावनाओं का आश्रय लेता है। इस प्रकार कई बार किसी प्रसंग-विशेष में पाठक के मन मे घृणा या रोष कोजाग्रत करने के लिए भावनाओं का अवलम्बन लिया जाता है। भावात्मक निबन्धो मे प्रायः गम्भीरता का अभाव रहता है, किन्तु प्रभावोत्पादकता की कमी उनमे नही होती। प्रायः इस प्रकार के निबन्धो का मूल्य सामयिक होता है। किसी काल-विशेष के लोगो को वे निबन्ध बहुत प्रभावित करते है, परन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका प्रभाव क्षीण हा जाता है। विचारात्मक निवन्धों में प्रायः ऐसा नही होता। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा काव्यात्मक होती है और उसमें साहित्यिकता का पूर्ण समावेश होता है। काव्यात्मक शैली होने से लम्बे-लम्बे वाक्य होते है। वास्तव में ये मानव-मनोभावों की ही अभिव्यक्ति करते है। भावात्मक निबन्धों मे प्रायः धारा, तरंग या विक्षेप शैली का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त निबन्धो का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते है :

अथवा

कहा जाता है कि "उपन्यास का सीधा सम्बन्ध मानव-चरित्र की विविधता से है, अतः उपन्यास को समस्त वादों से पृथक् रहकर मानव-चरित्र पर ही केन्द्रित रहना चाहिए।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ? स्पष्ट करें।

उपन्यास शब्द अंग्रेजी की साहित्य-विधा 'नावेल' (Novel) का पर्याय-वाची है अंग्रेजी मे नावेल का अर्थ है—नया। फ्रांस मे इसके लिए 'नोवास' शब्द का प्रयोग होता था, जिसका अर्थ होता है यथार्थ चित्रण। इटली मे 'नोविले' शब्द का प्रयोग होता है। कई विद्वानों का मत है कि यह शब्द फ्रास से नहीं इटली से आया है, पर हिन्दी में यह मूलतः अंग्रेजी साहित्य से आया है और इसीलिए इसे **फिक्सन** (Fiction) भी कहा जाता है; क्योकि अंग्रेजी में इसे पहले फिक्सन कहा जाता था। इसका अर्थ 'गल्प' होता है, जो जीवन की रंगीनियों से सम्बद्ध हो तथा यथार्थ से असम्बद्ध हो। इस प्रकार अनेक विद्वान् इसे 'रोमांस' भी कहते है। रोमास असम्भव और दुर्लभ कल्पनाओं को ग्रहण करता है। उपन्यास और रोमांस मे अन्तर भी है; क्योकि, उपन्यास सम्भव और सुलभ कल्पना को ग्रहण करता है। इसीलिए **क्लारा रीव** ने लिखा है, "उपन्यास अपने युग का चित्रण करता है। रोमांस उदात्त भाषा मे उसका वर्णन करता है, जो न घटित है और न घट्यमान। उपन्यास दैनिक जीवन मे घटित होने वाली घटनाओ का वर्णन करता है, जिनका हममे और हमारे मित्रो के जीवन मे घटित होना सम्भव हो।"

अतः कहा जा सकता है कि उपन्यास एक स्वतन्त्र विधा है, यह एक नवीन रूप है—भले ही इसे विकास यूनानी गद्य-कथाओं, मध्ययुगीन गद्य-रोमांसों तथा वीराख्यानों से मिला हो।

उपन्यास की परिभाषा—उपन्यास मानव-जीवन का कल्पनापरक यथार्थ चित्रण है; फिर भी, विद्वानों ने इसकी अनेक रूपो मे परिभाषाएँ दी है। **'न्यू इंगलिश डिक्शनरी'** में उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"वृहत् आकार गद्याख्यान या वृत्तान्त, जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यो को कथानक मे चित्रित किया जाता है, को उपन्यास कहते है।"

क्रोस के अनुसार, "उपन्यास से अभिप्राय उस गद्यमय गल्पकथा से है, जिसमे वास्तविक जीवन का **यथार्थ** चित्रण रहता है।"

विचार रखे। एक समीक्षक की तरह उपन्यासकार भी युगनिर्माता होता है और मानव-जीवन का व्याख्याता होने के कारण उसमें मानवीय अनुभूतियों का विशदता से वर्णन होता है । उपन्यासकार जब मानव-जीवन की सफलता और असफलता, अन्तर्वेगो, सुख-दुःख आदि का वर्णन करता है तो यह बडा दुष्कर है कि वह उनमें लिप्त न हो। यही कारण है कि वह वर्तमान समस्याओं के प्रति भी प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः अपना मत व्यक्त करता है। वह पात्रों और कथानक की घटनाओ के द्वारा अपने विचार तथा धारणाएँ भी व्यक्त करता है।

जीवन की यह व्याख्या उपन्यासकार दो प्रकार से करता है—प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत टिप्पणियों और मत प्रतिपादन द्वारा, और दूसरे पात्रों के संवादों के द्वारा। इनमें से दूसरी विधि अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर मानी गयी है। उपन्यास में वर्णित जीवन-दर्शन की परीक्ष दो आधारों पर हो सकती है—(१) वह सत्य के कितना निकट है, और (२) उसमें नीति तत्त्व किस सीमा तक विद्यमान है । उपन्यास का सत्य तथ्यो पर आधारित भले ही न हो पर सार्वभौम मानवता पर अवश्य आधृत होता है।

यही कारण है कि शक्ति का साहित्य (Literature of power) ज्ञान के साहित्य (Literature of knowledge) की अपेक्षा श्रेष्ठ और स्थायी होता है। इसी से यह उपन्यासकार का दायित्व है कि वह जीवन और उसकी समस्याओं के विषय में सोचे तथा उनके औचित्यपूर्ण समाधान दे। इसीलिए उसे दलबन्दी तथा मतवादों से पृथक् रहकर अपनी दृष्टि को मानव चरित्र तक ही केन्द्रित रखना चाहिए।

उपन्यासों का वर्गीकरण—वर्तमान युग में उपन्यासों के बहुविध विकास के साथ-साथ उनके वर्गीकरण की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। वर्गीकरण का आधार प्रायः उपन्यास की विषय-वस्तु, उसके तत्त्वो में किसी एक तत्त्व की प्रधानता और रचना-शैली या शैली का रचना-विधान पक्ष रहा करता है और इस दृष्टि से उपन्यासों को भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। यहाँ हम उपन्यासों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर करेंगे।

विषय-वस्तु के आधार पर वर्गीकरण—विषय वस्तु की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण नितान्त स्थूल है। इसका आधार यह है कि उपन्यास की

है 'दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'वेश्यापुत्र' 'दुराचार के अड्डे' आदि उपन्यासों की गणना इसी वर्ग में की जाएगी।

(६) **आंचलिक उपन्यास**—आंचलिक उपन्यास किन्ही विशेष अंचलों की पृष्ठभूमि मे लिखे जाते है और इसीलिए ये आंचलिक उपन्यास कहे जाते है। फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल और 'परती परिकथा' इस प्रकार के उपन्यासों में अग्रणी हैं।

आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यास—जिन उपन्यासों मे किसी प्रदेश-विशेष का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है, उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। आँचलिक उपन्यास में पात्रों का चरित्र वास्तविकता की धरती पर खडा दिखाई देता है, इसका कारण है उसकी तत्कालीन परिस्थितियो का समग्र चित्रण। आंचलिक उपन्यास ऐतिहासिक भी होते है, इस कथन से हम सहमत नही है। वास्तव मे आंचलिक उपन्यास सामाजिक तो कहे जा सकते है, परन्तु ऐतिहासिक कदापि नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास में अपने समय के जन-जीवन का समग्र चित्रण तो किया जा सकता है, परन्तु उनकी यथार्थ पुस्तकीय ज्ञान पर ही आधारित होती है, स्वानुभव पर नही। फिर तत्कालीन समाज की मान्यताओ का पात्रों के चरित्र-विकास के माध्यम से ही अंकन सम्भव है जिनका परिचय भी उन्हें इतिहास के पृष्ठों में मिलता है। आंचलिक उपन्यास का प्रणेता अंचल विशेष की संस्कृति का आँखों देखा चित्रण करता है, उसमे यथार्थ की स्थिति महत्व-पूर्ण और विश्वसनीय रहती है। इन्ही कतिपय आधारों पर हम ऐतिहासिक उपन्यासो को आंचलिक उपन्यासों से पृथक् करते है।

उपन्यासों का तत्त्वों के आधार पर वर्गीकरण—कथावस्तु, पात्र, संवाद, वातावरण भाषा-शैली और उद्देश्य—उपन्यास के तत्त्व है। उपन्यास मे इनमें से किसी एक की विशेष रूप से प्रधानता के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है। इस दृष्टि से केवल दो भेद विशेष महत्वपूर्ण है :

(१) **घटना-प्रधान उपन्यास**—घटना प्रधान उपन्यासो मे कथातत्व की प्रधानता रहती है और पात्रों के माध्यम से कथा का विकास तथा उसमें रोचकता उत्पन्न करना उपन्यासकार का लक्ष्य है। इसमे घटनाओं की प्रधानता होती है और पात्रों की गौणता रहती है। चरित्र-चित्रण पर लेखक विशेष ध्यान नही देता। ऐतिहासिक उपन्यास तथा मनोरंजन-प्रधान काल्पनिक

प्रश्न ५९—"उपन्यास के एक ओर जीवनी और दूसरी ओर कविता है।" साहित्यालोचनकार के इस कथन का मर्म समझाकर लिखिए।

उपन्यास साहित्य की एक अपेक्षतया नई विधा है; फिर भी, आधुनिक युग में उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा बन गया है। इसका मूल कारण यही है कि उपन्यास में मनुष्य अपनी पूरी समग्रता और पूर्णता के साथ समा सकता है। वह समाज के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण और भूले-बिसरे अङ्गो का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकता है। उसका आयाम इतना अधिक विस्तृत होता है कि उसमे जीवन अथवा जीवन का कोई अंश सहज ही अवतरित हो जाता है। एक विद्वान् के शब्दों मे, "मनुष्य अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेश के साथ उपन्यास में ही अवतरित हो सकता है। उसके समस्त उलझे हुए सूत्र फैले हुए सीमान्त और गहराई के आयाम यहाँ सफलतापूर्वक त्रित्रित हो जाते हैं।.... अपने लचीले स्वरूप और विस्तृत चित्रफलक के कारण वह किसी भी युग की प्रवृतियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। उसमें एक व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन भी आ सकता है और कुछ घण्टो की कहानी भी, पूरा समाज भी उसकी परिधि मे आ सकता है और कथा का नितान्त अभाव भी हो सकता है।"

उपन्यास जीवन की कहानी है और इस प्रकार वह प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः जीवन के निकट आ जाता है। जीवनी मे उपन्यास की भाँति ही व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आ सकता है। साहित्य की कोई भी विधा हो, उपन्यास हो अथवा जीवन, नाटक हो अथवा काव्य सभी का केन्द्र मनुष्य और उसका जीवन होता है। उपन्यास और जीवनी के बीच साम्य का भाव अधिक है, वैभिन्न्य का कम। दोनों ही मनुष्य के जीवन का चित्रण करते है, व्यक्ति के चरित्र की बारीकियों का उद्घाटन करते है और उसे एक कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते है। अन्तर केवल यही होता है कि उपन्यास में कल्पना का भी प्रयोग किया जाता है जबकि जीवनी का आधार तथ्यात्मकता होती है। जीवनी के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते हैं "जीवनी व्यक्ति को अध्ययन का विषय बनाकर, उसके सम्बन्ध मे अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर, उसके सर्वांगीण अन्तर्बाह्य जीवन का वर्णन करती है। वह व्यक्ति के गुण-दोष महानताएँ—सभी की जानकारी देती है। जीवनी-

हो सकते है और सभी पात्रों के चारित्रिक विश्लेषण का दायित्व एक मात्र उसी पर होता है। तथापि, इस कारण जीवनी और उपन्यास मे कोई तात्विक अन्तर नही आता क्योकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का चित्रण तो दोनों ही करते है, यह बात दूसरी है कि जीवनीकार को केवल एक व्यक्ति का और उपन्यास को कई व्यक्तियों का चरित्रांकन करना होता है। इस विवेचन से यह अत्यन्त स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के चरित्र-विश्लेषण के आधार पर उपन्यास और जीवनी मे अत्यधिक साम्यभाव है।

इस प्रसंग मे दूसरा विचारणीय प्रश्न है कि उपन्यास और कविता मे क्या साम्य हो सकता है अथवा है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपन्यास और काव्य दोनों ही साहित्य की दो पृथक् विधाएँ है और इन दोनो विधओ मे निश्चय ही अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ विद्यमान है कि जो कि दोनो का अलग-अलग अस्तित्व सिद्ध करती है। रूपगत दृष्टि से और साथ ही भापा-शैली की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक विधाओं का अन्त स्वतः स्पष्ट है। उपन्यासकार अपने उपन्यास मे जोवन का चित्र तैयार करता है और "अपनी कृति में स्त्री-पुरुष, उसके सम्बन्धो, और विचारो, भावनाओ, अन्तर्वेगो, सुख-दुख, संघर्ष, सफलता-असफलता आदि का चित्रण करता है ,… उसका कार्य तो केवल जीवन को उसके विविध पक्षो मे प्रस्तुत करना है, चित्रण द्वारा उसकी व्याख्या करना है तथा कथानकंयोजना द्वारा ही अपना दृष्टिकोण इनके हाथों रख देना है।" यदि इसी दृष्टि से काव्य का विवेचन किया जाए तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि काव्य भी यही सब कुछ करता है, वह भी जीवन का चित्रण तैयार करता है और उस चित्र मे विभिन्न प्रकार के मानवीय भावों, विचारो, अन्तर्वेगों आदि के रंग भरता है, मनुष्य के लिए लोकमंगलकारी विचारधारा को जन्म देता है। कविता का आनन्द, उपन्यास आनन्द से बहुत भिन्न नही होता। कविता के अध्ययन से पाठक को जो आह्लाद प्राप्त होता है, उपन्यास भी उससे मिलती-जुलती आह्लादप्रद स्थिति उत्पन्न कर देता है। काव्य के प्रयोजनो की चर्चा करते हुए अंग्रेजी के महान् आलोचक **मैथ्यू आर्नाल्ड** कहते है—"साहित्य का आदर्श तथा कसौटी लोकमंगल होना चाहिए, काव्य का प्रयोजन आनन्द न होकर मानव का आत्मविकास और समाज का उत्थान होना चाहिए।" उनका मत था—"कवि की महानता इस बात मे नही है कि उसने कला की दृष्टि से कितना सुन्दर काव्य रचा है,

काव्य और उपन्यास दोनो ही जीवन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते है। उपन्यास में वर्णित जीवन-दर्शन की परख की दूसरी कसौटी नैतिकता होती है जिसका आशय इस बात से है कि उपन्यास में नैतिक मूल्यों की कहाँ तक प्रतिष्ठा हो सकी है। काव्य का भी एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यही नैतिकता है। जो काव्य जीवन को ऊँचा उठा पाता अथवा जो ऐसा लक्ष्य लेकर नही चलता, उसकी उपादेयता संदिग्ध है। केवल मनोरंजन के लिए रचित काव्य अथवा उपन्यास स्तुत्य नही कहला सकते। इस प्रकार उपन्यास मे एक ओर तो किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की कथा होती है, उनके विविध कार्य-व्यापारों का चित्र होता है और दूसरी ओर वह काव्य से प्राप्य साहित्यिक आनन्द जैसा आनन्द भी प्रदान करता है। जहाँ व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की कथाएँ उपन्यास को जीवनी के निकट लाती है, वहाँ लोकमंगल, नैतिक और सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से उपन्यास काव्य के भी बहुत अधिक निकट आ जाता है। अतः यह कथत सर्वथा उचित है कि उपन्यास के एक ओर जीवन और दूसरी ओर कविता है।

प्रश्न ६०—उपन्यास-रचना के आधार पर उपन्यास के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

उपन्यास के आधुनिक रूप का विकास सबसे पहले पाश्चात्य देशो में ही हुआ था। अतएव उसके तत्त्वो पर भी पाश्चात्य विचारकों ने ही कुछ अधिक शास्त्रीय और स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श किया है। अंग्रेज आलोचक **हेनरी हडहन** का मत इस दृष्टि से बहुत स्पष्ट है। उन्होंने उपन्यास के तत्वों का वर्णन करते हुए लिखा है, "सभी प्रकार की कथातमक रचना के प्रमुख तत्व कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति है।" **हेनरी हडसन** का यह मत सभी पाश्चात्य और भारतीय आचार्यो को मान्य रहा है। उसी को आधार मानकर हम यहाँ पर क्रमशः इनकी विवेचना करेंगे।

कथावस्तु—उपन्यास का कथाश और उसका विन्यास कथावस्तु के अन्तर्गत आता है। यह उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। और इसके बिना उपन्यास की रचना ही सम्भव नही है। यह उपन्यास का ढाँचा अथवा उसका शरीर है। जिस प्रकार शरीर की कुछ विशेषताएँ और गुण होते है, उसी प्रकार उपन्यास की कथावस्तु के भी कुछ गुण और विशेषताएँ होती है।

इन पद्धतियों के सम्बन्ध में एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रायः इनके मिले-जुले रूप का ही प्रयोग उपन्यास में होता है। कभी-कभी किसी एक पद्धति की भी प्रधानता रहती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—उपन्यास मे कथा का विकास कुछ पात्रों के माध्यम से होता है। कथानक का कोई अर्थ नही हो सकता, यदि उसमें कोई पात्र न हो। उपन्यासकार अपने उपन्यास मे पात्रों की सृष्टि करता है और उसके साथ ही साथ उनके चरित्र-चित्रण द्वारा मानव-जीवन का चित्रण करता है। जिस प्रकार जीवन में मनुष्य अपने क्रिया-कलापों से जाना जाता है, उसी प्रकार उपन्यास मे पात्र को उनके कार्यो से जाना जाता है। पात्रो की सृष्टि का अर्थ है—एक जगत् का निर्माण, जिसमें कुछ मानव-प्राणी हों। एक प्रकार से पात्र जीवन की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन है—उपन्यास के प्रतिपाद्य का एकमात्र माध्यम।

उपन्यास मे पात्रों के चरित्र-चित्रण की सफलता के लिए उनमे कुछ गुणों की आवश्यकता है। ये गुण है—पात्र का कथानक के अनुकूल चरित्र-चित्रण, स्वाभाविकता, सजीवता, सप्राणता और मौलिकता। उपन्यास का कथानक जिस प्रकार का हो, उसी प्रकार का उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि पात्र कथा के अनुकूल हों और उपन्यासकार को पात्रों की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान हो। इसके साथ ही, उपन्यास के पात्रों में प्राणवत्ता और स्वाभाविकता तो होनी ही चाहिए।

उपन्यासकार को पात्रो के चरित्र का सम्यक् उद्घाटन करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उपन्यासकार को मानव-प्रकृति का विस्तृत और व्यापक ज्ञान हो—मनोविज्ञान की आवश्यकता तो मूलत. है ही।

चरित्र-चित्रण मे उपन्यासकार को व्यक्तित्व की प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए। कभी-कभी पात्र उपन्यासकार के हाथों से कठपुतली-सा घूमता है—उसकी अपनी सत्ता नही रहती। इससे कृत्रिमता आती है। उपन्यासकार को पात्रों के चरित्र-चित्रण मे तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। उसके पात्र उसके अपने दृष्टिकोण के परिचायक तो हो सकते है, परन्तु वे लेखक के सिद्धान्त के पुतले न होकर हमारे जैसे सजीव, प्रमाण, स्वाभाविक, हाड़मांस के मानव हो, यह कही अधिक आवश्यक है। उपन्यास मे चरित्र-चित्रण की अग्रलिखित विधियाँ स्वीकार की गयी है—

लेखक बाह्य प्रकृति को भी ग्रहण करता है। इस प्रकार बाह्य प्रकृति, पात्रो की परिस्थितियों और आन्तरिक अवस्था तथा समाज के जीवन का चित्रण उपन्यास में वातावरण या देशकाल की योजना के नाम से अभिहित किया जाता है। वातावरण के निम्नलिखित प्रमुख उपादानो का विचार, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उपन्यास के सम्बन्ध में किया जाता है :

(क) परिस्थिति-योज़ना—पात्रो की बाह्य परिस्थितियों का चित्रण।

(ख) आन्तरिक वातावरण—पात्रों की आन्तरिक स्थितियों का परिचय।

(ग) स्थानीय वातावरण (लोकल कलर) और स्थान-निरूपण।

(घ) उपन्यास की विषय-वस्तु से सम्बन्धित देशकाल का चित्रण।

(ङ) प्रकृति-वर्णन (बाह्य प्रकृति का चित्रण)।

देशकाल और वातावरण के इन उपादानों को मिलाकर **'परिवेश-मण्डल'** कहा जाता है।

शैली—उपन्यास को उसकी शैली ही रोचक बनाती है। उत्सुकता, सम्बद्धता जैसे कथानक सम्बन्धी गुण शैली की प्रांजलता और प्रवाहात्मकता के कारण ही जन्म लेते है। **टी० ई० हल्मे** (T. E. Hulme) का कथन है, "All Styles are only means of subduing the reader." अर्थात् शैली कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के साथ ही पाठक को मोहित करने का साधन भी है।" शैली मे विचारो की अभिव्यक्ति के साथ ही क्रम एवं गति का मिश्रण भी रहता है।

सामान्य रूप से उपन्यासों मे निम्नलिखित शैली-प्रकारों का प्रयोग होता है :

(१) **वर्णनात्मक शैली**—इस शैली के उपन्यासों में उपन्यासकार कथा का वर्णन करता है। हिन्दी मे ही नही, विश्व की सभी भाषाओं के उपन्यासो में इस शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।

(२) **आत्मकथात्मक शैली**—इस शैली के उपन्यासो मे कोई एक पुरुष पात्र या नारी पात्र या एकाधिक पुरुष पात्र या नारी पात्र अपनी कथा स्वयं कहते हैं।

(३) **पत्रात्मक शैली**—इस शैली के उपन्यासो मे उपन्यास की कथा को पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है। पत्र एक या अधिक पात्रों के हो सकते है।

उपन्यासों में कुछ-न-कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धान्त आप से आप आ जाते है।"

भिन्न-भिन्न उपन्यासों में लेखक के भिन्न-भिन्न उद्देश्य हो सकते है—जो अन्ततः जीवन के शाश्वत प्रश्नों का उत्तर ही देते है। यों तो किसी समसामयिक समस्या को लेकर भी उपन्यासों की रचना होती है और हो सकती है, परन्तु श्रेष्ठ उपन्यास वे ही कहे जाते हैं जो शाश्वत जीवन-मूल्यों और जीवन प्रश्नों की व्याख्या करे। अपने युग का प्रभाव प्रत्येक उपन्यास ही नहीं, प्रत्येक कलाकृति पर होता है, परन्तु सामयिकता श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी नही है। जन-जीवन और मानव-चरित्र के विश्लेषण के साथ किसी भाव, विचार, सिद्धान्त या जीवन के प्रश्नों के उत्तर की अभिव्यक्ति ही उपन्यास का लक्ष्य है। यह ऐसा दायित्व है जो प्रत्येक उपन्यासकार को निभाना ही पड़ता है; क्योकि, इसी में साहित्य का शिवत्व निहित है।

प्रश्न ६१—भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कहानी की परिभाषाएँ देते हुए उसके स्वरूप का विश्लेषणात्मक निर्देश कीजिए।

कहानी जीवन की एक प्रभावपूर्ण झलक है, रोचक होने के साथ-साथ वह जीवन की चरमानुभूति का संस्पर्श करती है और पाठको को चमत्कृत कर देती है। अतः इसका साहित्य में विशेष स्थान है। कहानी जीवन को एक ऐसे विन्दु पर ग्रहण करती है, जहाँ दृष्टि केन्द्रित करने पर समस्त जीवन-रेखा प्रकाशित हो उठती है।

कहानी की परिभाषाएँ—विभिन्न विद्वानों ने कहानी की विभिन्न रूपों में परिभाषा की है, पर एक बात पर सभी सहमत है कि इसमें कहानीकार की रचना-प्रतिभा का समस्त कौशल केन्द्रित होता है। **हेनरी हडसन** के अनुसार कहानी में केवल एक ही मूलभाव होता है और उसका विकास तार्किक निष्कर्षों के साथ लक्ष्य की एकनिष्ठता से सरल तथा स्वाभाविक गति से किया जाता है।

एच० जी० वेल्स के अनुसार कहानी वह फिक्शन है जो अधिक से अधिक बीस मिनट में पढ़ी जाए—

"Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes would be a short story."

यह परिभाषा बहुत अस्पष्ट है। कहानी की वर्ण्य-वस्तु को दृष्टिगत रखते हुए चैखोव की ने कहानी अग्रलिखित शब्दो में परिभाषा की है—

किसी मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेकक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सव उसी एक भाव की पुष्टि करते है—वह एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप मे दृष्टिगोचर होता है।" साथ ही **मुंशी प्रेमचन्द** श्रेष्ठ कहानी की विशेषता बतलाते हुए लिखते है, "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो।"

इलाचन्द्र जोशी कहानी की परिभाषा करते हुए लिखते है, "जीवन का चक्र नाना परिस्थितियो के संघर्ष से उल्टा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है।"

इसी प्रकार **चंद्रगुप्त विद्यालंकार** का कथन है—"घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी है और साहित्य के सभी अंगों के समान रस इसका आवश्यक गुण है।"

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि अधिकाश विद्वानों ने कहानी का एकपक्षीय चित्रण किया है। वस्तुतः कहानी का समग्ररूप एक साथ-चित्रित हो ही नही सकता। इसलिए उसका स्वरूप कहानी की विशेषताओं के आधार पर भली-भाँति देखा जा सकता।

कहानी का स्वरूप—कहानी के स्वरूप का निदर्शन करने के लिए उसकी विशेपताओं का विश्लेषणात्मक विवेचन आवश्यक है। संक्षेप में कहानी की निम्नलिखित विशेषताएँ स्वीकार की जा सकती है :

(१) **लघु आकार**—कहानी की सर्वप्रथम विशेषता आकार की लघुता है। लघु आकार के कारण कहानी की शिल्प-विधि सरल हो जाती है। यह आकार इतना होना चाहिए कि दस से बीस मिनट के बीच पूरी कहानी पढी जा सके।

(२) **संवेदना की एकता**—कहानी का वर्ण्य-विषय जीवन या जगत् की कोई एक घटना, विचार, परिस्थिति या भावना ही होती है। इसके निर्वाह के लिए संवेदना में एकता अथवा केन्द्रीयता का होना आवश्यक है। यही संवेदना की एकता कहानी का प्राण होती है।

(३) **प्रभावान्विति**—संवेदना की एकता से ही कहानी में प्रभावात्मकता

प्रश्न ६२—कहानी के प्रमुख तत्वों का हिन्दी कहानी-रचना के अनुसार संक्षेप में विवेचन कीजिए।

कहानी का लक्ष्य चाहे कुछ हो—भाव, विचार या वस्तु के प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिए उसमें एक कथा का होना परम आवश्यक है जिसके द्वारा प्रभाव की अभिव्यक्ति की जाती है। इस कथाभाग को कहानी की 'कथावस्तु' कहते है कतिपय आलोचक इसे 'कथानक' कहने के पक्ष में है। कथा का निबन्धन, अर्थात् उसे इस प्रकार सजाना कि इसमे कथांश या इतिपवृत्त तर्क-सम्मत होकर समग्र सम्बन्ध-योजना का ऐसा रूप ग्रहण कर ले जिससे कथानक के भीतर आये हुए प्रभाव—परिणाम के पूर्व उससे सम्बद्ध कार्य और इस कार्य की सिद्धि मे सहायता करने वाले एक या अनेक कारण—सब प्रस्फुटित हो जाऐ, **वस्तु-विन्यास** कहा जाता है। कथानक का विवेचन किन्ही पात्रों के माध्यम से होता है। इन **पात्रों का वर्णन** कभी लेखक स्वयं करता है, और कभी कथाविकास और चरित्र-चित्रण के लिए उनके वार्त्तालाप का सहारा लेता है, जिसे **संवाद या कथोपकथन** कहते है। कहानी मे एक विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि के लिए पात्रो की परिस्थिति, उनकी आन्तरिक मनोदशा, बाह्य परि-स्थितियाँ और प्रकृति व्यापारों का वातावरण तथा कथांश से सम्बन्धित देश-काल का चित्रण भी आवश्यक है। इसे **'वातावरण'** कहा जाता है। कहानी की रचना-शैली और प्रतिपादन की दृष्टि से भाषा भी एक तत्त्व है। प्रत्येक कहानी की रचना में कोई-न-कोई लक्ष्य या उद्देश्य भी अवश्य निहित रहता है। इस प्रकार कहानी के छह तत्त्व हो जाते हैं।

(१) कथावस्तु
(२) पात्र और चरित्र-चित्रण
(३) संवाद
(४) वातावरण
(५) भाषा-शैली
(६) उद्देश्य

यहाँ कहानी के इन छहो तत्त्वों की विवेचना की जा रही है—

कथावस्तु—यह कहानी का सबसे महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्त्व है। कथा-वस्तु के दो भाग किए जा सकते है—एक कथांश और दूसरा उसका विन्यास। कहानी में कथांश प्रायः संक्षिप्त और सरल होना चाहिए। कहीं-कहीं कहानीकारों ने दुहरे कथानकों के प्रयोग भी किए है, पर दुहरा कथानक कहानी के विधान-सौष्ठव में बाधक सिद्ध होता है।

शीर्षक—कहानी का शीर्षक कहानी प्रतिपाद्य विषय, मूलभाव या विचार और कृतिका की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का परिचायक होता है। इसी दृष्टि से शीर्षक के प्रमुख गुण है—प्रतिपाद्य बोधकता, आकर्षण विषयानुकूलता निश्चय बोधकता; साथ ही, शीर्षक से जिस प्रकार के भी तात्पर्य का बोध होता हो, उसका किसी-किसी रूप में कहानी के अंग-विशेष से सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। दूसरे शीर्षक और कहानी के प्रतिपाद्य विषय का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिए। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् **मेकानोची** ने लिखा है—

"Keep the title in its proper proposition to the nature and interest of the story."

पात्र और चरित्र-चित्रण—कहानी में विषय का प्रतिपादन कुछ पात्रों के माध्यम से होता है। कहानीकार को इनके नामकरण और इनके रूप-चित्रण के साथ चरित्र की विशेषताओ का उद्घाटन भी करना होता है। वास्तव में कथावस्तु और चरित्र, कहानी में अन्योन्याश्रित रहते है। इस सम्बन्ध में सोम **ओ फ्राओलोन** नामक पाश्चात्य विद्वान् का यह कथन दृष्टव्य है, "कहानी की रचना-शैली की परिभाषाओं में सबसे सुन्दर परिभाषा यह है कि कहानी के कार्य-व्यापार चरित्रों का उद्घाटन करते है और चरित्र अपने को कार्य-रूप में प्रकट करते है तथा घटताओ को ही कार्य-व्यापार कहा जाता है।

कहानी में चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, यथार्थ और वास्तविक होना चाहिए। यदि कहानी की प्रेरणा का स्रोत कोई विशिष्ट घटना अथवा वातावरण होता है, तो मानव-चित्रण गौण रूप धारण कर लेता है; फिर भी, उस घटना अथवा वातावरण की मुखर करने के लिए अथवा उसे प्राणमय वनाने के लिए उसके भीतर मानव की प्रतिष्ठा तो करनी ही होती है। यह मानव हमारे जीवन का, हम जैसा प्राणी होना चाहिए। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि प्रत्येक पात्र या चरित्र मे कोई-न-कोई आकर्षण एवं प्रकाश का एक बिन्दु अवश्य रहता है। कहानीकार उस प्रकाश-बिन्दु को ग्रहण करता है। इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा गया है, "**कहानी जीवन को एक ऐसे बिन्दु पर ग्रहण करती है, जहाँ दृष्टि केन्द्रित करने पर समस्त जीवन-रेखा प्रकाशित हो उठती है।**"

कहानी मे चरित्र-चित्रण के अनेक साधन अपनाए जाते है; जैसे—

अधिक निकट है। इसलिए कहानी की भाषा-शैली सरस, रोचक और स्वाभाविक होनी चाहिए। वातावरण की अनुकूलता का ध्यान रखना तो आवश्यक ही है। कहानी की भाषा ऐसी हो जो वस्तु, पात्र और चरित्र तथा कहानी के लक्ष्य को भली प्रकार अभिव्यक्त कर सके। सजीवता और व्यावहारिकता उसका सबसे बड़ा गुण है। कहानियों की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग तथा शब्दों की उपयुक्त योजना भी ध्यान देने योग्य है।

कहानी के शैली-तत्त्व के अन्तर्गत इस बात का विचार भी किया जाता है कि कहानी किस प्रकार कही गई है या उसकी अभिव्यक्ति-शैली या रचना-विधान किस प्रकार का है। इस दृष्टि से कहानी की निम्नलिखित शैलियाँ मानी जाती है—

(१) आत्मकथात्मक शैली (२) कथात्मक शैली
(३) संवादात्मक शैली (४) पत्रात्मक शैली
(५) डायरी शैली (६) मिश्रित शैली

उद्देश्य—कहानी का उद्देश्य क्या है, इसका प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। आज की कहानी एक सजग साहित्यिक विधा है। इसलिए केवल मनोरंजन ही उसका उद्देश्य नही हो सकता। कहानी जीवन सत्यो का मार्मिक उदघाटन करती है चरित्रों पर प्रकाश डालती है और साथ ही आज के मानव-मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है। व्यंग्य द्वारा समस्याओ पर प्रकाश डालती है और शिवत्व का विधान करती है। पाश्चात्य आलोचक **सोम ओ फाओलेन** के शब्दों में कहानी का उद्देश्य इस प्रकार है—"यदि किसी कहानी मे मानव-प्रकृति और चरित्र, मानव-मूल्यों, मनुष्य-मनुष्य के शाश्वत सम्बन्धो, भावों और अनुभूतियो तथा उनके विविध रूपों की व्याख्या नही की गई है तो उसे आधुनिक अर्थ मे कहानी नही कहा जा सकता। अतएव मानव-चरित्र का विश्लेषण निश्चितत: कहानी के उद्देश्य का लक्ष्य स्वीकार किया जा सकता है। विभिन्न कहानियो मे यह उद्देश्य विभिन्न रूपो में देखने को मिलेगा तब भी उसकी एकता इस बात में है कि कहानी का लक्ष्य मानव-मान के विश्लेषण द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना है यह उद्देश्य जिस कहानी मे पूरा हो वह उत्कृष्ट कोटि की कहानी है।

प्रश्न ६३—उपन्यास और कहानी के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

फिर भी, दृष्टि-भेद से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर निम्नलिखित है :

(१) कहानी में कहानीकार जीवन के किसी एक रूप अथवा एक पहलू को चित्रित करता है, उसकी दृष्टि किसी एक लक्ष्य पर ही होती है जबकि उपन्यास में सम्पूर्ण जीवत की सामान्य विशेषताओं को ध्यान मे रखा जाता है। हेनरी हडसन का कथन है कि कहानी में किसी एक विचार की प्रधानता होती है; जबकि उपन्यास में विचारों की विविधता तथा व्यापकता भी होती है। कहानी में जीवन की पूर्णता देखने का प्रयास नहीं होता, वह जीवन या जगत् के किसी विशिष्ट सत्य अथवा रहस्य का ही उद्घाटन करती है, पर उपन्यास जीवन की सम्पूर्णता का विवेचन करता है । यद्यपि सम्पूर्ण जीवन का समग्र चित्र भी, विविधता के कारण, एक ही उपन्यास में नहीं आ सकता तदपि एक ही पक्ष का सम्पूर्ण विवेचन उसमें पूर्ण होता है। इसीलिए **हेनरी हडसन** ने लिखा है—"कहानी में हम पात्रों से केवल कुछ क्षण के लिए ही मिलते है। उन्हें कुछ ही सम्बन्धों और परिस्थितियो मे देखते है, किन्तु उपन्यास इससे भिन्न है। इसमें पात्रो के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी मिलती है।"

इसी तथ्य का स्पष्टीकरण आर० एल० स्टीवेन्सन ने भी किया है—

"The short story is not the transcript of life but a simplification of some side of it."

(२) इसके अतिरिक्त, कहानी और उपन्यास मे आकार सम्बन्धी अन्तर तो स्पष्ट ही है। कहानी की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह इतनी लम्बी हो कि एक ही बैठक में पूरी पढ़ी जा सके। **एच० जी० वेल्स** का कहना है—"Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes would be a short stoıy." संक्षिप्तता उसका विशेष गुण है। पर उपन्यास के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है, यद्यपि उपन्यास में भी अनेक स्थानों पर संक्षिप्तता अनिवार्य है। संक्षिप्तता से कसावट आती है, पर यह शैली की ही एक विशेषता है। आकार मे उपन्यास चाहे, कितना ही बढ़ जाए पर आवश्यक विस्तार की कहीं भी अपेक्षा नही होती। यही कारण है कि कहानी और उपन्यास—दोनों ही दो स्वतन्त्र विधाएँ है।

(३) कहानी और उपन्यास में जहाँ तक प्रभावान्विति का प्रश्न है, पर्याप्त अन्तर है। कहानी में विषय की एकता होती है, इसलिए उसमे प्रभाव की

सशक्त रचना है। इसमें उन्होंने आजकल के दफ्तरों में कैसे भ्रष्टाचार, रिश्वत और लालफीताशाही का यथार्थ चित्रण किया है; यथा—"इन दफ्तरों में दौड़ो, चक्कर लगाओ, खुशामद करो और रुपया भेंट करो, तब भी काम बनने की कोई आशा नहीं होती।"

मन्नू भण्डारी की कहानी में भारतीय परिवेश की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इनकी प्रसिद्ध कहानी 'सजा' में कानून के अन्धेपन का चित्रण किया गया है। कानून की चपेट मे आकर इन्सान वेगुनाह होते हुए भी गुनहगार सिद्ध हो जाता है।

निष्कर्ष—कहानियों के वर्तमान स्वरूप में तो भारतीय जीवन और भी सशक्त रूप में स्थान पा रहा है। कृष्णचन्दर, सोमावीरा, कमलेश्वर, अमृता प्रीतम, राजेन्द्रसिंह वेदी, गिरिराजकिशोर आदि कलाकार अपनी कहानियों मे मानव की कुण्ठा और निराशा का सुन्दर चित्रण करते है। मनुष्य आजकल मशीन वन गया है, उसकी सभी भावनाएँ मर गयी है, उसका एक ही ध्येय रह गया है कि समाज मे जिया कैसे जाए—जीवित रहने की समस्या ही उसकी सवसे विकट समस्या है और आज का कहानीकार इसी की अभिव्यक्ति कर रहा है। इसीलिए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि आज की कहानी भारतीय परिवेश की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। हिन्दी की कोई और विधा इस दिशा में अपना योगदान इतना अधिक नहीं दे रही, जितना कि कहानी-विधा।

प्रश्न ६५—नाटकों का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए उनका वर्गीकरण कीजिए।

अथवा

समस्या-नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए संक्षेप में उसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

—अरस्तू ने सभी कलाओं को अनुकरण माना है। मनुष्य का स्वभाव ही अनुकरणप्रिय होता है। वाल्यावस्था में दूसरों का अनुकरण करके ही वह बड़ा होता है और बाद मे भी दूसरो के अनुकरण से स्वयं को बनाता है। अनुकरण के द्वारा ही समाज मे स्थिरता आती है। इसीलिए उसके अनुकरण प्रतीक नाटक मानव-जीवन से अभिन्न है, इसमें अनुकरण की अभिव्यक्ति की भावना निहित रहती है।

तादात्म्य स्थापित करके अतीव सुख प्राप्त करता है और इस अनुभव के लिए आवश्यकता पड़ती है कल्पना की। यह कल्पना लेखक, निर्देशक और अभिनेताओं के लिए ही आवश्यक नही है, अपितु इसकी आवश्यकता सहृदय दर्शकों के लिए भी है। **बोल्टन** लिखते है—

"Drama, at its, best, is an exercise of the imagination not only for writer, producer and actors but also for the audience."

इस सम्बन्ध में डा० शान्तिस्वरूप गुप्त का कथन है, "नाटककार कल्पना द्वारा पात्रों को विशिष्ट परिस्थितियो में रखकर हमें नए जीवनानुभव प्रदान करता है। अभिनेता कल्पना द्वारा थोड़े समय के लिए अनुकार्य की आत्मा में प्रवेश कर अपने अनुभव-क्षेत्र का विस्तार करता है और दर्शक कल्पना द्वारा स्वयं को नए अनुभवों के लिए मुक्त छोड़ काल्पनिक पात्रों के जीवन में सहभागी वनता है।"

वस्तुतः मानव-जीवन अत्यन्त सीमित और संकुचित है। नाटककार इन अनुभवों को विस्तार प्रदान करता है और इसी कारण दर्शक को उससे सन्तोष प्राप्त होता है। इस प्रकार नाटक मानवोय इच्छाओं की ही सफल तथा प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना है जो अनुकरण के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। इससे उसे कलात्मक परितोष तो प्राप्त होता ही है।

नाटक के आधार—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक का आधार अनुकरण है। पर कोरा अनुकरण ही किसी पदार्थ को अभिव्यक्ति नही देता, उसके लिए वासना की भी आवश्यकता है। इसीलिए डब्लू० आर्चर नाटक के दो आधार मानते है—अनुकरण और वासना। समस्त साहित्य का विकास और इसलिए नाटक का विकास वासना के भावोद्रेक से तथा अनुकरण के यथार्थ सामाजिक चित्रण से हुआ है। नाटक अपने विकास मे मानसिक और सामाजिक—दोनों ही आधारों को ग्रहण करता है।

नाटक का स्वरूप—विक्टर ह्यूगो नाटक के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं, "मैं समझता हूँ कि नाटक को दर्पण कहा गया है जिसमे प्रकृति प्रतिविम्बित होती है; परन्तु यदि यह साधारण, सीधा-सादा चमकीला दर्पण मात्र है, तो केवल साधारण चित्र उपस्थित कर सकेगा—एक रूप प्रकृत परन्तु

है। इनकी शैली उदात्त, गरिमामय और व्याख्यामय होती है। प्राचीन समय में इसके पात्र प्रायः कुलीन व्यक्ति ही हुआ करते थे, किन्तु अब इसमे सामान्य व्यक्तियों की विपदाओ का चित्रण भी गम्भीरता के साथ होता है। त्रासदी का प्रभाव जीवन में व्याप्त क्लेश, पीड़ा और व्यथा के रूप में प्रेक्षक पर पड़ता है। इससे मानव-चरित्र की दृढ़ता स्थैर्य और सहिष्णुता का भाव उद्दीप्त हो उठता है।

त्रासदी को मुख्य चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—(१) मर्यादावादी या संस्कृत त्रासदी (Classical Tragedy), (२) स्वच्छन्दतावादी त्रासदी (Romantic Tragedy) (३) मिश्र त्रासदी (Mixed or classical-Romantic Tragedy), (४) यथार्थवादी त्रासदी (Realistic Tragedy)।

(२) **भाव-प्रधान नाटक** (Mellodrama)—यह त्रासदी का ही एक रूप है। इसके लिए दुःखान्त होना आवश्यक नही है, परन्तु प्रायः यह भी दुःखान्त ही होता है। इसमें भी भयंकर और दुःखद घटनाओं कथा वातावरण को चित्रित किया जाता है। चीखते पागल, लाशों के बड़े-बड़े ढेर आदि के वर्णन से वातावरण उत्तेजनापूर्ण बना रहता है। इसके कथानक, पात्र, संवाद सभी में असामान्यता होती है। इससे इसकी मनोवैज्ञानिता प्रायः समाप्त हो जाती है जैकोब का 'The monkey's paw' एक सफल मैलोड्रामा है।

(३) **हीरोईक ड्रामा** (Heroice Drama)—हीरोइक ड्रामा का विषय प्रेम अथवा साहस होता था। इनकी शैली मे अलंकार और आडम्बर प्रचुर मात्रा में होते थे। प्रासंगिक कथानक अश्लील और असंगत होते थे। इङ्गलैड में इस प्रकार के नाटक ड्राइडन के युग में अधिक लिखे गए थे, किन्तु आजकल ऐसे नाटकों की रचना नही होती।

(४) **कामदी** (Comedy)—कामदी का स्वर गम्भीर नही होता, वह सुखान्त या प्रसादान्त होता है। जीवन की सामान्य घटनाओं द्वारा यह प्रायः मनोरंजन के लिए हास्य-व्यंग्य का आयोजन ही करता है। इसकी भाषा शैली भी उदात्त नही होती। इसमें जो संघर्ष होता है, वह क्रमशः बढ़ने के स्थान पर क्षीण होता जाता है।

(i) Comedy of Error
(ii) Comedy of Manners

ही चित्रण होता है। आजकल मानव जीवन सुख-दुःख में जकड़ा हुआ है, अतः ऐसे नाटक आजकल बहुत लिखे जा रहे है। टी० एम० इलियट का नाटक 'The Cokatil Party' यद्यपि प्रमुख रूप से कामदी है, पर इसकी नायिका सीलिया का बलिदान उस नाटक को ट्रैजी-कामेडी बना देता है।

(९) **प्रतीकात्मक नाटक** (Symbolic Drama)—इसके पात्र मानव न होकर विचारों और भावों के प्रतिनिधि होते है। इसके द्वारा मानव-मन को आन्तरिक भावनाओं, संघर्षो या भावावेगों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रण किया जाता है। संस्कृत और हिन्दी मे ऐसे नाटको की परम्परा आरम्भ से ही रही है। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की 'कामना' तथा सुमित्रानन्दन पंत की अनेक रचनाएँ इसी प्रकार की है।

(१०) **समस्या-नाटक**—(Problem plays)—इसमे सामाजिक या नैतिक समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि लोग उस पर सोचें और उसका समाधान खोजने की चेष्टा करें। इसका स्वर गम्भीर और दुखःपूर्ण होता है; क्योंकि, उसमे जीवन की किसी दुःखद समस्या अथवा स्थिति का वर्णन होता है। समस्या कैमी भी हो, पर उसके प्रस्तुत करने का ढंग तथा उसके समाधान का मार्ग प्रशस्त करना ही समस्यामूलक नाटककार का कार्य है। यह समस्या का यथार्थ रूप सामने रख देता है, उसके रूपों का वर्णन कर देता है और समस्या की आगामी सम्भावनाओं को प्रस्तुत कर देता है। वह समस्या का निदान नहीं देता, समस्या की भयंकरता तथा दुष्परिणामों की ओर संकेत भर अवश्य कर देता है। समस्यामूलक नाटककार पाठकों को सोचने-विचारने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है : उसकी गम्भीर तथा विचार-प्रधान भाषा पाठकों की बुद्धि को प्रबुद्ध करती है और जीवन को उन्नत बनाने के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त करती है। यही नाटक आज की सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य-विधा है।

समस्या-नाटकों की विशेषताएँ है (१) इन समस्या-नाटकों मे किसी एक समस्या को उठाता जाता है और गम्भीर भाषा का प्रयोग किया जाता है, (२) पात्रों मे उच्छृंखलता की अपेक्षा गम्भीरता होती है, (३) इसका उद्देश्य समाज के दोषों का निदर्शन और उनका निराकरण करना होता है। (४) इसका कार्य नाटक में असम्भव घटनाओं की अपेक्षा स्वाभाविकता लाना होता है।

दृष्टि से उन्होंने नाटक की कथावस्तु को तीन प्रकार का माना है—(अ) दन्त कथामूलक, (आ) कल्पनामूलक, और (इ) इतिहासमूलक। इस सम्बन्ध में **डॉ० नगेन्द्र** का कथन द्रष्टव्य है, "अरस्तू की अपेक्षा भारतीय मनीषियों की इतिहास-विषयक धारणा अधिक व्यापक और लचीली थी, इसलिए उन्होंने इतिहास का व्यापक रूप में ही प्रयोग किया।"

आधुनिक नाट्याचार्यो ने, जिनमें **हेनरी हडसन** विशेष रूप से उल्लेखनीय है, नाटकीय कथावस्तु का विन्यास छह अंगों में माना है—(१) प्रस्तावना (Exposition), (२) प्रारम्भिक घटना (Initial Incident), (३) विकासोन्मुख क्रिया व्यापार (Rising Action), (४) चरमसीमा (Crisis), (५) निगति (Denoument), और (६) समाप्ति (Catastrophe)."

'प्रस्तावना' में कार्य की रूपरेखा का संकेत किया जाता है। नाटक की प्रमुख समस्या भी अपने आवृत्त रूप मे यहाँ व्यंजित होती है। कथानक का वास्तविक आरम्भ **'प्रारम्भिक घटना'** से होता है। क्रमशः **'प्रारम्भिक घटना का विकास'** होने लगता है और अपने पूर्ण विकास पर पहुँचकर नाटकीय संघर्ष **'चरमसीमा'** पर पहुँच जाता है। यहाँ परस्पर विरोधी स्थितियो मे सबसे अधिक तनाव रहता है। परन्तु यही एक पक्ष प्रबल होता है और फल-प्राप्ति की आशा उसके साथ जुड़ जाती है। इससे संघर्ष में शिथिलता आती है। इसे ही उतार या **'निगति'** की अवस्था कहते है। अन्त में, नायक को फल की प्राप्ति होती है। इसे कथा का परिणाम या **'समाप्ति'** कहा जाता है। यह परिणाम अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। साधारणतः 'केटेस्ट्रोफि' शब्द से बुरा परिणाम ही सूचित होता है।

अरस्तू ने कथावस्तु के सुविन्यास के लिए संकलन-त्रय को भी विशेष महत्त्व दिया है। संकलन-त्रय से तात्पर्य है :

१. समय की एकता (Unity of Time)
२. स्थान की एकता (Unity of Place)
३. घटना की एकता (Unity of Action)

समय की एकता का तात्पर्य यह है कि नाटक मे उतने समय की घटनाओं को ही स्थान दिया जाय, जितने समय मे उनका अभिनय किया जा रहा है : स्थान की एकता से अभिप्राय है—नाटक के अभिनय के समय मे सम्यक् मन्तव्य का निर्वाह। स्थान का ऐसा परिवर्तन नही होना चाहिए जो उतने

प्रकार आजकल के नाटकों में मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के पात्र भी नायक हो सकते है।

संवाद—पाश्चात्य नाट्यकला का तीसरा प्रमुख तत्त्व संवाद अथवा कथोपकथन है। संवादों का महत्त्व कथा-विकास और चरित्र-चित्रण—दोनों दृष्टियों से है। नाटक में संवाद के निम्नलिखित चार कार्य होते है :

१. कथावस्तु को अग्रसर करना,

२. चरित्र-चित्रण में सहायक होना,

३. वातावरण की सृष्टि करना, और

४. लेखक के उद्देश्य की अभिव्यक्ति करना।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार नाटकीय संवादों में दस विशेषताएँ होनी चाहिए—(१) देश, पात्र और परिस्थिति की अनुकूलता, (२) वाग्वैदग्ध्य, (३) संक्षिप्तता, (४) त्वरा बुद्धिमूलकता, (५) सजीवता, (६) रसात्मकता और चमत्कारात्मकता, (७) तर्क-संगतता, (८) पूर्वापर सम्बद्धता, (९) सार्थकता और (१०) प्रसाद गुण की सम्पन्नता।

देशकाल-वातावरण—साहित्य की प्रत्येक विधा में देशकाल का अपना महत्त्व रहता है किन्तु नाटक मे इसका महत्त्व तुलनात्मक दृष्टि से सर्वाधिक कहा जा सकता है। इसकी सर्जना नाटक में तीन प्रकार से की जा सकती है—

१. पात्रों की वेशभूषा द्वारा,

२. पात्रों की भाषा द्वारा,

३. तत्कालीन अवस्था के चित्रण द्वारा।

नाटक रंगमंच की वस्तु है। पात्रों को विभिन्न भूषाओं में उपस्थित होना पड़ता है। अतः नाटककार निरन्तर यह ध्यान रखता है कि उनकी वेषभूषा उस देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप हो जिस काल के वे पात्र हैं। स्पष्ट ही, मुगलकालीन नाटक के नायक को आंग्ल वेश-भूषा—कोट-पैण्ट में उपस्थित करना हास्यास्पद बन जाएगा। भाषा का महत्त्व नाटक में आज उतना स्थान नहीं रखता, किन्तु हाँ, देशकालानुकूल भाषा स्वाभाविकता को अवश्य जन्म देती है। नाटक मे पात्रों द्वारा [illegible] अवस्था के चित्रण द्वारा सबसे सुन्दर रूप में देशकाल की उपस्थिति [illegible] के माध्यम से नाटककार वर्तम

मे किसी विचार की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहाँ साधारण विचार न होकर जीवन कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के बाद उस विचार के विकास के लिए संघर्ष होना अनिवार्य है। बाह्य तथा आन्तरिक—दोनों ही प्रकार का संघर्ष आवश्यक है।......जिस नाटक मे जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित कथा होगी, जितना विशद् चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति और कथोपकथन होंगे, वह नाटक उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।" इसके साथ नैतिक आदर्श किसी जाति अथवा समाज के उत्थान-पतन का चित्रण, आदर्श और यथार्थ का समन्वय, आध्यात्मिक संदेश, राजनीतिक या धार्मिक संदेश आदि का प्रस्तुतीकरण भी नाटक का उद्देश्य है।

प्रश्न ६७—नाटक में कथानक और चरित्र में से किसको प्रधानता मिलनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में पश्चिमी विचारकों के मत उद्धृत करते हुए अपने विचार प्रकट कीजिए।

नाटक के तत्वो मे तीन तत्व प्रमुख है—वस्तु, नेता अथवा पात्र और रस। रस के परिपाक के लिए ही नाटककार संवादों के माध्यम से पात्रों का चरित्रांकन करता है, पर चरित्रांकन के लिए भी एक सुनियोजित कथानक की आवश्यकता होती है, जिसके आधार पर कल्पना करके नाटककार मंच पर पात्रों को प्रस्तुत करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कथानक और पात्र—इन दोनों मे से नाटक में किसे अधिक प्रधानता मिलनी चाहिए। यदि पात्रों को गौण स्थान प्रदान कर कथावस्तु को मुख्यता दी जाती है तो एक अन्य प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि कथावस्तु को प्रस्तुत किया कैसे जाएगा। कारण, कहानी को प्रस्तुत करने के माध्यम तो पात्र ही होते है। अतः नाटक में पात्रो की भी कम प्रमुखता नही है; अपितु प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पात्र और चरित्र चित्रण ही ऐसा तत्व है जो नाटक को अन्य कथा-साहित्य—उपन्यास, कहानी, व्यंग्य आदि से मिला करता है। अभिनय ही नाटक का प्राण है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक मे कथानक की अपेक्षा चरित्रों की प्रधानता होती है, तो इस पर विचार करने पर यह प्रश्न स्वतः ही उठता है कि पात्र अभिनय किसका करेगे। अभिनय के लिए किसी कथानक का होना अति आवश्यक हैं। कोई कथा ही पात्रों को परस्पर एक दूसरे-से

भेद होते हैं—यहाँ तक कि पात्रों का अभिनय भी कथानक पर आधारित होता है। अतः कथानक का नाटक के लिए होना निस्सन्देह अनिवार्य है।

परन्तु कथावस्तु या घटनाओं का महत्व उसी स्थिति में होगा, जब वह चरित्रों के द्वारा सांकेतिक होगी। इसलिए चरित्रों का भी कथानक में विशेष महत्त्व है। चरित्रों के लिए आवश्यक है कि वे मानवीय और सहज हों। उपन्यास तो कल्पना-प्रधान चल सकते है, परन्तु नाटक स्वाभाविक तथा वास्तविक जीवन से सम्बद्ध होना चाहिए। नाटक में कार्य या तो अभिनीत होता है अथवा सूचित। किन्तु अधिकता अभिनीत होने की ही होती है। घटना की सूचना देने की अपेक्षा पात्रों के माध्यम से उनकी सूचना देना अधिक उपादेय होता है। नाटककार उपन्यासकार की तरह कोई भी बात स्वयं न कहकर पात्रों के द्वारा ही कहलाता है। चरित्र-चित्रण के सहारे ही कलाकार अपने जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसलिए चरित्र-चित्रण के महत्व का प्रतिपादन करते हुए **वैनवफ्र** लिखते है :

"मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एक नैतिक संदेश, घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यवहार की अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्य पर अधिक निर्भर करता है,"

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक को अन्य साहित्य-विधाओ से अलग करने वाला तत्व पात्र है, अतः वह आवश्यक है; किन्तु पात्र बिना कथानक के चल नही सकते। अतः नाटक में दोनों की ही प्रधानता है।

प्रश्न ६८—एकांकी के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा कृत एकांकी की परिभाषाएँ दीजिए।

हिन्दी में वर्तमान काल मे रचित साहित्य का प्रमुख अंग एकांकी है। यद्यपि इसके मूलस्रोत संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राप्त होते है, पर अपने आधुनिक रूप में यह पश्चिम की ही देन है। भारत में इसका रूप सर्वथा अपरिचित भी नहीं है, अतः इसके स्वरूप के विषय में विद्वानों के दो वर्ग है—एक वर्ग उन विद्वानों का है जो इसका उद्‌भव संस्कृत नाट्य-साहित्य से मानता है और दूसरा वर्ग उन विद्वानो का है जो उसका उद्‌भव पाश्चात्य काव्य-साहित्य से मानता है—अर्थात् इसे पश्चिम से आई काव्य-विधा मानता है। प्रथम वर्ग के विचारकों मे डा० सरनामसिंह शर्मा, प्रो० ललितप्रसाद शुक्ल, प्रो० सदगुरु-

में सर्वथा नवीनतम कृति है। इसका जन्म हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी के प्रभाव से कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है।" इस प्रकार **डा० एस० पी० खत्री** भी लिखते एकांकी पर "अंग्रेजी का प्रभाव है न कि संस्कृत का।"

यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो ये दोनों ही मत अतिवादी है। यद्यपि आज के एकांकी-लेखन की प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से मिली है, तो भी भारतीय लेखक अपनी परम्परा को एकदम छोड़ नही सकता। अतः एकांगी पर संस्कृत की भी छाया है। इस प्रकार वर्तमान एकांगी संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के साहित्य का ऋणी है। वर्तमान हिन्दी एकांकी की शिल्प-विधि संस्कृत एकांकियों से पूर्णरूपेण भिन्न है, उस पर पश्चिम का प्रभाव ही अधिक माना जा सकता है।

एकांकी की परिभाषा—इन मतभेदों के कारण ही एकांकी की कोई एक निश्चित परिभाषा नही हो सकी है। इस विधि मे नित्य नवीन प्रयोग होने के कारण, यह किसी परिभाषा की सीमा मे आबद्ध नही रही। फिर भी, इसकी परिभाषा हिन्दी विद्वानों और अंग्रेजी विद्वानो—दोनो ने ही की है।

श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी के अनुसार, "एकांकी नाटक विशिष्ट आकार-प्रकार में एक सुनियोजित, सुकल्पित लक्ष्य एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या, वेग-सम्पन्न-प्रवाह और सबके निदर्शन मे चातुरी से संयुक्त होते है। लम्बे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विपयान्तर तथा वर्णन-बाहुल्य × × × आदि एकांकी में वर्ज्य हैं। भावुकता के स्थान पर यह मानसिकता अर्थात् चिन्ताओं के संघर्ष को प्रमुखता देते है।"

सेठ गोविन्ददास एकांकी की परिभाषा मे किसी एक मूल विचार को प्रथम स्थान देते है। यह विचार जीवन की समस्या अथवा उद्देश्य से सम्बद्ध होता है; जो जितना महान् होगा, एकांकी को उतना ही स्थायित्व प्रदान करेगा। आन्तरिक संघर्ष, कथानक का संगठन, चरित्र-चित्रण, मनोरंजकता एवं संकलन-त्रय पर भी वे विशेष बल देते है। सेठजी का ध्यान इस प्रकार एकांकी के संगठन पर अधिक है न कि इसकी अभिनयशीलता पर।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक ही दृश्य और एक ही अंक के एकांकी को विशेष महत्त्व देते है। उनके अनुसार एकांकी सीमित समय (लगभग आधा घण्टा) में समाप्त हो जाना चाहिए। अपनी परिभाषा मे वह अन्य तत्त्वों के साथ

विशिष्ट-पात्र समूह के कार्यकलापों पर केन्द्रित होना चाहिए। उसमें न तो अप्रधान घटनाएँ हों, न गौण प्रसंग और न पात्रों का व्यर्थ जमघट ही हो।

इस प्रकार इन विचारकों ने विचार और प्रभाव के आधार पर एकांकी की परिभापा की है; पर कुछ विद्वान् ऐसे भी है जो संक्षिप्तता के गुण के आधार पर एकांकी की परिभापा करते है। इन विचारकों का विचार है कि नाटक और एकांकी में मुख्य अन्तर समय के आधार पर ही किया जा सकता है। एकांकी सीमित समय में अभिनीत होने वाला एक अंक का नाटक है। इसकी यही सफलता है कि वह कम-से-कम समय में पूर्ण होकर दर्शको अथवा पाठकों पर पूर्ण प्रभाव डाल दे। इस सम्बन्ध में **पर्सिवल वाइल्ड** (percival Wilde) लिखते है—

"The time factor is important while the speed of action be accelerated or retarded, it must not be so for from that or real life that it is wholly rejected."

इसका आशय यह है कि एकांकी मे समय का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। साथ ही, उसे वास्तविक जीवन के निकट होना चाहिए। नाटक की गति चाहे धीमी हो या तीव्र, जीवन से इतनी हटी हुई न हो कि लोग उसे असत्य समझ बैठें और स्वीकार न करें। चूँकि मनुष्य वास्तविक जीवन की सम्भावनाओं पर घटित जीवन में आनन्द लेता है; अतः एकांकी के लिए यह आवश्यक है कि मानव-जीवन की झाँकी को सजीव रूप में प्रस्तुत करे।

कुछ विद्वान् **संकलन-त्रय** (स्थान, समय और घटना की एकता) पर विशेष बल देते है। जिन एकांकियों में इनका ध्यान रखा जाता है, उनके अनुसार, वे ही एकांकी सफल होते है।

उपर्युक्त परिभापाओ के आधार पर यह स्पष्ट है कि एकांकी की कोई भी परिभाषा पूर्ण न होकर एकांगी है। अतः इसकी परिभाषा का सर्वांगीण रूप देखने के लिए यह आवश्यक है कि इन सभी गुणो का समन्वय किया जाए। ये गुण अथवा तत्त्व निम्नलिखित है—

१. एकांगी मे किसी एक मूल विचार, घटना, समस्या अथवा स्थिति के विशिष्ट क्षण का प्रस्तुतीकरण हो जिससे पाठक या दर्शक प्रभावित हो जाए।

संवाद में भाषा-शैली तथा दृश्य-विधान में देशकाल-वातावरण, रंग-निर्देश आदि का समाहार कर लेते हैं।

किन्तु उनका यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक है, क्योंकि, कथावस्तु में न तो चरित्र रखे जा सकते है और न उद्देश्य ही। डा० **रघुवंश** का कथन है—"उद्देश्य का रूप काव्य की रूपरेखा में सन्निहित है; साथ ही, रस का आनन्द भी; इसी प्रकार उद्देश्य भी कहा जा सकता है।" स्पष्ट है कि उद्देश्य एक स्वतन्त्र तत्व है, अतः उसे पृथक ही रखा जाना चाहिए। फिर, एकांकी का कार्य कथा कहना मात्र नही है, पात्रों के हाव-भाव और अनुभव द्वारा उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करना भी है, और यही मुख्य है। अतः पात्र को भी कथा-वस्तु में नहीं रखा जा सकता। **कैनेथ** का विचार है कि चरित्र-चित्रण ही एकांकी की मुख्य वस्तु है, अतः चरित्र-चित्रण को पृथक् तत्व मानना चाहिए!

इसी प्रकार संवाद और भाषा-शैली भी दो पृथक्-पृथक् तत्व हैं। यद्यपि भाषा-शैली संवाद का माध्यम है, पर केवल भाषा-शैली ही संवाद नही बनती; और साथ ही संवादों के अतिरिक्त वातावरण-निर्माण तथा रंगमंच-संकेत की भाषा में भी शैली की विशेषता देखी जाती है। इस प्रकार एकांकी के मूलतत्व सात होते है, यथा—(१) कथानक, (२) पात्र-चरित्र-चित्रण, (३) संवाद, (४) देशकाल अथवा वातावरण, (५) भाषा-शैली, (६) उद्देश्य और (७) रंग संकेत।

यहाँ संक्षेप में इनका विवेचन प्रस्तुत है।

कथानक—एकांकीकार लोककथाओ, सामाजिक समस्याओ, मानव-भावों, जीवन के चित्रों, पौराणिक गाथाओं, इतिहास, राजनीति आदि किसी मे से भी अपनी इच्छानुसार कथावस्तु का निर्माण कर सकता है। कथानक क्या है, इस पर विचार करते समय साधारण रूप से उसे कहानी कह दिया जाता है; पर इसकी कुछ विशेषताएँ होती है। **सामरसेट माम** के विचार से कथानक वह ढाँचा है जिस पर कहानी व्यवस्थित होती है। **वर्सफोल्ड** के अनुसार कथानक वह कहानी है, जो लेखक के उद्देश्य के अनुरूप क्रमबद्धता एवं विस्तार प्राप्त करती है। अतः कहा जा सकता है कि लेखकीय उद्देश्य को अभिव्यक्त करने वाले द्वन्द्वयुक्त एवं कौतूहल-वर्द्धक घटना क्रम को कथानक कहते है।

कथानक ही एकांकी की आधारशिला है। इस पर एकांकी का समूचा

एकाकी में पात्रों की संख्या कम होती है, कथानक मुख्य पात्रों तक ही सीमित रहता है। यद्यपि पात्रों की कोई निश्चित संख्या नहीं है, अधिक पात्र वाले भी एकांकी ऐसे है जो सफल है, पर साधारणः इनकी संख्या पाँच-छह रहती है। ये पात्र सामान्य प्राणी ही होते है जो वास्तविक जीवन को जीने वाले लगते है। इसमे नायक तो होता ही है, आवश्यकतानुसार खलनायक की योजना भी की जा सकती है, पर इसके भी अपवाद है। जहाँ प्रतिनायक नही होता, वहाँ गौण पात्रों के माध्यम के घटना-क्रम मे गति उत्पन्न की जाती है। पात्रों की दृष्टि मुख्य पात्र की ओर ही रहती है और वे उसी के व्यक्तित्व का प्रकाशन करते है। पात्रों का मुख्य गुण उनकी विश्वासनीयता है। वे कोई भी कार्य ऐसा न करें जिसका कोई कारण न हो—कारण चाहे भावगत हो अथवा प्रवृत्तिगत और साथ ही, उनका चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। फिर, घात-प्रतिघात से उसमे संघर्ष की उत्पत्ति होना भी आवश्यक है। पर इसके लिए भी मानव-प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण आवश्यक है।

संवाद अथवा कथोपकथन—एकांकी श्रव्य अथवा पाठ्य साहित्य-विधा न होकर नाटक की तरह है। अतः कहानी का प्रस्तुतीकरण पात्रों के द्वारा बोले जाने वाले संवादों के माध्यम से ही होता है। संवाद एक प्रकार से एकांकी की आत्मा है और यही वह तत्त्व है जो एकाकी को अन्य कथा-साहित्य से पृथक्ता प्रदान करता है। संवाद एकांकी में चार कार्य करता है—(१) चरित्रों की चरित्रगत विशेषताएँ व्यक्त करता है, (२) एकांकी के कथासूत्र को विकसित करता है, (३) पात्रों के भावों को व्यक्त करता है, और (४) वातावरण की यथार्थता का बोध करता है। परन्तु संवाद इसके अतिरिक्त भी कुछ और प्रयोजन सिद्ध करता है। एकांकी का एक कार्य-व्यापार संवाद भी है, यह घटना-क्रम को आगे बढाता है और उसे विकसित करता है। फिर संवाद पात्रों की अभिव्यक्ति का माध्यम है और इन्हीं के माध्यम से अपेक्षित वातावरण तथा प्रभाव की सृष्टि होती है। इन्हीं से दर्शको का ध्यान सैट पर से हटा दिया जाता है, जिससे सैट-परिवर्तन के लिए समय मिल जाता है। इससे नाटक की गति भी नियन्त्रित होती है, संवाद-बहुलता से परदा गिराने उठाने के बीच भी समय मिल जाता है। अतः संवाद एकांकी का मूल तत्त्व है।

संवाद के लिए यह आवश्यक है कि पात्र अथवा परिस्थितियो के अनुरूप

न कुछ सिखाता है और न कुछ सिद्ध करता है, अपितु उसका कथ्य ध्वनित होता है। उसका मुख्य उद्देश्य रस-सिद्ध है। आनन्द की सृष्टि ही उसका मुख्य लक्ष्य है।

रंग-संकेत—एकांकी दृश्य काव्य है, अतः उसकी सफलता अभिनेयता पर निर्भर करती है। इसीलिए आवश्यक है कि वह मंच की सुविधाओं का ध्यान रखकर लिखा जाए और यथास्थान मंच का संकेत दिया जाए। इससे पात्रों की रूप-सज्जा मे सुविधा रहती है। साथ ही, इससे कभी-कभी आरम्भ का कार्य भी हो जाता है। पात्रों के अभिनय मे भी सहायता पहुँचाना रंग-संकेत का कार्य होता है।

प्रश्न ७०—एकांकी रचना तथा विषय के आधार पर एकांकियों का वर्गीकरण कीजिए।

एकाकी हिन्दी साहित्य की नवीनतम साहित्य-विधा है। परन्तु जन्मते ही इसने इतना अधिक प्रभाव जमा लिया तथा यह विधा इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके अनेक प्रकार मिलते हैं। विषय की दृष्टि से तथा रचना-पद्धति के आधार पर इसके अनेक वर्गीकरण हो सकने है। इनमें सबसे उपयुक्त वर्गीकरण रचना-पद्धति के आधार पर किया जा सकता है। वैसे विषय के आधार पर किया गया वर्गीकरण का संक्षेप मे यहाँ उल्लेख करेगे।

विषय के आधार पर एकांकी का वर्गीकरण—विषय के आधार पर डा० सत्येन्द्र के पाँच प्रकार के एकांकी बताये है—(१) सामाजिक एकांकी (२) राजनीतिक एकांकी, (३) ऐतिहासिक एकांकी, (४) चारित्रिक एकांकी और (५) व्यंग्यात्मक एकांकी। परन्तु इनके अतिरिक्त समस्यामूलक एकाकी, हास्य एकाकी और विचार-प्रधान एकांकी भी होते है। इस प्रकार विषय के आधार पर एकाकियों को आठ भागों मे विभक्त किया जा सकता है।

सामाजिक एकांकी—समाज की किसी पृष्ठभूमि अथवा स्थिति पर जो एकांकी आधारित होते है, उन्हें सामाजिक एकांकी कहा जा सकता है। समाज के क्षेत्र मे सभी कुछ आ जाता है। अतः समाज में व्यक्ति की दुर्दशा, गरीबी-अमीरी का संघर्ष धर्म आदि के नाम पर चलने वाले ढोंग, विवाह आदि पर आधारित एकांकी इस वर्ग के अन्तर्गत आते है। इनका क्षेत्र-विस्तार अधिक है।

विचार-प्रधान एकांकी—इन्हें गम्भीर एकांकी भी कहते है। ये 'सीरियस' होते हैं और किसी विचार पर आधृत होते है। ये एकांकी साहित्य की उत्तम से उत्तम रचना का मुकाबला कर सकते है। इनमे विचारों को इस प्रकार सुनियोजित कर दिया जाता है कि विचारों की शृंखला बनी रहती है और उसके साथ एक संक्षिप्त घटना भी जुड़ जाती है। मारिस मैण्टरलिंक का 'इण्ट्रूडर' एकांकी इसी प्रकार का एकांकी है।

रचना-पद्धति के आधार पर एकांकियों का वर्गीकरण—विषय की तरह एकांकियों की रचना भी विभिन्न प्रकार से हो सकती है और इसी आधार पर एकांकियों के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं :

(१) **एक-दृश्य का एकांकी**—इसमें सम्पूर्ण एकांकी एक अंक और एक ही दृश्य में समाप्त हो जाता है। दृश्य-परिवर्तन की इसमें आवश्यकता नहीं होती; इस प्रकार के एकांकियों में संकलन-त्रय का पूर्ण निर्वाह होता है और कथानक भी कम गतिशील होता है। सीमित पात्र तथा सीमित घटना-व्यापार द्वारा इसकी नियोजना होती है। यदि किसी अन्य स्थान अथवा काल की घटना देना आवश्यक होता है तो उसकी मात्र सूचना दे दी जाती है अथवा वह पात्रों के वार्त्तालाप मे आ जाती है। डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार के एकाकी को 'झाँकी' भी कहा है।

(२) **अनेक दृश्यों के एकांकी**—कुछ एकांकी ऐसे भी होते है जो होते तो एक अंक के है, पर उनमें दृश्य अनेक होते है। यद्यपि अन्य एकांकियों के समान कार्य और प्रभाव की अन्विति इनमें भी आवश्यक होतो है; फिर भी, इनमें स्थान और काल की एकता की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता। पर इसका तात्पर्य यह भी नही कि कथा मे दो विभिन्न कालो तथा बहुत दूर के स्थानो की घटना की योजना की जाए। यद्यपि आजकल इस पर भी प्रयोग किए जा रहे है, पर ये प्रयोग अपवादस्वरूप ही है। साथ ही, पात्रों की संख्या का भी इसमे कोई बन्धन नही, पर एकांकी की सीमा के कारण उनका बाहुल्य भी खटकता है।

(३) **भूमिका का उपसंहार से संयुक्त एकांकी**—कुछ एकांकियों की रचना इस प्रकार की जाती है कि उनके आरम्भ में भूमिका तथा अन्त में उपसंहार की व्यवस्था होती है। एकांकी का कथानक दोनो के बीच मे रहता है। इस

(ख) **रेडियो-एकांकी**—रेडियो आज सर्वत्र प्रचलित हो गया है। इसमें भी एकाकी आते है, पर ये दृश्य न होकर श्रव्य ही होते है। अतः इनमे ध्वनियों से काम लिया जाता है। यद्यपि रेडियो एकांकी की स्वतन्त्र तकनीक है, परन्तु फिर भी इसे एकांकी के अन्तर्गत ही परिगणित किया जाता है। इन एकाकियों के लिए कोई सीमा अथवा बन्धन नहीं है; क्योंकि, उसमें ध्वनि द्वारा प्रत्येक दृश्य की कल्पना की जा सकती है, अतः दो विभिन्न स्थानों की घटना भी एक साथ दिखाई जा सकती है।

(ग) **टेलीविजन-एकांकी**—यह एकाकी दृश्य और श्रव्य दोनों ही प्रकार का होता है। इसमें त्रित्रों और ध्वनियों का संयोजन करके एकांकी को उसके प्रदर्शन-स्थल से दूर, सैकड़ों-हजारो मील दूर बैठे दर्शको तक पहुँचा दिया जाता है। इस पर रंगमंच, रेडियो और फिल्म एकाकी—सभी का प्रभाव है।

(घ) **पाठ्य-एकांकी**—एकाकी आज मात्र पढ़ने के लिए ही लिखे जाते है। प्राचीनकाल में नाटक भले ही दृश्यकाव्य रहा हो, पर अब पाठ्य-पुस्तकों में इनका प्रयोग होने से रंगमच की परम्परा इनके साथ खण्डित हो गई है। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार से अभिनेयता के स्थान पर इन एकांकियों में रंगमंच निर्देश में भी भाषा शैली का चमत्कार दिखाया जाता है। अंग्रेजी में इसे 'क्लोजेट-ड्रामा' (Closet Drama) भी कहते है। यह रंग संकेतों एवं संलापों मे लिखा एक कहानी-सा होता है।

इन दो प्रकारों के अतिरिक्त विद्वानों ने एकांकियो का और भी अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है; उदाहरणार्थ—डा० सत्येन्द्र ने एकांकियों का वर्गीकरण वादों के आधार पर भी किया है, यया—आदर्शवादी एकांकी यथार्थवादी एकांकी, प्रयोगवादी एकांकी, प्रगतिवादी एकाकी, कलावादी एकांकी, प्रभाववादी एकाकी आदि, पर एकांकी के ये सभी प्रकार विषय के अन्तर्गत आ जाते है।

इसी प्रकार यदि भाषा-शैली के आधार पर वर्गीकरण किया जाये तो वह भी अधिक वैज्ञानिक नही है। बौद्धिक, कथात्मक, गद्यात्मक, पद्यात्मक—कोई भी एकाकी दुःखान्त और सुखान्त हो सकता है। किसी की शैली सरल हो सकती है तो किसी की क्लिष्ट। यह तो लेखक पर निर्भर करता है।

मूलवृत्ति के आधार पर यदि एकाकियो का वर्गीकरण किया जाए अथवा

क्षेत्र मे अभिव्यक्ति मिली, उसे साहित्य और कला के इतिहास में 'स्वच्छन्दतावाद' के नाम से अभिहित किया है।"

अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छान्दतावादी अथवा रोमानी आलोचना के अभ्युदय और विकास के संदर्भ में अंग्रेजी के महान कवि वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैली और कीट्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रोमानी आलोचना का मूल आधार वैयक्तिक अनुभूति और आत्माभिव्यक्ति बन गए। इस युग में काव्य अपने परम्परागत रूप से मुक्त होकर व्यक्ति की उसकी अनुभूति में सिमट गया स्वभावतः इस युग मे अधिकांशतः आत्मनिष्ठ और अन्तर्मुखी गीति-काव्य की रचना हुई। इस युग की साहित्यिक धारा का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते है, "कवि स्थुल जगत् से दूर अपने स्वयं में अथवा दूर उस अछूती प्रकृति की गोद में शरण ढूँढने लगा जहाँ यंत्र युग का धुआँ न पहुँचा हो" इस प्रकार रोमानी आलोचना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यही थी कि साहित्य की धारा एक ओर तो स्थूल से हटकर आत्मनिष्ठ और आत्माभिव्यक्ति में प्रवहमान हुई, दूसरी ओर यह प्रकृति के अपरिमित सौन्दर्य और विस्तार मे जीवन का सत्य खोजने में जुट गई।"

रोमानी आलोचकों ने काव्य के भीतर विद्रोह की प्रवृत्ति को भी जन्म दिया। विद्रोह का यह स्वर केवल भौतिक शक्तियों के विरुद्ध ही नहीं, अपितु नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के विरुद्ध मिलता है। यह विद्रोह केवल काव्य-विषयो को लेकर ही यहीं अपितु काव्य की भाषा और शैली को लेकर भी अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार रोमानी आलोचकों ने व्यापक विद्रोह की भावना को जन्म दिया और साहित्य को रूढ़िगत परम्पराओ की जकड़ से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया।

रोमानी आलोचना में प्रकृति की ओर लौटने का आग्रह भी बराबर मिलता है। इस युग की आलोचना का एक मात्र लक्ष्य काव्य को हर प्रकार की कृत्रिमता से मुक्ति दिलाना था। मिथ्याहंकार की जकड़ मे ग्रस्त महान व्यक्तियों से लेकर कृत्रिम शब्दों और अलंकारो की साज-सज्जा तक—सभी क्षेत्रो में नवीन और अनुपम के लिए अत्यधिक आग्रह व्यक्त हुआ। इस प्रकार की आलोचना काव्य को पाठक के बहुतः निकट ला सकने मे सफल हो गई और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इस युग के आलोचक ने "पौराणिक जीवन के देवी-देवताओं, अप्सराओं, और उर्वशियों तथा नागरजीवन के राजा-

विद्वान् आलोचक कहते है, 'काव्य के विषय के सम्बन्ध में उसकी निश्चित धारणा है कि वह धार्मिक तथा नैतिक होना चाहिए। उसमे देवताओं और राष्ट्रवीरों के सद्कृत्यों का वर्णन होना चाहिए। उसमें कवियों को परामर्श दिया है कि वे देवताओ के चरित्र का सद्गुणों—सच्चाई, शील और दृढ़ता का ही वर्णन करे। मानव स्वभाव को चित्रित करने के लिए जो नियम उसने कवियो के सामने रखे, उनसे भी उसका सुधारक दृष्टिकोण ही प्रकट होता है।

इस प्रकार कला और नीति के परस्पर सम्बन्धो को लेकर पाश्चात्य आलोचकों में सहस्रो वर्षो से विवाद चला आता रहा है। तथापि इस सम्बन्ध में रस्किन और टालस्टाय के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है, मैथ्यू आर्नल्ड की दृढ़ धारणा थी कि जिस काव्य में नैतिक आदर्शो और परम्पराओं के प्रति विद्रोह है, उसमे जीवन के प्रति भी विद्रोह होगा। मैथ्यू आर्नल्ड के मतानुसार, जो कला नीति के प्रति उदासीन है, वह जीवन के प्रति भी उदासीन होगी। विलियम वर्ड्सवर्थ ने कवि को एक उपदेशक से अधिक नही माना।

रस्किन पूर्णतः नैतिकवादी था। रस्किन के मतानुसार कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना ही नही, अपितु वह एक गम्भीर सृजन प्रक्रिया होती है। रस्किन के अनुसार कला सामान्यत. दो प्रकार की सुखात्मक अनुभूतियाँ प्रदान करती है—एक सुखात्मक अनुभूति केवल बाह्य तथा शारीरिक चेतना होती है जबकि दूसरी सुखात्मक अनुभूति मनुष्य को विनीत, नैतिक और कृतज्ञ बनाती है। उसके मतानुसार, 'कला के आदर्श रूप मे दोनों प्रकार की सुखात्मक अनुभूतियों का समावेश होना चाहिए। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में "रकिन के इन सब वक्तव्यो से स्पष्ट है कि वह कलाओं का उद्देश्य नैतिक उपदेश देना मानता है और वह कला का स्वतन्त्र अस्तित्व मिटाकर उसे उपदेश की दासी बना देता है।

वस्तुतः कलाकार और नीतिकार दोनो का कार्य क्षेत्र और कर्तव्य नितान्त अलग-अलग है। कलाकार का एक मात्र उद्देश्य जीवन की अभिव्यंजना करना होता है, जबकि नीतिकार नैतिक उपदेश देना ही अपना परम लक्ष्य स्वीकार करता है। नीतिकार और कलाकार के अलग-अलग क्षेत्रों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है, "कलाकार का कर्त्तव्य तो केवल इतना है कि वह जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव करता है, उसे पूरी ईमानदारी और पूर्णता

(३) रेडियो रूपक

रेडियो रूपक वस्तुतः रेडियो नाटक का ही एक भेद है। रेडियो नाटकों मे ध्वनि की प्रधानता होती है और वे केवल श्रव्य होते है अतः उन्हें श्रव्य नाटक भी कह दिया जाता है। शिल्प की दृष्टि से रेडियो नाटकों के कई भेद किये जाते हैं जैसे कि रेडियो रूपक, रेडियो नाटक, रेडियो-फैण्टेसी, स्वगत नाटक, एकपात्रीय नाटक, झलकियाँ आदि। इस प्रकार रेडियो रूपक मूलतः रेडियो नाटकों के विभिन्न भेदों में से एक है। रेडियो रूपक अँग्रेजी के रेडियो फीचर का पर्यायवाची शब्द है। फीचर अंग्रेजी का शब्द है और पश्चिम में फीचर का अर्थ 'यथातथ्य सूचनाओं' पर आधारित रचना होता है।

बी० बी० सी० में रेडियो फीचरों का कार्यक्रम प्रायः दिया जाता है। वहाँ विशेष अवसरों पर विभिन्न प्रकार के आकर्षक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता रहा है। निस्सन्देह, रेडियो के श्रोताओं में इन विशिष्ट कार्यक्रमों के प्रति अत्यधिक रुचि देखने में आई। धीरे-धीरे रेडियो-प्रसारण में और नई-नई तकनीकों का विकास हुआ और बी० बी० सी० मे ही कुछ ऐसे कार्यक्रम प्रसारित किए जाने लगे जिनमे तथ्यों की प्रधानता होती थी और कल्पना के लिए अधिक अवकाश नही रहता था। ब्रिटेन में डाकूमेण्ट्री फिल्मों मे विकास का भी रेडियो-कार्यक्रमों पर पूरा प्रभाव पड़ा। इन डाकूमेन्ट्री फिल्मों में किन्ही विशेष घटनाओ, उत्सवों, दृश्यो आदि के रिकार्ड तैयार किये जाते थे और धीरे-धीरे यही विधा रेडियो-कार्यक्रमो मे भी प्रविष्ट हो गई। रेडियो पर भी विशिष्ट घटनाओ, उत्सवों आदि के रिकार्डबद्ध कार्यक्रम का प्रसारण किया जाने लगे। इन कार्यक्रमों को रेडियो डाकूमेण्ट्री की संज्ञा दे दी गई।

रेडियो रूपकों मे वास्तविकता अथवा तथ्यों को नाटकीकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ प्रयुक्त वास्तविकता शब्द व्याख्यासापेक्ष है। वास्तविकता का आशय किसी दृश्य अथवा घटना के यथातथ्य चित्रण से है। उदाहरण के लिए यदि भाखड़ा-नांगल बाँध पर कोई रेडियो रूपक तैयार किया जाता है तो रेडियो रूपककार को उस बाँध मे काम करने वाले कामगरो से लेकर वरिष्ठतम इंजीनियरों तक के विचारो को उन्ही के अपने शब्दो मे रिकार्डबद्ध करना होगा। इस प्रयोजन के लिए रेडियो रूपककार वहाँ के कामगरो और इंजीनियरों से बातचीत करता है, उनकी समस्याएँ सुनता है और समझता है और साथ ही

सर्जनात्मक शक्ति की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैथ्यू आर्नल्ड की दृढ़ धारणा, "साहित्य अथवा कला की महान कृतियों की रचना करने के लिए, सर्जना शक्ति—चाहे वह कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो—हर काल में और हर परिस्थिति मे समर्थ नही है।"

उत्कृष्ट साहित्य की रचना के लिए आर्नल्ड ने सर्जनाशक्ति के साथ-साथ समीक्षा शक्ति की महत्ता भी स्वीकारी है। उसके मतानुसार साहित्य सृजन के सन्दर्भ मे मुख्यतः दो प्रकार की शक्तियाँ देखने मे आती हैं—सर्जनाशक्ति और समीक्षा शक्ति। सर्जना शक्ति साहित्यकार की अपनी अलग शक्ति होती है। सर्जना की यह शक्ति मूलतः मनुष्य की एक शक्ति है। दूसरी शक्ति युग की शक्ति होती है और मनुष्य की सर्जना शक्ति युग की शक्ति के अभाव में सारहीन और अर्थहीन कहलाएगी। युग की यही शक्ति समीक्षा शक्ति होती है और इसके बिना श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव नही है। इस युग की शक्ति की महत्ता स्थापित करते हुए मैथ्यू अर्नाल्ड एक स्थल पर कहता है, "कविता का सर्जन करने के पूर्व कवि को जीवन और जगत् का ज्ञान होना चाहिए तथा जीवन और जगत् आजकल की दुनियाँ मे अनेक जटिलताओ से भरे है। अतएव किसी आधुनिक कवि की उत्कृष्ट रचना के पीछे समीक्षात्मक शक्ति का होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर वह रचना अत्यन्त तुच्छ कोटि की होगी।" उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समीक्षात्मक शक्ति के बिना सर्जनात्मक शक्ति का मूल्य नही होता।

समीक्षात्मक शक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते है—"संसार भर में सर्वश्रेष्ठ रूप मे ज्ञात और विचारणीय बातों के सीखने और उनका प्रचार करने के निष्पक्ष प्रयत्न को आलोचना कहते है।" "एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि आलोचक के व्यक्तित्व में यह निष्पक्षता किस प्रकार आ सकती है। इस सम्बन्ध मे अर्नाल्ड ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि निष्पक्षता का अर्थ ऐसी तटस्थ एवं निरपेक्ष दृष्टि है जिसमें किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह न हो। आलोचक अपनी समीक्षा शक्ति के बल पर कवि के लिए उपर्युक्त भाव-भूमि का निर्माण करता है। साहित्य अथवा काव्यकृति का मूलाधार विचार अथवा माननीय भाव ही तो होते है। सृजनात्मक साहित्य के संघटक तत्व, वस्तुतः आलोचक ही जुटाता है। आलोचक ही वस्तुतः कवि के लिए सर्वश्रेष्ठ विचारो और मानवीय भावों की

सम्भव होता है। अतः स्वभावतः उस युग के आलोचकों ने काव्य को भाषा में आडम्बर-पूर्ण और कृत्रिम, रूढ़िग्रस्त शैली को प्रश्रय दिया। इस युग के सहित्यकारों ने काव्य की भाषा को सजाने-सँवारने पर अत्यधिक बल दिया। वर्ड्सवर्थ ने पहली बार इस कृत्रिम काव्य-भाषा का विरोध किया और काव्य के प्रयेत्क क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का परिचय दिया। वर्ड्सवर्थ ही अंग्रेजी का पहला कवि और आलोचक था जिसने अंग्रेजी की काव्यधारा को शास्त्रीय नियमो एवं रूढ़ियों की जकड़ से मुक्त कराने का सफल प्रयास किया।

काव्य के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावाद के नारे का उद्घोष करने वाले विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्य-विषयों से लेकर काव्य की भाषा, शैली तक के सम्बन्ध में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी और काव्य को पहली बार 'सामान्य जीवन' की उष्णता प्रदान की। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो में, "भावना को महत्त्व देने के कारण ही वह कविता के लिए सामान्य जीवन की घटनाओ तथा सहज विषयों के चुनाव पर बल देता है, ग्रामीण तथा साधारण जीवन के चित्रण को आवश्यक मानता है। वह परियो, अप्सराओं, देवताओ और नागरिक जीवन का चित्रण करने के बजाए किसानो और ग्रामवासियों के चित्रण को अधिक अच्छा तथा काव्योपयोगी मानता है, क्योकि उसमे हृदय के के मूल भावो को परिपक्व होने के लिए अधिक उर्वर भूमि प्राप्त होती है। ग्राम जीवन के भात्र, सरल स्थायी और सुग्राह्य होते है।" स्वभावतः जीवन सामान्य रूप के चित्रण के लिए वर्ड्सवर्थ ने भाषा और शैली के सम्बन्ध मे भी मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है।

वर्ड्सवर्थ से पूर्व काव्य की भाषा मे अलंकारों की छटा, शब्दों की पच्ची कारी, वक्रोक्ति की वक्रता आदि का प्राधान्य था किन्तु वर्ड्सवर्थ इस प्रकार की आडम्बरपूर्ण, क्रत्रिम और रूढ़िग्रस्त भाषा के विरुद्ध था। वर्ड्सवर्थ ने जब काव्य-विषयों के चुनाव के लिए सामान्य जीवन के प्रति आग्रह व्यक्त किया, तो उसके मूल मे वर्ड्सवर्थ की धारणा कार्यरत थी कि यदि काव्य-विषय सरल और सामान्य कोटि के हो जाएँगे तो उनकी भाषा भी स्वतः ही सीधी व सरल हो जाएगी। कदाचित् इसी कारण एक आलोचक कहते है, "उसका (वर्ड्सवर्थ) मत था कि सरल और ग्रामीण जीवन से यदि विषय चुने जाएँगे तो भाषा स्वयं सरल हो जाएगी।...... वर्डसवर्थ ने काव्य भाषा के

और समाजशास्त्रीय ग्रन्थ विश्व के सर्वोत्कृष्ट साहित्य की कोटि में आ जाते। विश्व की विभिन्न भाषाओं के साहित्य से ऐसे अनेक उदाहरण दिए जाते हैं जिनमें वर्णित घटनाएँ अथवा पात्रों के क्रियाकलाप सर्वथा नैतिक नही होते और फिर भी उनका साहित्यिक मूल्य आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। होता यह है कि 'देवता या असुर, स्त्री या पुरुष अमुक प्रकार का बाह्यतः अनैतिक जान पड़ने वाला पापाचरण करते है, परन्तु घटनाओं के तर्क या वर्णन की विशेषता से वही बात उस क्षण के लिए पाठक या दर्शक के मन मे विश्वास जगा देती है कि वह अनीतिमान् नहीं है या पाप रूढ़ परिभाषा में नही आती।" इसी के साथ शिवं और सुन्दरं आदि साहित्यिक मूल्यो का प्रश्न प्रस्तुत होता है। इस सम्बन्ध में आलोचकों के मुख्यतः दो वर्ग है—एक वर्ग के अनुसार सत्यं शिवं और सुन्दरं, इन तीनो का समन्वित रूप ही उत्कृष्ट साहित्य का मानदण्ड होता है। जिस साहित्य अथवा काव्य मे सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं का सुखद समन्वय होता है, वही साहित्य नमस्य होता है। आलोचको का दूसरा वर्ग इन तीनों तत्त्वों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकारता है। कतिपय सौन्दर्यवादी आलोचक सौन्दर्य को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य मानते है। दूसरी ओर साहित्य मे शिवं तत्त्व को सर्वाधिक आदर प्रदान करने वाले नीति-प्रचारकों का एक वर्ग है। इन सभी के अतिरिक्त सत्य को ही साहित्य का एकमात्र मूल्य मानने वाले आलोचक भी होते है जिनकी दृष्टि एक वैज्ञानिक की दृष्टि होती है। साहित्यिक मूल्यों के प्रसंग में व्यक्ति और उसकी सत्ता पर विचार किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति दुहरा जीवन जीता है और उसी प्रकार उसके मूल्य भी दुहरे होने है। व्यक्ति का एक जीवन तो उसका नितान्त व्यक्तिगत जीवन होता है और उस जीवन में उसके अपने अलग मूल्य होते है। दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी होता है और उस समाज मे उसके अलग मूल्य होते हैं। व्यक्ति के इस दुहरे जीवन के रहस्य का उद्घाटन करते हुए एक विद्वान कहते हैं—"मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति होता है, इकाई है—उसके अपने कुछ मूल्य होते है। परन्तु व्यक्ति—मनुष्य एक वृहत्तर मानव-समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है।"

मन मे संगतिपूर्ण सन्तुलन स्थापित करे।" इस प्रकार रिचर्ड्स ने यद्यपि नैतिक, सामाजिक और धार्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की है, फिर भी उन्होंने यह सब मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है जिससे कि काव्य का सौन्दर्य खण्डित न हो।

(७) जीवनी

अंग्रेजी के शब्द **'लाइफ'** (Life) अथवा **'बायोग्राफी'** (Biography) के लिए हिन्दी का 'जीवनी' शब्द प्रयोग में आता रहा है। जीवनी का मूलरूप जीवन चरित्र था, किन्तु समय के साथ-साथ जीवन-चरित्र का संक्षिप्त रूप जीवनी बन गया। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि जीवनी में जीवन और चरित्र दोनों समाविष्ट रहते है। जीवन एक ऐसी अवधारणा है जो कि प्रकट है, प्रकाशित है और इसके विपरीत चरित्र एक प्रकार का आन्तरिक व्यक्तित्व है। जीवन के बाह्यरूप और चरित्र के आन्तरिक रूप—दोनों ही जीवन में आकर समाहित हो जाते है।

जीवन चरित्र अथवा जीवनी में किसी भी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा होता है, इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इस प्रकार का कोई अकाट्य नियम नहीं है कि जीवनी में सम्बन्धित व्यक्ति के जीवन के सभी ब्यौरे अनिवार्यतः हों ही। पाश्चात्य साहित्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान शिप्ले के अनुसार, "जीवनी को नायक के सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भाग की चर्चा करनी चाहिए और अपने आदर्श रूप में एक विशिष्ट इतिहास होना चाहिए।" जीवन के सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह भी है कि अनेक व्यक्तियों की जीवनियाँ उनके जीवन-काल मे ही तैयार हो जाती है और कई व्यक्तियों की जीवनियाँ उनकी मृत्यु के उपरान्त सामने आती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनी में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा अनिवार्यतः नहीं होता। विशेष रूप से व्यक्तियों के जीवनकाल मे लिखी गयी जीवनियो मे व्यक्ति समग्र जीवन को समाहित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पाश्चात्य साहित्य परम्परा मे जीवनी साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। साहित्य की यह विधा इतिहास और उपन्यास के निकट होते हुए भी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखे हुए थी। अंग्रेजी के पुनर्जागरण युग के पूर्व लिखी गयी जीवनियों मे व्यक्ति के जीवन के ब्यौरे नही, अपितु कतिपय सिद्धान्तों आदि की व्याख्या प्राप्त होती है। इसके पश्चात् मध्य युग

विपरीत जीवनी लेखक घटनाओं और तथ्यों की पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत तो करता है किन्तु इस प्रस्तुतीकरण मे उसका अपना व्यक्तित्व भी स्वतः ही जुड़ जाता है। जीवन के ब्यौरे प्रस्तुत करते हुए भी उसका मूल दृष्टिकोण एक नीरस इतिहास वेत्ता का नहीं, अपितु एक भावुक साहित्यकार का दृष्टिकोण होता है जीवनी लेखक अपने चरितनायक के जीवन के ब्यौरों को साहित्यिक रूप देता है जिससे कि जीवनी मे एक प्रकार की रोचकता आ जाती है। कदाचित् इसी कारण एक विद्वान आलोचक ने 'मसृणता' और 'कोमलता' जीवनी की दो विशेपताएँ निर्धारित की है। इतिहास और जीवनी के मध्य मूल अन्तर यही है कि इतिहास केवल ब्यौरो का संकलन है और जीवनी जीवन का सुकोमल वर्णन होता है।

जीवनी अथवा जीवनचरित्र और आत्मकथा दो साहित्यिक विधाएँ है। जीवनी में लेखक द्वारा किसी चरितनायक के जीवन का वर्णन किया जाता है, जवकि आत्मकथा में लेखक स्वयं ही अपने जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, तथापि जीवनी लिखने की तुलना मे आत्मकथा लिखना अधिक दुष्कर है। इस कठनाई को इस ढङ्ग से सहज ही समझा जा सकता है कि मनुष्य औरों के सम्वन्ध मे वहुत सरलता से ही कह सुन लेता है, औरो की प्रशंसा और निन्दा' दोनो ही वहुत आसानी से की जा सकती है किन्तु स्वयं अपने सम्वन्ध में कुछ भी कहना बहुत कठिन होता है। अपनी प्रशंसा करना, दूसरे की प्रशंसा करने से कही अधिक दुष्कर कार्य होता है इसके विपरीत जीवनी लिखते समय लेखक को निष्पक्ष रहते हुए भी अपने चरितनायक के जीवन की घटनाओ, अनुभवों आदि के यथातथ्य वर्णन के लिए अपेक्षतया अधिक अवकाश रहता है।

(८) रेखाचित्र

रेखाचित्र साहित्य की एक अपेक्षतया नई विधा है और इसका स्वरूप कहानी और निवन्ध, दोनों से भिन्न है। आलोचकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो कि रेखाचित्रों को कहानीकला की प्रेरणा से उत्पन्न एक साहित्यिक विधा मानता है। रेखाचित्र की एक अत्यन्त सटीक परिभाषा इस प्रकार दी जाती है—"**रेखाचित्र लिखने वाला चित्र शब्दों द्वारा जीवन की विविध घटनाओं, व्यक्तियों और दृश्य का ऐसा सजीव चित्र उपस्थित करता है कि पाठक के**

किया जाना आवश्यक है। रेखाचित्र में व्यक्ति से अधिक उसके चरित्रांकन पर बल दिया जाता है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रेखाचित्रकार को पात्रानुकूल सजीव भाषा और शैली का प्रयोग करना होता है। उसका लक्ष्य यही होता है कि कम से कम शब्दो मे पात्र के चरित्र की बारीक से बारीक रेखाओं का उद्‌घाटन किया जाए। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए विश्लेषण शक्ति का होना आवश्यक है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों मे, "सूत्रात्मकता, मार्मिकता, चयन, व्यंजना तथा सूक्ष्मता सफल रेखाचित्र के लिए आवश्यक है।" रेखाचित्र की शैली में त्वरा का होना भी आवश्यक है ताकि वह पूरी तरह पाठक के मन में उतर सके। अत्यधिक विस्तार के लिए तो रेखाचित्र में अवकाश ही नही होता है। इसके साथ ही रेखाचित्र की शैली में मनोरंजकता का भी समावेश होना चाहिए। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि रेखाचित्र बुद्धि, भाव और कल्पना का सुखद सम्मिश्रण होना चाहिए। बुद्धि के बल पर व्यक्ति तथा उसके व्यक्तित्व के पक्ष-विशेष का चयन किया जाता है। भाव के सहारे रेखाचित्रकार एक प्रकार की संवेदनशीलता, करुणा एवं आत्मीयता जैसे तत्त्वों का समावेश कर लेता है। कल्पना की समाहार शक्ति रेखाचित्र को अत्यन्त सजीव और सशक्त रूप प्रदान करती है।

(६) संस्मरण

संस्मरण, शैली की दृष्टि से निबन्ध के बहुत निकट है संस्मरण की विशेषता यह होती है कि उसमें ऐतिहासिकता का पुट अपेक्षतया अधिक होता है। संस्मरण की परिभाषा देते हुए विद्वान् कहते है कि भावुक कलाकार कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजनामूलक सांकेतिक शैली मे अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट बनाकर रोचक ढङ्ग से यथार्थ रूप में व्यक्त करता है, तब संस्मरण कहते है। संस्मरणों की एक विशेषता यह होती है कि उनमे लेखक अपने युग के इतिहास को साकार करता है। तथापि वह एक इतिहासवेत्ता की भाँति इतिहास के प्रति वस्तुनिष्ठ नही रहता। संस्मरण लेखक जो स्वयं देखता और अनुभव करता है, वही लिपिबद्ध भी करता है। वह अपने समय का, अपने आस-पास के संसार का वर्णन करता और उसका यह वर्णन उसकी पूरी भावना और संवेदनशीलता से ओतप्रोत रहता है।

यह होती है कि उसमें घटनाओं और तथ्यों का सौन्दर्य देखते ही बनता है। व्यक्ति के लिए रिपोर्ताज में कोई स्थान नहीं होता। रिपोर्ताज के लेखक को अद्भुत पर्यवेक्षण क्षमता प्राप्त होती है जिससे कि वह घटनाओं और तथ्यों को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत कर सके। उसमे पूरे दृश्य अथवा पूरे वातावरण को अच्छी तरह समझ लेने की क्षमता होती है। रिपोर्ताज को साहित्यिक रूप देने के लिए उसकी भाषा-शैली भी विषयानुसार सरस, सजीव और प्रभावशाली होनी चाहिए। रिपोर्ताज के सम्बन्ध मे एक विद्वान के शब्द दृष्टव्य है—"अतः वह एक साहित्यिक विधा है, उसमें साहित्यिकता, भावुकता, संवेदना का पुट होता है। उसमे वस्तुगत तथ्य को कलात्मकता और प्रभावोत्पादक शैली मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि पाठक को तथ्य का भी परिचय हो जाता है और उसे साहित्यिक आनन्द भी प्राप्त हो जाता है।"